स्वाधीनता ।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका पहला ग्रन्थ ।

स्वाधीनता ।

प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता जान स्टुअर्ट मिलके अँगरेजी ग्रन्थका अनुवाद ।

अनुवादक—

सरस्वती-सम्पादक

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।

माघ, १९७७ वि० ।

जनवरी, १९२१ ।

द्वितीयावृत्ति ।]

[मूल्य दो रुपया ।

जिल्द सहितका २॥) रु० ।

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग–बम्बई ।

मुद्रक,
एम्. एन्. कुलकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
४३४ ठाकुरद्वार, बम्बई ।

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी.

समर्पण ।

मातृभाषाके परमप्रेमी, श्रीनगर, पुर्नियाके अधिपति, साहित्यसरोज, कविकुलचन्द्र, कुमार श्रीकमलानन्दसिंह बहादुरके करकमलोंमें प्रसिद्ध ग्रन्थकार जॉन स्टुअर्ट मिलकी ' लिबर्टी ' नामक पुस्तकका यह हिन्दी अनुवाद सादर समर्पित हुआ ।

अनुवादक ।

अभिनव वक्तव्य।

नागपुर की हिन्दी-ग्रन्थ-प्रकाशक मण्डलीने इस पुस्तक का पहला संस्करण १९०७ ईसवी में निकाला। वह संस्था इसका दूसरा संस्करण भी शीघ्र ही निकालने जाती थी कि दैवयोग से वह असमय में ही अस्तङ्गत हो गई। इससे, तथा और भी कुछ कारणोंसे, इसकी दूसरी आवृत्ति निकालने का काम कुछ समय तक स्थगित रहा। बम्बई के हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्य्यालय को जब हमने इसके प्रकाशन की अनुमति दी, तब इसका अगला संस्करण कहीं १९१२ ईसवी में जाकर प्रकाशित हुआ। उसकी समस्त प्रतियाँ समाप्त हुए बहुत समय हो गया। इससे सूचित है कि इस पुस्तककी कदर लोगों ने की है; उन्हें इसका विषय, और इसके विचार उपयोगी ज्ञात हुए हैं। समय ने भी पलटा खाया है। देशमें सर्वत्र जागृतिने अपने पैर जमाये हैं। दूसरों को हानि पहुँचाए बिना अपने मनमाने काम करने और जी की बात खोलकर कह देने का महत्त्व अब प्रायः सभी शिक्षित जनों की समझ में आगया है। राजनीति की जिन जटिल समस्याओं की समालोचना इस पुस्तक में प्रसङ्गवश आ गई है उनकी भी चर्चा इस समय इस देश में खूब हो रही है। अतएव ऐसे समय में इस पुस्तक का यह तीसरा संस्करण अच्छे अवसर पर निकाला जा रहा है। आशा है, हिन्दी पुस्तकों के प्रेमी पाठक इसका भी पूर्ववत् आदर करने की कृपा करेंगे।

हिन्दी के सौभाग्य से मिलसाहबकी अन्य भी दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो गया है। उन के नाम हैं—(१) स्त्रियों की पराधीनता (subjection of Women) और (२) प्रतिनिधिसत्ताक शासनप्रणाली (Representative Government)

दौलतपुर, रायबरेली
१० जनवरी १९२१.

महावीरप्रसाद द्विवेदी।

मिलका जीवन-चरित ।

‘ स्वाधीनता ’ इस सीरीजका पहला और मिलका जीवन-चरित दूसरा ग्रन्थ है । एक तो ये दोनों दो भिन्न लेखकोंके लिखे हुए ग्रन्थ हैं और दूसरे सीरीजके सब ग्रन्थ जुदा जुदा ही प्रकाशित हुए हैं । अत एव अबकी बार जीवन-चरित इसके साथ न रखकर जुदा छपाया गया है । यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मिलका जीवन-चरित बहुत ही सच्चा और शिक्षाप्रद है । अतः जिन सज्जनोंको चाहिए वे उसे अलग मँगा सकते हैं । मूल्य ॥=)

—प्रकाशक ।

भूमिका।

इंग्लेंड में जान स्टुअर्ट मिल नामका एक तत्त्ववेत्ता हो गया है। उसे मरे अभी सिर्फ ३१ वर्ष हुए। उसने कई अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से एक का नाम 'लिबर्टी' (Liberty) है। यह पुस्तक उसी 'लिबर्टी' का अनुवाद है।

मिलका जन्म २० मई सन् १८०६ को लन्दन में हुआ। उसका पिता, जेम्स मिल, भी अपने समय में एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता था। जिस समय जान स्टुअर्ट मिल की उम्र कोई १३ वर्ष की थी उस समय उसके बाप को ईस्ट इंडिया कम्पनी के दफ्तर में एक जगह मिली। वहाँ उसे इस देश की अनेक बातें मालूम हुईं और सैकड़ों तरह के कागज-पत्र और ग्रन्थ देखने को मिले। उनके आधार पर उसने भारतवर्ष का एक बहुत अच्छा इतिहास लिखा। यह इतिहास देखने लायक है।

मिलके पिता ने मिल को किसी स्कूल या कालेज में पढ़ने नहीं भेजा। उसने खुद उसे पढ़ाना शुरू किया। जब तक उसने पढ़ाने की जरूरत समझी तब तक वह उसे बराबर पढ़ाता रहा। तीनवर्ष की उम्र में मिल ने ग्रीक भाषा की वर्णमाला सीखी। आठ वर्ष की उम्र में उसने इस भाषा में थोड़ा सा अभ्यास भी कर लिया; बहुत से गद्य-ग्रन्थ उसने पढ़ डाले। आठवें वर्ष मिल ने लैटिन सीखना शुरू किया। कुछ दिन बाद अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित भी वह सीखने लगा। बारह वर्ष की उम्र में मिलको ग्रीक और लैटिन का अच्छा ज्ञान हो गया। वह प्लेटो और अरिस्टाटल के गहन ग्रन्थ अच्छी तरह

समझने लगा। दिल बहलाने के लिए वह इतिहास और काव्य भी पढ़ता था और कभी कभी कविता भी लिखता था। पोप का किया हुआ ' इलियड ' का भाषान्तर उसे बहुत पसन्द आया। उसे देख कर वह छोटी छोटी कवितायें लिखने लगा। इससे मिल को शब्दों का यथास्थान रखना आ गया। पद्य-रचना के विषय में मिल के पिताने पुत्र की प्रतिकूलता नहीं की। यह काम उसकी अनुमति से मिल ने किया।

मिल को अपनी हमजोली के लड़कों के साथ खेलना कूदना कभी नसीब नहीं हुआ। उसने अपना आत्मचरित अपने हाथसे लिखा है। उसमें एक जगह वह लिखता है कि उसने एक दिन भी ' क्रिकेट ' नहीं खेला। लड़कपन में यद्यपि वह बहुत मोटा, ताजा और सबल नहीं था; तथापि वह इतना दुबला और शक्तिहीन भी न था कि उसके लिखने पढ़ने में बाधा आती। जब वह तेरह वर्षका हुआ तब उसके बाप ने उसे विशेष गम्भीर विषयों की शिक्षा देना आरम्भ किया। ग्रीक, लैटिन और अँगरेजी भाषाओंमें तत्त्वविद्या और तर्कशास्त्र पर अनेक पुस्तकें उसने पढ़ डालीं। उसका बाप रोज बाहर घूमने जाया करता था। अपने साथ वह मिलको भी रखता था। राहमें वह उससे अनेक प्रश्न करता जाता था। जो कुछ वह पढ़ता था उसमें वह उस की रोज परीक्षा लेता था। जो चीज बाप पढ़ाता था उसका उपयोग भी वह पुत्रको बतला देता था। उसका यह मत था कि जिस चीज का उपयोग मालूम नहीं उसका पढ़ना ही व्यर्थ है। तर्कशास्त्र अर्थात् न्याय, और तत्त्वविद्या अर्थात् दर्शनशास्त्र, में मिल थोड़े ही दिनों में प्रवीण हो गया। किसी ग्रन्थकार के मत या प्रमाणको कुबूल करने के पहले उसकी जाँच करना मिल को बहुत अच्छी तरह आ गया। दूसरों की प्रमाणशृंखलामें वह बड़ी योग्यता से दोष ढूँढ़ निकालने लगा। यह बात सिर्फ अच्छे नैयायिक और दार्शनिक पण्डितों ही में पाई जाती है। क्योंकि प्रतिपक्षी की इमारत को अपनी प्रबल दलीलों से ढहाकर उसपर अपनी नई इमारत खड़ा करना सब का काम नहीं। खण्डन मण्डन की यह विलक्षण रीति मिलको लड़कपन ही में सिद्ध हो गई। इसका फल भी बहुत अच्छा हुआ। यदि थोड़ी उम्र में ही उसकी तर्कशक्ति इतनी प्रबल न हो जाती तो वह वयस्क होने पर इतने अच्छे ग्रन्थ न लिख सकता। मिल के घर उसके पिता से मिलने अनेक विद्वान् आया करते थे। उनमें परस्पर अनेक विषयों पर वाद-विवाद हुआ करता था। उनके कोटिक्रमको मिल ध्यानपूर्वक सुनता

था। इससे भी उसे बहुत फायदा हुआ; उसकी बुद्धि बहुत जल्द विकसित हो उठी और बड़े बड़े गहन विषयों को वह समझ लेने लगा। बाप की सिफारिश से मिलने प्लेटो के ग्रन्थ बहुत विचारपूर्वक पढ़े। इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र का भी उसने अध्ययन किया। चौदह पन्द्रह वर्ष की उम्र में उसका गृह-शिक्षण समाप्त हुआ। तब वह देश-पर्य्यटन के लिए निकला। फ्रांस की राजधानी पेरिस में वह कई महीने रहा। यात्रामें उसे बहुत कुछ तजरुबा हुआ। कुछ दिन बाद, घूम घामकर, वह लन्दन लौट आया। तबसे उसकी यथानियम शिक्षा की समाप्ति हुई। जितनी थोड़ी उम्र में मिल ने तर्क और अर्थशास्त्र आदि कठिन विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिया उतनी थोड़ी उम्र के और लोगोंके लिये इस बात का होना प्रायः असम्भव समझा जाता है।

सत्रह वर्ष की उम्र में मिल ने इंडिया हाउस नामक दफ्तर में प्रवेश किया। वहाँ उसकी उन्नति क्रम क्रम से होती गई। अन्त में वह एग्ज़ामिनर के दफ्तर का सब से बड़ा अधिकारी हो गया। पर १८५८ ईसवी में, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी टूटी तब, यह दफ्तर भी टूट गया। इसलिए मिल को नौकरी से अलग होना पड़ा। कोई २५ वर्ष तक उसने नौकरी की। नौकरी ही की हालत में उसने अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे। उस का मत था कि जो लोग केवल पुस्तक-रचना करने और समाचारपत्रों में छपने के लिये लेख भेजने पर ही अपनी जीविका चलाते हैं उनके लेख अच्छे नहीं होते; क्योंकि वे जल्दी में लिखे जाते हैं। पर जो लोग जीविका का कोई और द्वार निकाल कर पुस्तक-रचना करते हैं वे सावकाश और विचार-पूर्वक लिखते हैं। इससे उनकी विचारपरम्परा अधिक मनोग्राह्य होती है और उनके ग्रन्थों का अधिक आदर भी होता है।

१८६५ से १८६८ ईसवी तक मिल पारलियामेंट का मेम्बर रहा। यद्यपि वह अच्छा वक्ता न था तथापि जिस विषयपर वह बोलता था, सप्रमाण बोलता था। उसकी दलीलें बहुत मजबूत होती थीं। ग्लैडस्टन साहब ने उसकी बहुत प्रशंसा की है। एक ही बार मिल का प्रवेश पारलियामेण्ट में हुआ। कई कारणों से लोगोंने उसे दुबारा नहीं चुना। उन कारणों में सब से प्रबल कारण यह था कि पारलियामेण्ट में, हिन्दुस्तान के हितचिन्तक ब्राडला साहब के प्रवेशसम्बन्धी चुनावमें, मिलने उनकी मदद की थी। ऐसे घोर नास्तिक की मदद! यह बात लोगों को बरदाश्त न हुई। इसी से उन्हों ने दुबारा मिलको पारलियामेंट में न भेजा। यह सुनकर कर कई जगह से मिल को निमंत्रण आया कि तुम हमारी

तरफ से पारलियामेंट की उम्मेदवारी करो। परन्तु ऐसे झगड़े का काम मिल को पसन्द न आया। इससे उसने उम्मेदवार होने से इनकार कर दिया। तबसे उसने एकान्तवास करने और लिखने पढ़ने में अपनी बाकी उम्र बिताने का निश्चय किया। वह अविगनान नामक गाँव में जाकर रहने लगा। १८७३ में वहीं उसकी मृत्यु हुई। उसका घर पुस्तकों और अखबारों से भरा रहता था। साल में सिर्फ कुछ दिन के लिये वह अविगनान से लन्दन आता था।

जिस समय मिल की उम्र २५ वर्ष की थी उस समय टेलर नामक एक आदमी की स्त्री से उसकी जान पहचान हुई। धीरे धीरे दोनों में परस्पर स्नेह हो गया। उसकी क्रम क्रम से वृद्धि होती गई। इस कारण लोग मिल को भला बुरा भी कहने लगे। उसके पिता को भी यह बात पसन्द न आई। परन्तु प्रेम-प्रवाह में शिक्षा, दीक्षा और उपदेश कहीं ठहर सकते हैं? २० वर्ष तक यह स्नेह-सम्बन्ध अथवा मित्रभाव अखण्डित रहा। इतने में टेलर साहब की मृत्यु हो गई। यह अवसर अच्छा हाथ आया देख ये दोनों प्रेमी विवाह-बन्धन में बँध गये। परंतु सिर्फ सात वर्ष तक मिल साहब को इस स्त्री के साथ का सुख मिला। इसके बाद उसका शरीर छूट गया। इस वियोग का मिल को बेहद रंज हुआ। अविगनान ही में मिल ने उसे दफन किया और जो बातें उसे अधिक पसंद थीं उन्हीं को करने में उसने अपनी बची हुई उम्रका बहुतसा भाग बिताया। मिल के साथ विवाह होने के पहले ही इस स्त्रीके एक कन्या थी। माँ के मरने पर उसने मिल की बहुत सेवा-शुश्रूषा की। उसने मिल को गृह-सम्बन्धी कोई तकलीफ नहीं होने दी।

मिलने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। छोटी छोटी पुस्तकें उसने कई लिखी हैं। पर उसके विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं—

(१) अर्थशास्त्र के अनिश्चित प्रश्नों पर निबन्ध (Essays on unsettled questions in Political Economy)

(२) तर्कशास्त्र-पद्धति (System of Logic)

(३) अर्थशास्त्र (Political Economy

(४) स्वाधीनता (Liberty)

(५) पारलियामेंट के सुधार-सम्बन्धी विचार (Thoughts on Parliamentary Reform)

तत्त्ववेत्ता जॉन स्टुअर्ट मिल.

(६) प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्यव्यवस्था (Representative Government)

(७) स्त्रियों की पराधीनता (Subjection of Women)

(८) हैमिल्टन के तत्त्वशास्त्र की परीक्षा (Examination of Hamilton's Philosophy)

(९) उपयोगितातत्त्व (Utilitarionism)

'प्रकृति' 'Nature' और 'धर्म की उपयोगिता' (Utility of Religion) इन दो विषयों पर भी मिलने निबन्ध लिखे, पर वे उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए। मिल के पिता ने मिल को किसी विशेष प्रकार की धर्म्म-शिक्षा न दी थी, क्योंकि उसका विश्वास किसी धर्म्म पर न था। पर उसने सब धर्म्मों और धार्मिक सम्प्रदायों के तत्त्व मिल को अच्छी तरह समझा दिये थे। लड़कपन में इस तरह का संस्कार होने के कारण मिल के धार्मिक विचार अनोखे हो गये थे। उनको उसने 'धर्म्म की उपयोगिता' में बड़ी ही योग्यता से प्रकट किया है। उसकी स्त्री विदुषी थी। वह भी तत्त्वविद्या में खूब प्रवीण थी। पुस्तक-रचना में भी उसे अच्छा अभ्यास था। 'स्वाधीनता' और 'स्त्रियों की पराधीनता' को मिल ने उसी की सहायता से लिखा है। और भी कई पुस्तकें लिखने में उसने मिल की सहायता की थी। अपने आत्मचरित में मिल ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। 'स्वाधीनता' को उसने अपनी स्त्री ही को समर्पित किया है। उसका समर्पण विलक्षण है। उसमें उसने अपनी स्त्री की प्रशंसा की पराकाष्ठा कर दी है। मिल बड़ा उदार पुरुष था। सत्य को खोजने में वह सदैव तत्पर रहता था। जिस बात से अधिक आदमियों का हित हो उसी को वह सब से अधिक सुखदायक समझता था। इस सिद्धान्त को उसने अपने 'उपयोगितातत्त्व' में बहुत अच्छी तरह प्रमाणित किया है। नई और पुरानी चाल की जरा भी परवा न करके जिसे वह अधिक युक्तिपूर्ण समझता था उसीको मानता था। वह सुधारक था; परन्तु उच्छृंखल और अविवेकी न था। जो लोग बिना समझे-बूझे पुरानी बातों को वेदवाक्य मानते थे उनके अनुचित विश्वासों को उसने विचलित कर दिया; उनकी सद्-सद्विचार-शक्ति को उसने जागृत कर दिया; उनकी विवेचनारूपी तलवार पर जो मोरचा लग गया था उसे उसने जड़ से उड़ा दिया।

मिल के ग्रन्थों में स्वाधीनता, उपयोगितातत्त्व, तर्कशास्त्रपद्धति और स्त्रियों की पराधीनता—इन चार ग्रन्थों का बड़ा मान है। इन पुस्तकों में मिल ने जिन विचारों से-जिन दलीलों से-काम लिया है वे बहुत प्रबल और अखण्ड-नीय हैं। ये ग्रन्थ सब कहीं प्रीतिपूर्वक पढ़े जाते हैं। स्वाधीनता में मिल ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे बहुत ही दृढ़ प्रमाणों के आधार पर स्थित हैं। यह बात इस पुस्तक को पढ़ने से अच्छी तरह मालूम हो जायगी।

इस पुस्तक में पांच अध्याय हैं। उनकी विषय-योजना इस प्रकार है—

पहला अध्याय—प्रस्तावना।

दूसरा अध्याय—विचार और विवेचना की स्वाधीनता।

तीसरा अध्याय—व्यक्ति-विशेषता भी सुख का एक साधन है।

चौथा अध्याय—व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा।

पांचवां अध्याय—प्रयोग।

मिल साहब का मत है कि व्यक्ति के बिना समाज या गवर्नमेंट का काम नहीं चल सकता और समाज या गवर्नमेंट के बिना व्यक्ति का काम नहीं चल सकता। अतएव दोनों को परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा है। पर एक को दूसरे के काम में अनुचित हस्तक्षेप करना मुनासिब नहीं। जिस काम से किसी दूसरे का सम्बन्ध नहीं उसे करने के लिए हर आदमी स्वाधीन है। न उसमें समाज ही को कोई दस्तन्दाजी करना चाहिए और न गवर्नमेंट ही को। पर, हां, उस काम से किसी और आदमी का अहित न होना चाहिए। ग्रन्थकार ने स्वाधीनता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी ही योग्यता से किया है। उसकी विवेचना-शक्ति की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। उसने प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का बहुत ही मजबूत दलीलों से खण्डन किया है। उसकी तर्कनाप्र-णाली खूब सबल और प्रमाणपूर्ण है।

स्वाधीनता का दूसरा अध्याय सब अध्यायों से अधिक महत्त्व का है। इसीसे वह औरों से बड़ा भी है। इस अध्याय में जो बातें हैं उनको जानने की आजकल बड़ी ही जरूरत है। आदमी का सुख विशेष करके उसकी मानसिक स्थिति पर अवलम्बित रहता है। मानसिक स्थिति अच्छी न होने से सुख की आशा करना दुराशा मात्र है। विचार और विवेचना करना मन का धर्म है। अतएव उनके द्वारा मन को उन्नत करना चाहिए। मनुष्य के लिए सब से

अधिक अनर्थकारक बात विचार और विवेचना का प्रतिबन्ध है। जिसे जैसे विचार सूझ पड़ें उसे उन्हें साफ साफ कहने देना चाहिए। परन्तु वे विचार राज्य-क्रान्ति उत्पन्न करनेवाले न हों। इसीसे, जितने सभ्य देश हैं, उनकी गवर्नमेंटों ने सब लोगों को यथेच्छ विचार, विवेचना और आलोचना करने की अनुमति दे रक्खी है। इसीमें मनुष्य का कल्याण है। कल्पना कीजिए कि किसी विषय में कोई आदमी अपनी राय देना चाहता है और उसकी राय ठीक है। अब यदि उसे बोलने की अनुमति न दी जायगी तो सब लोग उस अच्छी बात को जानने से वञ्चित रहेंगे। यदि वह बात या राय सर्वथा सच नहीं है, केवल उसका कुछ ही अंश सच है, तो भी यदि वह प्रकट न की जायगी तो उस सत्यांश से भी लोग लाभ न उठा सकेंगे। अच्छा अब मान लीजिए कि कोई पुराना ही मत ठीक है, नया मत ठीक नहीं। इस हालत में भी यदि नया मत प्रकट न किया जायगा तो पुराने की खूबियां लोगों की समझ में अच्छी तरह न आवेंगी। दोनों के गुण-दोषों पर जब अच्छी तरह विचार होगा तभी यह बात ध्यान में आवेगी; अन्यथा नहीं। एक बात और भी है। वह यह कि प्रचलित, रूढ़ या परम्परा से प्राप्त हुई बातों या रस्मों के विषय में प्रतिपक्षियों के साथ वाद-विवाद न करने से उनकी सजीवता जाती रहती है। उनका प्रभाव धीरे धीरे मन्द पड़ जाता है। इसका फल यह होता है कि कुछ दिनों में लोग उनके मतलब को बिलकुल ही भूल जाते हैं और सिर्फ पुरानी लकीर को पीटा करते हैं।

मिल की मूल पुस्तक की भाषा बहुत क्लिष्ट है। कोई कोई वाक्य प्रायः एक एक पृष्ठ में समाप्त हुए हैं। विषय भी पुस्तक का क्लिष्ट है। इससे इस अनुवाद में हमें कठिनता का सामना करना पड़ा है। हमको डर है कि हमसे अनुवाद-सम्बन्धी अनेक भूलें हुई होंगी। अतएव हमको उचित था कि हम ऐसे कठिन काम में हाथ न डालते। पर जिन बातों का विचार इस पुस्तक में है उनको जानने की बड़ी आवश्यकता है। अतएव मिल साहब के विचारों का बोधक जब तक कोई सर्वथा निर्दोष अनुवाद न प्रकाशित हो तब तक इसका जितना भाग निर्दोष या पढ़ने के लायक हो उतनेही से पढ़नेवाले स्वाधीनता के सिद्धान्तों और लाभों से जानकारी प्राप्त करें।

यदि कोई यह कहे कि हिन्दी के साहित्य का मैदान बिलकुल ही सूना पड़ा है तो उसके कहने को अत्युक्ति न समझना चाहिए। दस पाँच किस्से, कहा-

नियां, उपन्यास या काव्य आदि पढ़ने लायक पुस्तकों का होना साहित्य नहीं कहलाता और न कूड़े कचरे से भरी हुई पुस्तकों का ही नाम साहित्य है। इस अभाव का कारण हिन्दी पढ़ने लिखने में लोगों की अरुचि है। हमने देखा है कि जो लोग अच्छी अंगरेजी जानते हैं, अच्छी तनख्वाह पाते हैं, और अच्छी जगहों पर काम करते हैं वे हिन्दी के मुख्य मुख्य ग्रन्थों और अखबारों का नाम तक नहीं जानते। आश्चर्य्य यह है कि अपनी इस अनभिज्ञता पर वे लज्जित भी नहीं होते। यदि ऐसे आदमियों में से दस पाँच भी अपने देश के साहित्य की तरफ ध्यान दें और उपयोगी विषयों पर पुस्तकें लिखें तो बहुत जल्द देशोन्नति का द्वार खुल जाय। क्योंकि शिक्षा के प्रचार के बिना उन्नति नहीं हो सकती। और देश में फी सदी पाँच आदमियों का शिक्षित होना न होने के बराबर है। शिक्षा से यथेष्ट लाभ तभी हो सकता है जब हर गाँव में उसका प्रचार हो। और, यह बात तभी सम्भव है जब अच्छे अच्छे विषयों की पुस्तकें देश-भाषामें प्रकाशित होकर सस्ते दामों पर बिकें। जापान की तरफ देखिए। उसने जो इतना जल्द इतनी आश्चर्य्यजनक उन्नति की है उसका कारण विशेष करके शिक्षा का प्रचार ही है। हमने एक जगह पढ़ा है कि जिस जापानी ने मिल साहब की स्वाधीनता (Liberty) का अनुवाद अपनी भाषा में किया वह सिर्फ इसी एक पुस्तक को लिखकर अमीर हो गया। थोड़े ही दिनों में उसकी लाखों कापियां बिक गईं। जापान के राजेश्वर खुद मिकाडो ने उसकी कई हजार कापियां अपनी तरफ से मोल लेकर अपनी प्रजा को मुफ्त में बांट दीं। परन्तु इस देश की दशा बिलकुल ही उलटी है। यहां मोल लेने का तो नाम ही न लीजिए, यदि इस तरह की पुस्तकें यहां के राजा, महाराजा और अमीर आदमियों के पास कोई यों ही भेज दे तो भी शायद वे उन्हें पढ़ने का श्रम न उठावें।

इस दशा में हमारी राय है कि इस समय हिन्दी में जितनी पुस्तकें लिखी जायँ खूब सरल भाषा में लिखी जायँ। यथासम्भव उनमें संस्कृत के कठिन शब्द न आने पावें। क्योंकि जब लोग सीधी सादी भाषा की पुस्तकों ही को नहीं पढ़ते तब वे क्लिष्ट भाषा की पुस्तकों को क्यों छूने लगे। अतएव जो शब्द बोल-चाल में आते हैं—फिर चाहे वे फारसी के हों चाहे अरबी के हों, चाहे अंगरेजी के हों—उनका प्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता। पुस्तक लिखने का मतलब सिर्फ यह है कि उसमें जो कुछ लिखा गया है उसे लोग

समझ सकें। यदि वह समझ में न आया, अथवा क्लिष्टता के कारण उसे किसीने न पढ़ा, तो लेखक की मेहनत ही बरबाद जाती है। पहले लोगों में साहित्य-प्रेम पैदा करना चाहिए। भाषा-पद्धति पीछे से ठीक होती रहेगी।

इन्हीं कारणोंसे प्रेरित होकर हमने इस पुस्तक में हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत इत्यादि के शब्द—जहां पर हमें जैसी जरूरत जान पड़ी है—प्रयोग किये हैं। मतलब को ठीक ठीक समझाने के लिए कहीं कहींपर हम ने एक ही बात को दो दो तीन तीन तरह से लिखा है। कहीं कहीं पर एक ही अर्थ के बोधक अनेक शब्द हमने रक्खे हैं। कहीं मूल के भाव को हमने बढ़ा दिया है और कहीं पर कम कर दिया है। इस पुस्तक का विषय ऐसा कठिन है कि कहीं कहीं पर, इच्छा न रहते भी, विवश होकर, हमें संस्कृत के क्लिष्ट शब्द लिखने पड़े हैं। क्योंकि उनसे सरल शब्द और हमें मिले ही नहीं।

जून १९०४ में जब हम झांसी से कानपुर आये तब हमने कुछ उपयोगी पुस्तकें लिखने का विचार किया। हमारा इरादा पहले और ही एक पुस्तक लिखने का था। परन्तु बीच में एक ऐसी घटना हो गई जिससे हमें उस इरादे को बदल करके इस पुस्तक को लिखना पड़ा। ७ जनवरी को आरम्भ करके १३ जून को हमने इसे समाप्त किया। बीच में, कई बार, अनिवार्य कारणों से अनुवाद का काम हमें बन्द भी रखना पड़ा। किसी सार्वजनिक समाज की सार्वजनिक बातों की यदि समालोचना होती है तो वह समालोचना उसे अकसर अच्छी नहीं लगती। इससे उसे रोकने की वह चेष्टा करता है। जब उसे यह बात बतलाई जाती है कि सार्वजनिक कामों की आलोचना का प्रतिबन्ध करने से लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है तब वह अकसर यह कह बैठता है कि हम आलोचना को नहीं रोकते, किन्तु 'व्यर्थ निन्दा' को रोकना चाहते हैं। अतएव ऐसे व्यर्थ-निन्दा-प्रतिबन्धक लोगों के लाभ के लिए हमने पहले इसी पुस्तक को लिखना मुनासिब समझा। क्योंकि प्रतिबन्धहीन विचार और विवेचना की जितनी महिमा इस पुस्तक में गाई गई है उतनी शायद ही और कहीं हो।

जिस आदमी को सर्वज्ञ होने का दावा नहीं है उसे अपने कामकाज की विवेचना या समालोचना को रोकने की भूल से भी चेष्टा न करना चाहिए। इस तरह की चेष्टा करना सार्वजनिक समाज के लिए तो और भी अधिक

हानिकारक है। भूलना मनुष्य की प्रकृति है। बड़े बड़े महात्माओं और विद्वानों से भूलें होती हैं। इससे यदि समालोचना बन्द कर दी जायगी—यदि विचार और विवेचना की स्वाधीनता छीन ली जायगी—तो सत्य का पता लगाना असम्भव हो जायगा। तो लोगों की भूलें उनके ध्यान में आवेंगी किस तरह ? हां, यदि वे सर्वज्ञ हों तो बात दूसरी है।

व्यर्थ-निन्दा कहते किसे हैं ? व्यर्थ-निन्दा से मतलब शायद झूठी निन्दा से है। जिसमें जो दोष नहीं है उसमें उस दोष के आरोपण का नाम व्यर्थ-निन्दा हो सकता है। परन्तु इसका जज कौन है कि निन्दा व्यर्थ है या अव्यर्थ ? जिसकी निन्दा की जाय वह ? यदि यही न्याय है तो जितने मुलजिम हैं उन सब की जबान ही को सेशन कोर्ट समझना चाहिए। इतना ही क्यों, इस दशा में यह भी मान लेना चाहिए कि हाईकोर्ट और प्रिवीकौंसिल के जजों का काम भी मुलजिमों की जबान ही के सिपुर्द है। कौन ऐसा मुलजिम होगा जो अपने ही मुँह से अपने को दोषी कुबूल करेगा ? कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी निन्दा को सुनकर खुशी से इस बात को मान लेगा कि मेरी उचित निन्दा हुई है ? जो इतने साधु, इतने सत्यशील, इतने सच्चरित्र हैं कि अपनी यथार्थ निन्दा को निन्दा और दोषको दोष कबूल करते नहीं हिचकते उनकी कभी निन्दा ही नहीं होती—उनपर कभी किसी तरह का इलजाम ही नहीं लगाया जाता। अतएव जो यह कहते हैं कि हम अपनी व्यर्थ-निन्दा मात्र रोकना चाहते हैं वे मानों इस बात की घोषणा करते हैं कि हमारी बुद्धि ठिकाने नहीं; हम व्यर्थ प्रलाप कर रहे हैं; हम अपनी अज्ञानता को सब के सामने रख रहे हैं। जो समझदार हैं वे अपनी निन्दा को प्रकाशित होने देते हैं। और, जब निन्दा प्रकाशित हो जाती है तब, उपेक्ष्य होने पर, या तो उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, या वे इस बात को सप्रमाण सिद्ध करते हैं कि उनकी जो निन्दा हुई है वह व्यर्थ है। अपने पक्ष का जब वे समर्थन कर चुकते हैं तब सर्व-साधारण जज का काम करते हैं। दोनों पक्षों की दलीलों को सुनकर वे इस बात का फैसला करते हैं कि निन्दा व्यर्थ हुई है या अव्यर्थ।

हम कहते हैं कि जब तक कोई बात प्रकाशित न होगी तब तक उसकी व्यर्थता या अव्यर्थता साबित किस तरह होगी। क्या निंद्य व्यक्ति को उसकी निन्दा सुना देने ही से काम निकल सकता है ? हरगिज नहीं। क्योंकि सम्भव है वह निन्दा को अपनी स्तुति समझे। और यदि निन्दा को वह निन्दा मान भी ले

तो उसे दण्ड कौन देगा ? जिन लोगों के कामकाज का सर्वसाधारण से सम्बन्ध है उनकी निन्दा सुनकर सब लोग जब तक उनका धिक्कार नहीं करते तब तक उनको धिक्काररूप उचित दण्ड नहीं मिलता। जो लोग इन दलीलों को नहीं मानते वे शायद अखबारवालों से किसी दिन यह कहने लगें कि तुमको जिसकी निन्दा करना हो, या जिसपर दोष लगाना हो, उसे अखबार में न प्रकाशित करके चुपचाप उसे लिख भेजो! परन्तु जिनकी बुद्धि ठिकाने है–जो पागल नही हैं–वे कभी ऐसा न कहेंगे।

कल्पना कीजिए कि किसीकी राय या समालोचना को बहुत आदमियों ने मिलकर झूठ ठहराया। उन्होंने निश्चय किया कि अमुक आदमी ने अमुक सभा, समाज, संस्था या व्यक्ति की व्यर्थ निन्दा की। तो क्या इतने से भी उनका निश्चय निर्भ्रान्त सिद्ध होगया ? साक्रेटिसपर व्यर्थ-निन्दा करने का दोष लगाया गया। इसलिए उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा। परन्तु इस समय सारी दुनिया इस अविचार के लिए अफसोस कर रही है और साक्रेटिस के सिद्धान्त की शतमुख से प्रशंसा हो रही है। क्राइस्ट के उपदेशों को निन्द्या समझकर यहूदियों ने उसे सूली पर चढ़ा दिया। फिर क्यों आधी दुनिया इस निन्दक के चलाये हुए धर्म्म को मानती है ? बौद्धों ने शङ्कराचार्य को क्य अपने मत का व्यर्थनिन्दक नहीं समझा था ? फिर बतलाइए यह सारा हिन्दुस्तान क्यों उनको शङ्कर का अवतार मानता है ? जब सैकड़ों वर्ष वाद-विवाद होने पर भी निन्दा की यथार्थता नहीं साबित की जा सकती तब किसी बात को पहले ही से कह देना कि यह हमारी व्यर्थ निन्दा है, अतएव इसे मत प्रकाशित करो, कितनी बड़ी धृष्टता का काम है ? निन्दाप्रतिबन्धक मत के अनुयायी ही इस धृष्टताका–इस अविचार का–परिमाण निश्चित करने की कृपा करें। जिन लोगों का यह खयाल है कि 'व्यर्थ-निन्दा' के प्रचार को रोकना अनुचित नहीं है वे सदय-हृदय होकर यदि मिल साहब की दलीलों को सुनेंगे, और अपनी सर्वज्ञता को जरा देर के लिये अलग रख देंगे, तो उनको यह बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी कि वे कितनी समझ रखते हैं। निन्दा-प्रतिबन्धक मत के जो पक्षपाती मिल साहब की मूल पुस्तक को अँगरेजी में पढ़ने के बाद 'व्यर्थ निंदा' रोकने की चेष्टा करते हैं उनके अज्ञान, हठ और दुराग्रह की सीमा और भी अधिक है। परन्तु यदि उन्होंने मूल पुस्तक को नहीं पढ़ा तो अब वे कृपापूर्वक इस अनुवाद को पढ़ें। इससे उनकी समझ

में यह बात आजायगी कि अपनी निन्दाके प्रकाशन को—चाहे वह निन्दा व्यर्थ हो चाहे अव्यर्थ—रोकने की चेष्टा करना मानों इस बात का सबूत देना है कि वह निन्दा झूठ नहीं, बिलकुल सच है । व्यर्थ निन्दा के असर को दूर करने का एक मात्र उपाय यह है कि जब निन्दा प्रकाशित हो ले तब उसका सप्रमाण खण्डन किया जाय, और दोनों पक्षों के वक्तव्य का फैसला सर्वसाधारण की रायपर छोड़ दिया जाय । ऐसे विषयों में जन-समुदाय ही जजका काम कर सकता है । उसीकी राय मान्य हो सकती है । जो इस उपाय का अवलम्बन नहीं करते, जो ऐसी बातों को जन-समूह की राय पर नहीं छोड़ देते, जो अपने मुकद्दमेके आप ही जज बनना चाहते हैं उनके तुच्छ, हेय और उपेक्ष्य प्रलापों पर समझदार आदमी कभी ध्यान नहीं देते । ऐसे आदमी तब होशमें आते हैं जब अपने अहंमानी स्वभाव के कारण अपना सर्वनाश कर लेते हैं । ईश्वर इस तरह के आदमियोंसे समाज की रक्षा करे ।

जुही, कानपुर,
१७ जून १९०५ } महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

स्वाधीनता ।

पहला अध्याय ।

प्रस्तावना ।

इस पुस्तक का विषय इच्छा की स्वाधीनता से सम्बन्ध नहीं रखता। इसमें इच्छा की स्वाधीनता का वर्णन नहीं रहेगा। इसमें उस स्वाधीनता अर्थात् आजादी, का वर्णन रहेगा जिसका सम्बन्ध समाज से है। बहुत से आदमियों के जमाव को जन-समूह, लोक-समुदाय या समाज कहते हैं; और एक आदमी को व्यक्ति या व्यक्ति-विशेष। आदमियों का जमाव, समुदाय या समाज एक दूसरे के फायदे के लिये इकट्ठा रहता है। जन-समूह बहुत से ऐसे नियम और बन्धन बनाता है जिन्हें हर आदमी को मानना पड़ता है। इस से, मैं, इस लेख में, इस बात का विचार करना चाहता हूँ, कि व्यक्ति-विशेष, अर्थात् अलग अलग हर आदमी के लिए समाज के द्वारा कब, कहां तक और किस प्रकार का बन्धन बनाया जाना उचित होगा। किस दशा में—किस हालत में समाज के बनाये हुए नियम, अर्थात् कायदे, हर आदमी को मानना मुनासिब समझा जायगा। इस बात का दूर तक विचार या विवेचन, आज तक, उचित रीति पर बहुत कम किया गया है। और, इस समय, आदमियोंके व्यवहार, अर्थात् काम-काज, से सम्बन्ध रख-

नेवाली बातों की जो चर्चा हो रही है उससे इस विषय का बहुत ही घना सम्बन्ध है। मेरा अनुमान तो यह है कि कुछ दिनों में यही, अर्थात् सामाजिक स्वाधीनता का, विषय सब से बढ़कर समझा जायगा। इसीसे, खूब सोच समझ कर, इस पर कुछ लिखने की बड़ी जरूरत है।

यह कोई नया विषय नहीं है—यह कोई नई बात नहीं है। सच तो यह है कि बहुत पुराने जमाने से, इस विषय में लोगों का मतभेद चला आता है। एक दूसरे की राय आपस में नहीं मिलती आई है। परन्तु, संसार में, इस समय, जो लोग सब से अधिक सभ्य समझे जाते हैं; अर्थात् जिनमें शिक्षा, शिष्टता, सुधार या शाइस्तगी बहुत ऊंचे दरजे तक पहुँच गई है; उन में इस विषय ने एक नया ही रूप धारण किया है—एक नया ही रंग पकड़ा है। इसी से इस विषय को एक नये ढँग से बयान करने की जरूरत है। इसी लिए इसकी गभीर गवेषणा, अर्थात् गहरी जाँच, की आवश्यकता है।

जहां तक हम लोग जानते हैं, संसार के सब से पुराने इतिहास में, इस विषय को लेकर, खूब झगड़े हुए हैं। अधिकार, अर्थात् समाज की सत्ता, और स्वाधीनता में खूब खैंचातान हुई है। ग्रीस, रोम और इँगलैंड के इतिहास में, यह बात, बहुत अच्छी तरह से देख पड़ती है। राजा और प्रजा में मेल नहीं रहा। राजा ने प्रजा की स्पर्धा की है और प्रजा ने राजा की। उस समय लोग स्वाधीनता का अर्थ बहुत व्यापक नहीं समझते थे। राजा के अन्याय से बचने ही को वे स्वाधीनता कहते थे। ग्रीस में, उस समय, कुछ ऐसे राज्य थे जिनमें प्रजा की ही प्रभुता थी। अर्थात् वे प्रजा-सत्तात्मक थे—प्रजा के ही प्रतिनिधि राज्य का सारा काम करते थे। ऐसे राज्यों को छोड़ कर और राज्यों के राजों को लोग प्रजा के पूरे विरोधी समझते थे। उस समय राज–सत्ता एक आदमी, एक जाति, या एक समुदाय के हाथ में थी। यह राज–सत्ता कभी किसी देश को जीतने पर मिलती थी और कभी वंश–परम्परा से प्राप्त होती थी। कुछ भी हो, यह बात जरूर थी कि देशवालों की इच्छा, या खुशी से यह सत्ता राजों को नहीं मिलती थी। पर, इस सत्ता या अधिकार को न मानने, या उसे छीन लेने, का साहस लोगों में न था। यह भी कह सकते हैं कि ऐसा करने के लिए उनमें शायद इच्छा ही न उत्पन्न होती थी। तथापि, इस बात का प्रयत्न वे अवश्य करते थे कि राजसत्ता से उनको, जहां तक हो सके, कम तकलीफ मिले। राजसत्ता का

होना यद्यपि वे जरूरी समझते थे; तथापि वे यह भी समझते थे कि वह सत्ता अनर्थ भी कर सकती है। उनको यह डर रहता था कि राजा अपनी राज-सत्ता को जिस प्रकार बाहरी शत्रुओं के विरुद्ध काम में लाता है, उसी प्रकार, वह अपनी प्रजा के भी विरुद्ध काम में ला सकता है। सत्ताधारी बड़े बड़े बलवान् शिकारी पक्षियों के आघात से समाज के कमजोर आदमियों को, बचाने और उनके बल को न बढ़ने देने के लिए, उन लोगों को, उन पक्षियों से भी अधिक बलवान् एक जीवकी जरूरत पड़ती थी। पर, उन शिकारी पक्षियों का नायक पक्षिराज, जिस तरह, इक्के दुक्के कमजोर शिकार पर टूट पड़ने के लिए तैयार रहता था, उसी तरह, मौका मिलने पर, सारे समुदाय पर भी झपट मारने के लिए वह कमी न करता था। इसी लिए उसके नुकीले नाखून और तेज चोंच से अपना बचाव करने के लिए प्रजा हमेशा सचेत रहती थी। और, जो लोग प्रजाके हितचिंतक थे—जो स्वदे-शाभिमानी थे—वे इस राजसत्ता को एक उचित सीमा के आगे न बढ़ने देने का हमेशा यत्न किया करते थे। उनको इसका ध्यान रहता था कि राजा अपनी सत्ताको प्रजा पर अनुचित रीतिपर काम में न लावे। उन्होंने इस सत्ता की सीमा को नियत करने ही का नाम स्वाधीनता रक्खा था।

इस सीमा को उन्होंने दो प्रकार से नियत किया था। अर्थात् उन्होंने राज–सत्ता के अनुचित बढ़ाव को दो तरह से रोका था। उनमें से पहली तरकीब यह थी कि उन्होंने राजा से कुछ ऐसे राजकीय हक प्राप्त कर लिये थे कि यदि राजा ने उनके अनुसार काम न किया; अर्थात् प्रजा को दिये गये वचन को उसने भंग कर दिया; या उसने उसके कुछ खिलाफ कारखाई की; तो प्रजा यह समझती थी कि राजा ने अपना फर्ज नहीं अदा किया–उसने अपना धर्म नहीं पालन किया। इस लिए वह बिगड़ उठती थी और बलपूर्वक अपना हक रक्षित रखने की कोशिश करती थी। इस तरह बिगड़ खड़ा होना और बल को काम में लाना मुनासिब समझा जाता था। दूसरी तरकीब यह थी कि कानून के द्वारा प्रजा ने राजा की सत्ता के अनुचित प्रयोग को रोक दिया था। उसने कुछ ऐसे नियम, अर्थात् कायदे, बना दिये थे कि प्रजा, या प्रजाके अगुवा, या प्रजा की नियत की हुई किसी प्रति-निधि सभा, की अनुमतिके बिना कोई भी महत्त्वका काम राजा न कर सकता था। यह पिछली तरकीब, कई देशों में, पीछे से प्रचार में आई।

योरप के राजों को, इन दो बातों में से पहली बात, लाचार हो कर, थोड़ी बहुत माननी पड़ी । परन्तु दूसरी बात को उन्होंने नहीं माना । इस लिए राजों की शक्ति या सत्ता की अनुचित वृद्धि को रोकने के इरादे से बनाये गये दूसरी तरह के कायदों को प्रचलित कराने, या, यदि वे कुछ ही कुछ प्रचलित हुए हों तो उनका पूरा पूरा प्रचार कराने के लिए कोशिश करना, सब कहीं, स्वाधीनताप्रिय और स्वदेशाभिमानी लोगों का सब से बढ़कर काम हो गया । एक शत्रु को दूसरे से लड़ा देने, और राजा के अन्याय से बचने की तरकीब निकाल कर उसके अधीन रहने ही में जब तक मनुष्य-जाति सन्तुष्ट थी तब तक, उसके हृदय में इससे अधिक स्वाधीनता पाने की महत्त्वाकांक्षा नहीं उत्पन्न हुई ।

परन्तु, दुनिया के कामों में, आदमियों की तरक्की होते होते एक ऐसा समय आया कि उनके वे पहले विचार बिलकुल ही बदल गये । अब तक उनकी जो यह समझ थी कि, प्रजा के फायदे की परवा न करनेवाली स्वतंत्र राज-सत्ता का होना किसी तरह नहीं रोका जा सकता, उसे उन्होंने दूर कर दिया । अब उनको यह बात अधिक अच्छी और अधिक लाभदायक जान पड़ने लगी कि देश में जितने सत्ताधीश और अधिकारी हों उनको प्रजा ही नियत करे; और उन्हें जब वह चाहे अलग कर दे । उनकी यह पक्की समझ हो गई कि राज-सत्ता के बुरी तरह से काम में लाये जाने से उनको जो तकलीफें झेलनी पड़ती हैं उनसे पूरे तौर पर बचने के लिए यही एक उपाय है । जब प्रजा के मन में इस तरह का विश्वास दृढ़ हो गया तब प्रजा के जितने हितचिन्तक थे, और स्वदेशाभिमानियों के जितने समाज थे, सब यही कहने लगे कि सारे सत्ताधिकारी प्रजा के ही द्वारा नियत किये जाँय । इस बात को उन्होंने अपना सब से बड़ा कर्तव्य समझा । इस कारण, राज-सत्ता की अनुचित बाढ़ को रोकने के लिए लोगों की जो कोशिशें पहिले से जारी थीं वे ढीली पड़ गईं । जैसे जैसे लोगों का यह खयाल जोर पकड़ता गया कि, समय समय पर, प्रजा ही के द्वारा अधिकारियों के नियत किये जाने में फायदा है, तैसे तैसे किसी किसी की समझ में यह भी आने लगा कि राजा के अधिकार की हद को अधिक न बढ़ने देने के लिए आज तक जो विशेष ध्यान दिया गया वह भूल थी । हाँ, जो राजा लोग प्रजा के फायदे की बिलकुल ही परवा न करते थे और प्रजा के प्रतिकूल काम करना जिनका

स्वभाव ही सा पड़ गया था उनकी सत्ता को रोकना शायद उन लोगों ने बुरा न समझा हो। उन्होंने अब यह चाहा कि अधिकारियों को प्रजा ही नियत किया करे; और, वे अधिकारी, प्रजा की ही इच्छा और प्रजा के ही हानिलाभ का खयाल करके, सब काम करें। अधिकारियों की इच्छा और उनका लाभ प्रजा की ही इच्छा और प्रजा का ही लाभ हो। ऐसा होने से राज-सत्ता को रोकने की कोई जरूरत न होगी। क्योंकि, प्रजा को, तब, अपने ही ऊपर आप जुल्म करने का डर न रहेगा। जितने अधिकारी हों वे अपने देश, अर्थात् प्रजा, के सामने अपने को उत्तरदाता समझें; प्रजा के द्वारा, जब वह चाहे तब, वे निकाल दिये जा सकें; और प्रजा उनको इतना अधिकार दे सके जितने के दिये जाने की वह जरूरत समझे। अपनी रक्षा के लिए प्रजा ने इतना ही काफी समझा। अधिकारियों की सत्ता और शक्ति को लोगों ने प्रजा की ही सत्ता और शक्ति समझी। हाँ, सुभीते के लिये, कुछ आदमियों को सारी प्रजा की सत्ता देकर, उन्होंने ऐसे नियम बनाने चाहे जिसमें उस सत्ता से उनका काम अच्छी तरह निकल सके। ऐसे विचार, अथवा भाव, योरप में, गत पीढ़ी में, सभी के थे; और इँगलैंड के स्वाधीन-चित्तवालों को छोड़ कर औरों में अब भी यह बात अकसर पाई जाती है। पर राजकीय बातों में स्वार्थ लेनेवाले जो लोग योरप में यह समझते हैं कि राजसत्ता की हद होनी चाहिए, वे बहुत थोड़े हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो किसी किसी विशेष प्रकार की राज्य-पद्धति का होना बिलकुल ही पसन्द नहीं करते। पर, ये दोनों तरह के आदमी बहुत ही कम हैं। इस तरह की विचारपरम्परा यदि न बदलती, तो इँगलैंडवालों के भी विचार, शायद, इस समय तक, वैसे ही हो जाते।

परन्तु जो बात आदमियों के लिए कही जा सकती है वही राज्यशासन और दर्शन-शास्त्र के लिए भी कही जा सकती है। अर्थात् नाकामयाबी होने पर जो दोष कभी कभी नहीं दिखाई देते वे कामयाबी होने पर दिखाई देने लगते हैं। जब प्रजासत्तात्मक राज्य की कल्पना लोगों के मन में पहले पहल पैदा हुई; अथवा, जब लोगों ने किताबों में यह पढ़ा कि पहले, किसी समय, किसी किसी देश में प्रजासत्तात्मक राज्य था, तब, उनको यह बात स्वयंसिद्ध सिद्धान्त के समान मालूम हुई, कि प्रजासत्तात्मक राज्य में अपनी ही सत्ता या शक्ति को रोकने की कोई जरूरत नहीं रहती। हां, फ्रांस में, जिस समय

राजा और प्रजा में विद्रोह पैदा हुआ, उस समय, इस सिद्धान्त को कुछ धक्का जरूर पहुंचा। परन्तु उस समय राज्यसत्ता प्रजा के हाथ में आने पर भी, केवल प्रजा के फायदे के लिए, वह काम में नहीं लाई गई। उस समय जो बहुत से अनर्थ हुए उनका कारण वही दो चार आदमी थे जिन्होंने राज्यसत्ता को राजा से छीन लिया था। फ्रांस का विद्रोह राजा के, और कुछ बड़े बड़े आदमियों के भी, अन्यायका फल था। इस लिए यह समझना भूल है कि प्रजासत्तात्मक राज्य के होने से ऐसे अनर्थ हुआ ही करते हैं। कुछ दिनों में, दुनिया के एक बहुत बड़े भाग, अमेरिका, में प्रजासत्तात्मक राज्य की स्थापना हुई। यह राज्य, थोड़े ही दिनों में, दुनिया के और और बलवान् राज्यों की तरह, बली भी हो गया। अतएव, कोई बहुत बड़ी घटना होने से जिस तरह लोग उसके विषय में बात-चीत करने लगते हैं—उसकी आलोचना आरम्भ करते हैं—उसी तरह प्रजासत्तात्मक राज्य के विषय में भी लोगों ने बात-चीत आरम्भ कर दी। यह अब उनके ध्यान में आया कि—"अपना राज्य," "अपना शासन" "और अपने ही ऊपर अपनी सत्ता" इत्यादि महाविरे उन बातों को ठीक ठीक नहीं जाहिर करते जिनके जाहिर करने के लिए वे काम में लाये जाते हैं। यह भी उनके ध्यान में आया कि जो लोग सत्ता, अर्थात् हुकूमत, चलाते हैं वे, और जिन पर उनकी सत्ता चलती है वे, दोनों, एक ही नहीं होते। अर्थात् "प्रजा" शब्द से उन दोनों का बोध नहीं होता। और, यह भी उनके ध्यान में आया कि "आत्म-शासन" अर्थात् "अपने ऊपर अपनी सत्ता" अपने ही ऊपर शासन करने या सत्ता चलाने का नाम नहीं है; किन्तु वह औरों के द्वारा अपने ऊपर शासन किये जाने, या सत्ता चलाने, का नाम है। वे यह भी समझ गये कि व्यवहार में, "प्रजा की इच्छा" का मतलब या तो बहुत आदमियों की इच्छा से है; या उन लोगों की इच्छा से है जो काम करने में अगुवा हैं, या जिनकी संख्या बहुत है, या जिन्होंने और लोगों से अपनी संख्या का बहुत होना कुबूल करवा लिया है। इस दशा में, यह सम्भव है, कि प्रजा कहलाने वाले लोग अपने ही में से कुछ आदमियों पर जुल्म करने लगें, अन्याय करने लगें, सख्ती करने लगें। अतएव, जैसे और किसी अनुचित सत्ता या शक्ति को रोकने की जरूरत है वैसे ही प्रजा की भी अनुचित सत्ता को रोकने की जरूरत है। सत्ताधारी लोग, अर्थात् हाकिम, प्रजा के

उस पक्ष के सामने यथा-नियम उत्तरदाता होते हैं जो सब से अधिक बलवान् होता है। इस लिए, इतने ही से, सत्ताधारियों की शक्ति को एक उचित हद के भीतर रखने का माहात्म्य कम नहीं हो जाता। वह वैसा ही बना रहता है; उसकी जरूरत नहीं जाती रहती। यह बात समझदार आदमियों की समझ में आ गई; यह मत उनको पसन्द आ गया। यही नहीं; किन्तु, बड़े बड़े लोगोंने, जो प्रजा की सत्ता को अपने सच्चे या काल्पनिक हित के प्रतिकूल समझते थे, इस मत को, योरप में, स्थापित भी कर दिया। इस समय तो राज्यशासन-सम्बन्धी शास्त्र के पण्डितों का सिद्धान्त ही यह हो गया कि अधिक मनुष्योंके समूह के अन्याय से बचने के लिए लोगों को उसी तरह सावधान रहना चाहिए जिस तरह और आपदाओं से बचने के लिए उनको रहना पड़ता है।

दूसरे जुल्मों की तरह, अधिक मनुष्योंके समूह के जुल्म से पहले सभी लोग डरते थे। वे समझते थे कि यह जुल्म, बहुत करके, सत्ताधारी अधिकारियों के द्वारा होता था। इस समय तक भी साधारण आदमियों की समझ ऐसी ही है। परन्तु समझदार आदमियों के ध्यान में यह बात आ गई कि जब जन-समुदाय खुद ही जुल्म करता है—अर्थात् बहुत से आदमियों का समूह, जिन आदमियों से वह बना है उन्हींमें से किसी किसी पर जुल्म करता है—तब जुल्म करने के साधन या सामान सिर्फ उसके सत्ताधारी अधिकारियों के ही हाथ में नहीं रहते; किन्तु, स्वयं उस समूह के भी हाथ में रहते हैं। जन-समूह हुक्म दे सकता है, अर्थात् कायदे कानून बना सकता है, और उनके अनुसार वह काररवाई भी कर सकता है। अतएव यदि अच्छे की जगह वह बुर कायदे कानून बनाने लगा; या ऐसी बातों के सम्बन्ध में उसने कानून बनाना आरम्भ किया जिनमें उसे दखल न देना चाहिए, तो उससे समाज पर जो जुल्म होता है वह सत्ताधारी हाकिमों के द्वारा किये गये कितने ही जुल्मों से अधिक भयंकर होता है। यह सच है कि प्रबल जनसमूह अर्थात् समाज, जो सजा देता है वह सजा इतनी कड़ी नहीं होती जितनी कि सरकारी हाकिमों की दी हुई सजा होती है; परन्तु समाज की दी हुई सजा, अर्थात् जुल्म, का प्रभाव दूर तक पहुँचता है; जिन्दगी की छोटी छोटी बातों तक में उसका प्रवेश होता है; और उस से छुटकारा पाने का मौका बहुत कम मिलता है। सरकारी जुल्म से सिर्फ शरीर ही को तक-

तीफ पहुंचती है; पर सामाजिक जुल्म से मन तक—आत्मा तक—गुलाम हो जाता है; उसे कैद हो जाना पड़ता है; वह अपने वश में नहीं रहने पाता। इस लिए, सिर्फ मैजिस्ट्रेटों के, अधिकारियों के, या सत्ताधारी हाकिमों के जुल्म से बचने का प्रबन्ध करने ही से काम नहीं चल सकता। समाज के मन और प्रबल मनोविकारों को जुल्म से बचाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात्, सत्ताधारी समाज के खयाल और चाल ढाल के अनुसार जो लोग, बर्ताव नहीं करते उनसे, दीवानी या फौजदारी कानून के ही बल से नहीं, किन्तु, और उपायों से भी अपनी समझ और अपनी रीति-रवाज के अनुसार, बलपूर्वक, बर्ताव कराने की इच्छा से भी बचाव करना चाहिए। और, समाज के रीति-रवाज अर्थात् रूढ़ि के अनुसार जो लोग नहीं चलते उनकी बढ़ती को रोकने, या यथा-सम्भव उनके उठान ही को बन्द करने, और अपना सा बर्ताव करने के लिए औरों को मजबूर करने की सामाजिक प्रवृत्ति के प्रयोग से बचने का भी यत्न करना चाहिए। इसकी भी हद है कि समाज को आदमी की—व्यक्तिविशेष की—स्वाधीनता में कहां तक हस्तक्षेप करना चाहिए—कहां तक दस्तन्दाजी करना चाहिये। और, मनुष्यमात्र को अच्छी तरह रहने के लिए, अधिकारियों के जुल्म से बचाव करने की जितनी जरूरत है उतनी ही, उस हद को ढूंढ़ निकालने और समाज को उसके आगे बढ़ने से रोकने के लिए उपाय करने की भी जरूरत है।

यह एक ऐसा सिद्धान्त है—यह एक ऐसी बात है—कि मामूली तौर पर शायद इसे सभी पसन्द करेंगे। परन्तु सारा दार मदार इस बात पर ठहरा हुआ है कि उस हद को नियत कहां पर करना चाहिए? मनुष्यों की स्वाधीनता और समाज के बन्धन की हदबन्दी किस तरह करना चाहिए? दूसरों की कारखाइयों को एक मुनासिब हद के भीतर रखने, अर्थात् उचित रीति पर उनका प्रतिबन्ध करने, पर ही हर आदमी का संसार सुख अवलम्बित है। अतएव, आदमियों के चाल-चलन सम्बन्धी कुछ कायदों का, कानून के द्वारा, बनाया जाना उचित है। पर बहुतसी बातें ऐसी हैं जिनके लिए सरकारी कानून का बन्धन मुनासिब नहीं है। इससे, उनके विषय में, लोगों की सम्मति के अनुसार, नियम बनाये जाने चाहिए। आदमियों के काम-काज से सम्बन्ध रखनेवाला मुख्य प्रश्न अब यह है कि ये नियम कौन और कैसे होने चाहिए। परन्तु दो चार बहुत ही मोटे नियमों को छोड़ कर और

नियमों को बनाने के काम में हम लोग बहुत पीछे हैं। एक पीढ़ी ने जो नियम बनाये हैं वे दूसरी पीढ़ी के बनाये हुए नियमों से नहीं मिलते। और एक देश के बनाये हुए नियम दूसरे देश के नियमों से भी शायद ही कभी मिलते हैं। एक पीढ़ी या एक देश का किया हुआ फैसला दूसरी पीढ़ी या एक देश को अनोखा मालूम होता है—वह उसे हास्यास्पद जान पड़ता है। तिसपर भी एक युग या एक देश के आदमियों को इसमें कोई गूढ़ बात या कठिनाई नहीं मालूम देती, जैसे, इस विषय में, पुराने जमाने से लेकर आज तक, मनुष्य-मात्र का एक ही मत रहा हो। जो नियम, जो कायदे, जिस देश में जारी होते हैं वे उस देश में रहनेवालों को स्वयंसिद्ध और निर्भ्रान्त जान पड़ते हैं। सब कहीं फैला हुआ यह जो सर्वव्यापी भ्रम है वह लोगों के रीतिरवाज, अर्थात् रूढ़ि, के अद्भुत प्रभाव का एक अच्छा नमूना है। एक कहावत है कि रीति–रस्म, आदत का दूसरा नाम है। पर इस नियम के सम्बन्ध में लोगों को हमेशा यह भ्रम होता है कि रीति-रस्म ही का नाम आदत है। व्यवहार सम्बन्धी कायदे बनाकर मनुष्य उन्हें जो एक दूसरे के ऊपर लाद देते हैं, ऐसे कायदोंके विषय में रीति-रवाज अर्थात् रूढ़ि को और भी अधिक प्रबलता प्राप्त होती है। क्योंकि लोग बहुत करके इसकी जरूरत ही नहीं समझते कि एक आदमी दूसरों को, या हर आदमी खुद अपने ही को, प्रचलित रीति–रस्मों का कारण बतलावे। अर्थात् अमुक काम करने, या अमुक रूढ़ि को जारी रखने, का कारण बतलाने की जरूरत नहीं समझी जाती। आदमियों को इस बात पर विश्वास करने की आदत पड़ जाती है। कुछ लोगों ने, जो अपने को तत्ववेत्ता समझने तक का हौसला दिखलाते हैं, आदमियों के इस विश्वास को यहां तक उत्तेजित कर दिया है कि वे अपने मनोविकारों को तर्कशास्त्र के प्रमाणों से भी अधिक बलवान् और विश्वसनीय मानते हैं। इस लिए अपने विश्वास के समर्थन में प्रमाण ढूंढ़ना और कारण बतलाना वे व्यर्थ समझते हैं। हर आदमी यही चाहता है कि जो बातें उसको या उसके पक्षवालों को अच्छी लगती हैं उन्हींके अनुसार समाज के सब लोक बर्ताव करें। इसी विकार के वश होकर, हर आदमी, समाज की व्यवस्था करने और उसके लिए बन्धन बनाने के विषय में अपनी अपनी राय देता है—अपना अपना मत स्थिर करता है। यह जरूर सच है कि कोई आदमी इस बात को नहीं कुबूल करता कि न्याय तौलने का उसका तराजू

उसीकी रुचि है। अर्थात् वह यह नहीं कहता कि अपनी रुचि को ही नमूना मानकर वह न्याय करता है। पर किसी के चाल-चलन, व्यवहार या बर्ताव के विषय में कायम की गई राय, यदि वह तर्कशास्त्र के आधार पर नहीं है तो, राय देनेवाले ही की रुचि या पसन्द की कही जा सकती है। यदि कोई यह कहे कि जिस बात को मैं पसन्द करता हूं उसको और भी बहुत आदमी पसन्द करते हैं, तो उसका भी यही उत्तर है कि जैसे एक आदमी की रुचि न्याय तौलने के लिये अच्छे तराजू का काम नहीं दे सकती वैसे ही बहुत आदमियों की रुचि भी वह काम नहीं दे सकती। तिसपर भी, इस तरह की, बहुत आदमियों की रुचि, एक साधारण आदमी को पूरे तौर पर सप्रमाण और साधार मालूम होती है। यही नहीं, किन्तु नीति का, रीति का और उचित अथवा अनुचित बातों के विषय में जो विचार आदमियों के दिल में पैदा होते हैं उनका, आधार सिर्फ बहुत आदमियों की रुचि या पसन्द ही मानी जाती है। हां, जिन बातोंका बयान अपने अपने धर्म या पन्थ की पुस्तकों में होता है उनके लिए बहुत आदमियों की रुचि का आधार नहीं रहता। उनको छोड़कर और सब बातों में इसी नियम के अनुसार काम होता है। यहां तक कि धर्म्म पुस्तकों में कही हुई बातों का अर्थ भी, इसी नियम को आधार मानकर, लगाया जाता ह। इस तरह, बुरी या भली बातों के विषय में आदमियों की जो राय होती है वह, दूसरों के बर्त्ताव और चालचलन से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी रुचि और उस रुचि-के कारणों के आधार पर हमेशा कायम रहती है। दूसरी बातों के विषय में आदमियों की इच्छा को पैदा करनेवाले जैसे अनेक कारण होते हैं वैसे ही उनकी इस—पसन्द करने या न करने की—इच्छा के भी होते हैं। इन कारणों में से कभी भले-बुरे का विचार; कभी पूर्व प्रवृत्ति (बे समझे बूझे किसी तरफ झुकाव) और मिथ्या धर्म्म; कभी समाज के अनुकूल काम करने की आदत; कभी मत्सर, झूठा घमण्ड और दूसरों के विषय में तिर-स्कार बुद्धि—इत्यादि मुख्य समझने चाहिए। परन्तु, बहुत करके, सबसे प्रबल कारण स्वार्थ होता है। अर्थात् सिर्फ अपना मतलब साधने के लिए ही वैसी इच्छा पैदा होती है; चाहे वह भली हो, चाहे बुरी। जहां के निवासियों में वर्ण-भेद होता है अर्थात् जिस देश में एक आध वर्ण औरों से श्रेष्ठ माना जाता है वहां की नीति, अर्थात् लोगोंके व्यवहार के नियमों का सबसे बड़ा

हिस्सा, उसी वर्ण के स्वार्थ और श्रेष्ठता-सम्बन्धी समझ के आधार पर बना हुआ होता है । ग्रीस देश के स्पार्टा-निवासियों और उनके गुलामों में, अमेरिका के अंगरेज-किसान और हबशियों में, सरदार और किराये के सिपाहियों में, पुराने राजा और प्रजा में, स्त्रियों और पुरुषों में जिस नीति या जिन नियमों का बर्ताव किया गया है वह नीति या वे नियम, बहुत करके, श्रेष्ठ पक्षवालों के स्वार्थ और समझ के आधार पर ही बने हैं । पर, इस तरह के स्वार्थ और इस तरह की समझ का असर, श्रेष्ठ वर्णवालों में आपस में व्यवहार करने के जो नियम होते हैं उन पर भी होता है । अर्थात् जिस देश में पहले श्रेष्ठ माना गया वर्ण, पीछे से औरों की नजर में गिर जाता है या उसकी श्रेष्ठता बिलकुल ही जाती रहती है उस देशका समाज उसका तिरस्कार करने लगता है । इस लिए समाज की नीति के नियमों में भी उस वर्ण के विषय में निरादर के चिह्न देख पड़ने लगते हैं ।

पहले नियम का बयान ऊपर हो चुका । एक और भी नियम है । वह बहुत बड़ा है । वह राजों और देवताओं के विषय में मनुष्य-मात्र के अच्छे या बुरे विचारों से सम्बन्ध रखता है । इस तरह के कल्पित विचार, चाहे किसी कानून के जारी किये जाने से पैदा हुए हों चाहे लोगों की राय ही वैसी हो गई हो, परन्तु उनके वश होकर उन्हींके अनुसार आदमी व्यवहार जरूर करने लगते हैं । अर्थात् जो राजा या देवता उनकी बुद्धि में बुरा या भला जँच जाता है उसको वे वैसा ही समझने लगते हैं । उनकी बुद्धि ऐसे विचारों में लीन सी हो जाती है । यह उनकी परवशता स्वार्थसे जरूर पैदा होती है, पर, दम्भ से नहीं होती । अर्थात् इस तरह की बुद्धि में दम्भ या पाखण्ड नहीं रहता । क्योंकि यह राजा या यह देवता बुरा है या भला—इस तरह की कल्पित समझ, उसके व्यवहार को देखकर सचमुच ही मनुष्य के मन में पैदा हो जाती है । इसीसे, ऐसी कल्पित बुद्धि में लीन होकर, आदमी औरोंका तिरस्कार करने लगते हैं । वह यही कल्पित तिरस्कार-बुद्धि थी जिसके वश होकर आदमियों ने अनेक जादूगर और नास्तिकों को जीता जला दिया था । इस तरह के नीच और निंद्य कारण समाज के व्यवहार और चाल-चलन सम्बन्धी नियम बनाने के आधार जरूर माने गये हैं । परन्तु, तिस पर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इस तरह के नियम बनाने में समाज के फायदे का खयाल नहीं किया गया । अर्थात् कोई यह नहीं कह

सकता कि ऐसे नियम बनानेवालों पर, समाज को फायदा पहुँचाने की प्रेरणा ने, कुछ असर नहीं पैदा किया। असर जरूर पैदा किया और बहुत किया। पर वह प्रेरणा सीधे मार्ग से खुलासा नहीं पैदा हुई; किन्तु एक डेढ़े मार्ग-से हुई। अर्थात् यह समझ कर वह नहीं पैदा हुई कि समाज के फायदे का खयाल करना हमको उचित है अथवा उसकी तरफ नजर रखना हमारा काम है। परन्तु समाज को फायदा पहुँचाने की बुद्धि से जो रुचि या अरुचि पैदा हुई वह प्रेरणा उसका परिणाम थी। इसका फल यह हुआ कि जिस हमदर्दी या नफरत, अर्थात् सहानुभूति या घृणा, से समाज का बहुत ही थोड़ा या बिलकुल ही सम्बन्ध न था, वह भी सामाजिक नियमों के बनने में काम में आ गई।

कानून से या बहुत आदमियों की राय से, दंड—कैद, जुरमाना, समाज की दृष्टि में तुच्छ समझा जाना इत्यादि—नियत हुए। उन दंडों के डरसे चाल-चलन और व्यवहार सम्बन्धी नियम अर्थात् कायदे बनाये गये। पर उन नियमों के काम लाये जाने का मुख्य कारण पूरे समाज, या उसके प्रबल भाग की रुचि या अरुचि ही समझना चाहिए। और, आम तौर पर, विचार और विकार में जो लोग समाज के अगुआ रहे हैं उन्होंने छोटी छोटी बातों पर चाहे जितना वाद-विवाद किया हो, पर मुख्य मुख्य बातों के आदि हेतु, प्रयोजन, जड़ यानी बुनियाद पर कभी विचार नहीं किया। अर्थात् उन्होंने इस तरह के आक्षेप कभी किये ही नहीं कि अमुक नियमों का बनाना योग्य है या अयोग्य। उन्होंने अपना मन सिर्फ इसके जानने में लगाया कि कौनसी बात समाजको पसन्द करना चाहिए और कौनसी करना चाहिए। बस, वे इसी विचार में लगे रहे। इस बात की तरफ उनका ध्यान ही नहीं गया कि समाज की रुचि या अरुचि के अनुसार हर आदमी को बर्त्ताव करने के लिये लाचार करना उचित है या नहीं। जिनकी यह राय थी कि समाज की रुचि या अरुचि के ही खयाल से व्यवहार-सम्बन्धी नियम न बनाये जाने चाहिए उनको लोगोंने पाखण्डी समझा। उनकी जमात में मिलकर, स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन्हींका ऐसा प्रयत्न करने की अपेक्षा, लोगों ने समाज के सिर्फ उन्हीं मनोविकारों को बदलना अच्छा खयाल किया जिन विकारों के कारण उनके और समाज के मत में फरक था।

हां, एक ही बात ऐसी है जिसके आधार, या जिसकी बुनियाद, पर बहुत लोगों ने समाज के जुल्म के विरुद्ध इस लिए सतत प्रयत्न किया कि समाज की रुचि या अरुचि को आदमियों की स्वाधीनता में हस्तक्षेप, अर्थात् दस्तन्दाजी, न करना चाहिए। वह बात धर्मनिष्ठा या धार्मिक विश्वास है। यह उदाहरण कई कारणों से ध्यान में रखने लायक है। इससे बहुत सी बातें समझ में आ जाती हैं। उनमें सब से बड़ी बात जो ध्यान में आती है वह यह है, कि जिन नैतिक विचारों, अर्थात् भले बुरे आचरणसम्बन्धी खयालों, को लोगों ने तर्कशास्त्र के प्रमाणों की तरह सही माना है वे कहां तक भूलों से भरे हुए हैं। अर्थात् यह मालूम हो जाता है कि वे विचार सही नहीं हैं; भ्रम से पूर्ण हैं। यह बात अब बहुत आदमी मानने लगे हैं कि धर्म-सम्बन्धी उदारता अच्छी चीज है। परन्तु जो आदमी धर्म्मान्ध हो रहा है वह दूसरे धर्म्मवालों को जी से घृणा करता है। वह उनसे जरूर नफरत करता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। ईसाइयों के सर्व-साधारण धर्म से पहले पहल अलग होकर जिन लोगों ने एक पन्थ अलग स्थापित किया, क्या वे दूसरे पन्थवालों से कम घृणा करते थे? नहीं। पर जब वाद विवाद, शास्त्रार्थ या झगड़े की गरमी जाती रही और किसी पन्थ की जीत न हुई, अर्थात् सब पन्थ जहां के तहां ही रह गये, तब सब पन्थवालों को इस बात की कोशिश करने की जरूरत पड़ी कि जहां तक उनके पन्थ का प्रचार हुआ है वहां तक तो बना रहे। तब जिस पन्थवालों की संख्या कम थी उसने अधिक संख्या के पन्थवालों से यह कहना शुरू किया कि–" हमारे धार्मिक विचारों में बाधा न डालो; धर्म्म की बातों में उदारता दिखाओ; हम जो कुछ करें करने दो "। निर्बल पक्षवालों ने जब यह समझ लिया कि प्रबल पक्षवालों को अब हम अपने पन्थ में नहीं ला सकते तब धर्म्मौदार्य्य दिखलानेके लिए प्रबल पक्षवालों के सामने उन्हें चिल्लाने की जरूरत पड़ी। इससे यह अर्थ निकला कि धर्म्म के कामोंमें प्रबल पक्षवालों को निर्बल पक्षवालों पर जुल्म न करना चाहिए। धर्म्म ही का विषय एक ऐसा है जिसके सम्बन्ध में लोगों ने मेरे कहे हुए सर्वव्यापी सिद्धान्त को कुबूल किया है। अर्थात् यही बात एक ऐसी है जिसके आधार पर लोगों ने यह राय कायम की है कि हर आदमी समाज के खिलाफ भी अपना अपना हक पाने का दावा कर सकता है। समाज का जो यह सिद्धान्त था कि उससे विरोध करनेवालों पर, अर्थात्

जिनकी राय समाज की रायसे नहीं मिलती उन पर, सत्ता चलाने का उसे अधिकार है, उसका खण्डन सिर्फ इसी धर्म्म-सम्बन्धी विषय में किया गया है। जिन ग्रन्थकारों की बदौलत दुनिया को थोड़ी बहुत धर्म्म-संबन्धी स्वाधीनता मिली है उन्होंने इस बात पर बहुधा जोर दिया है कि धर्म्म के मामलों में ही आदमी को अपनी अपनी रुचि या समझ के अनुसार बर्ताव करने का पूरा हक है। इस बात को उन्होंने बिलकुल ही कुबूल नहीं किया कि धार्मिक विषयों में कोई आदमी दूसरों के सामने जवाबदार है। अर्थात् धर्म्म की बातों में जिस का जी जैसा चाहे वह वैसा ही आचरण कर सकता है। तथापि जिन बातों की आदमी अधिक परवा करते हैं, अर्थात् जिनसे उनके हिताहितका अधिक सम्बन्ध रहता है, उनके विषय में उदारता न दिखलाना मनुष्य-मात्र का यहां तक स्वभाव हो गया है, कि कुछ देशों को छोड़कर, और कहीं भी धर्म्म की उदारता का पूरा पूरा व्यवहार नहीं हुआ। धर्म्म के झगड़ों में पड़कर जहां के आदमी अपनी शान्ति को भंग नहीं करना चाहते, अर्थात् धर्म्मशून्य या धर्म्मकी तरफ से बे परवाह लोगों का पक्ष जहां प्रबल है, वहीं धर्म्म-सम्बन्धी उदारता, पूरे तौरपर, व्यवहार में लाई गई। 'कुछ देशों' से मेरा मतलब ऐसे ही देशों से है।

जिन देशों में धर्म की उदारता काम में लाई जाती है वहां के भी प्रायः सभी धार्मिक यह समझते हैं कि इस उदारता की हद जरूर होनी चाहिए। दूसरों को अपने धार्मिक व्यवहारों से जुदा अथवा विरुद्ध व्यवहार करते देख उनको न रोकनेका नाम धर्म्मौदार्य, अर्थात् धर्म्म की उदारता, है। उसे एक तरह की क्षमा, सहनशीलता, तहम्मुल या बर्दाश्त कहना चाहिए। कोई कोई आदमी ऐसे हैं जो धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली संस्था, सभा या समाज के कामकाज विषयक मतभेद को बर्दास्त कर सकते हैं; परन्तु स्वयं धर्म्म-सम्बन्धी नियम, व्यवस्था या कायदेके मतभेदको नहीं बर्दास्त कर सकते। कोई कोई, एकेश्वरवादी या पोपके अनुयायियों ही को नहीं देख सकते; पर, और सब प्रकार के मतभेद रखनेवालों को वे कुछ नहीं कहते। कुछ ऐसे हैं जो ईश्वरके उपदिष्ट सभी धर्म्मों को मानते हैं अर्थात् और लोग चाहे जिस धर्म के हों, पर वे यदि उस धर्म को ईश्वरप्रणीत मानते हैं, तो ये तीसरी तरह के आदमी उनसे उदारता का बर्ताव करते हैं। कुछ लोग इससे भी अधिक उदारता दिखाते हैं। वे ईश्वर और परलोक पर भी विश्वास कर लेते

हैं, पर उसके आगे नहीं जाते । अर्थात् जो लोग ईश्वर और परलोक को मानते हैं उनसे ये भेदभाव नहीं रखते; पर जो यहां तक बढ़े चढ़े हैं कि इनको भी नहीं मानते उनसे इनकी नहीं बनती । यह हालत उन देशों की है जिनमें धर्म्महीन लोगों का जोर अधिक है । पर, जिन देशोंमें धर्मनिष्ठा अभी तक शुद्ध और सबल है वहां वालों के इस खयाल को जरा भी धक्का नहीं पहुंचा कि जन-समुदाय, अर्थात् समाज, की राय हर आदमी को मानना ही चाहिए ।

इंग्लैण्ड का राजकीय इतिहास दूसरी तरह का है । वह और देशों के इतिहास से मेल नहीं खाता । इससे यद्यपि समाज, अर्थात् सर्व साधारण, की रायका वजन कुछ अधिक है तथापि सरकारी कानून का बोझ अधिक नहीं है; वह कम है । यह बात और देशों में नहीं पाई जाती । यहां निज के अर्थात् खानगी काम-काजों में कानून बनानेवालों और सत्ताधारियों की खुल्लम खुल्ला दस्तन्दाजी को लोग बहुत बुरा समझते हैं । इसका पहला कारण यह है कि हर आदमी को मुनासिब स्वाधीनता दी जाने की तरफ लोगोंका बहुत ध्यान है । दूसरा कारण यह है कि लोग अब तक यह समझ रहे हैं कि गवर्नमेण्ट के सभी खयालात समाज के हितके अनुकूल नहीं हैं । इनमें से पहले कारण की अपेक्षा दूसरा कारण अधिक सबल है । समाज के अधिक आदमियों को अभी तक यह नहीं मालूम कि गवर्नमेण्ट की हुकूमत अपनी ही हुकूमत है और गवर्नमेण्ट की राय अपनी ही राय है । जिस समय लोगों को यह बात मालूम होने लगेगी उस समय हर आदमी की स्वाधीनता में गवर्नमेण्ट शायद उतनी ही दस्तन्दाजी करने लगेगी जितनी दस्तन्दाजी समाज, आज कल, उसमें कर रहा है । परन्तु, अभी तक, बहुत लोगों के विचार ऐसे हैं कि यदि गवर्नमेण्ट, कानूनके द्वारा, प्रत्येक आदमी की उन बातों का प्रतिबन्ध करना चाहे जिन बातों के प्रतिबन्ध को बरदास्त करने की उन्हें आदत नहीं है तो उन विचारोंकी धारा ऐसे प्रतिबन्ध के प्रतिकूल जोर से बहने लगे । उस समय लोग इस बात का बिलकुल विचार न करेंगे कि जिस बात की वे प्रतिकूलता करते हैं वह कानून से नियंत्रित या प्रतिबद्ध किये जाने के लायक है या नहीं । यह स्थिति यदि अच्छी समझी जाय, और यह मान लिया जाय, कि उससे लोगों का मतलब जरूर ही निकल जाता है तो उसका यह उत्तर है कि इस तरह के विचार अथवा

मनोविकार जैसे उचित जगह में प्रयोग किये जाते हैं वैसे ही अनुचित जगह में भी प्रयोग किये जा सकते हैं। सच तो यह है कि ऐसा कोई भी सर्व-सम्मत तरीका नहीं निकाला गया है जिससे गवर्नमेंट की दस्तन्दाजी की योग्यता अथवा अयोग्यता की ठीक ठीक जांच की जा सके। अर्थात् हमको एक ऐसा नियम या तरीका, खोज निकालना चाहिए जिसकी सहायतासे हम तत्काल यह निश्चित कर सकें कि किस बात में दस्तन्दाजी करना गवर्नमेन्ट को उचित है और किसमें नहीं। पर, इस समय लोग करते क्या हैं कि वे अपनी रुचि या अरुचि के अनुसार सब बातों की योग्यता अथवा अयोग्यता का निश्चय करते हैं। ऐसा न होना चाहिए। जब कोई फायदे का काम कराने या किसी नुकसान अथवा आपदा से बचाने की जरूरत होती है तब आदमी उसके लिए गवर्नमेण्ट को खुशी से उत्तेजित करते हैं। पर कुछ आदमी ऐसे भी हैं कि वे चाहे जितने सामाजिक दुःख, अनर्थ या आपदायें सहन करें, तथापि लोगोंके फायदे की एक भी नई बातमें गवर्नमेन्टको दस्तन्दाजी नहीं करने देते। मतलब यह है कि काम पड़ने पर आदमी अपनी रुचि के अनुसार, कुछ इधर और कुछ उधर, झुक पड़ते हैं। या जब कोई काम गवर्नमेन्ट से आदमी कराना चाहते हैं तब उसमें अपने हानि-लाभ की मात्रा का विचार करके उस तरफ झुकते हैं जिस तरफ झुकने से उनको अधिक लाभ जान पड़ता है। या ऐसे मौकेपर वे इस बातका विचार करते हैं कि जिस काम को लोग गवर्नमेन्ट से कराना चाहते हैं उसे वह उनकी रुचि के अनुसार करेगी या नहीं। और उस विषय में जैसा विश्वास, अनुकूल और प्रतिकूल उनको हो जाता है उसीके अनुसार वे अपना मत देते हैं। अर्थात् अनुकूल विश्वास होने से अनुकूल और प्रतिकूल होने से वे प्रतिकूल पक्षवालों में मिल जाते हैं। परन्तु इस बात का सिद्धान्त निश्चित करके कि अमुक काम करना गवर्नमेण्ट को उचित है और अमुक करना उचित नहीं, शायद ही कभी कोई अनुकूल या प्रतिकूल पक्ष में शामिल हुआ हो। इस तरह के नियम या सिद्धान्त के अभाव में, मैं समझता हूँ, इस समय, एक पक्षवाले जैसे भूल करते हैं वैसे ही दूसरे पक्षवाले भी करते हैं। अर्थात् जो लोग, किसी विशेष कारण से, गवर्नमेण्ट की दस्तन्दाजी को पसन्द करते हैं वे जैसे भूलते हैं वैसे ही, जो उसकी दस्तन्दाजी में दोष निकालते हैं या उसे बुरा समझते हैं वे भी भूलते हैं।

इस पुस्तक में मैं एक ऐसे सीधे सादे, पर व्यापक, सिद्धान्त का विवेचन करना चाहता हूं जिससे यह मालूम हो जाय कि, जुदा जुदा, हर आदमी के साथ समाज का व्यवहार कैसा होना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति-विशेष से किस तरह का व्यवहार करना समाज को उचित है और किस तरह का उचित नहीं। अथवा व्यक्ति-विशेष को समाज कहां तक अपने ताबे में रख सकता है और कौन कौन सी बातें वह बलपूर्वक उससे करा सकता है। यह सिद्धान्त अथवा यह महातत्त्व ऐसा होना चाहिए जिससे यह बात समझ में आ जाय कि कब, किस हालत में, कानून के द्वारा शारीरिक दण्ड दिये जाने का नियम होना चाहिए, और कब, किस हालत में, न होना चाहिए। और इससे इस बात का भी निश्चय हो जाय कि समाज की राय का कब, किस हालत में, और कहां तक प्रतिबन्ध किया जाय। वह सिद्धान्त यह है— समाज के किसी आदमी के काम-काज की स्वाधीनता में, एक अथवा बहुत आदमियों के रूप में, मनुष्यमात्र की दस्तन्दाजी का सिर्फ एक ही उद्देश, आशय या मतलब होता है। वह उद्देश, आशय या मतलब, आत्मरक्षा— अपनी हिफाजत—है। जितने सभ्य, अर्थात् सुधरे हुए, समाज हैं उनमें से किसी आदमी के ऊपर, उसकी इच्छा के विरुद्ध, सिर्फ इस मतलब से सत्ता या शक्ति मुनासिब तौर पर काम में लाई जा सकती है कि उस आदमी से दूसरों को नुकसान या तकलीफ न पहुँचे। स्वयं उस आदमी के शरीर या मन की रक्षा का उद्देश कोई चीज नहीं। सत्ता को काम में लाने में उस उद्देश का खयाल नहीं किया जाता। किसी आदमी से कोई काम सिर्फ इस मतलब से कराना, या कोई काम करने से उसे सिर्फ इस मतलब से रोकना, कि ऐसा करने से उसे फायदा होगा; या ऐसा करने से उसे अधिक सुख मिलेगा; या ऐसा करना, औरों की राय में योग्य अथवा बुद्धिमानी का काम होगा; मुनासिब नहीं। उसे मना करने, उसे समझाने, उसके साथ वादवि. वाद या उससे प्रार्थना करने में इन बातों का उपयोग हो सकता है; परंतु बलपूर्वक उससे कोई काम कराने, अथवा, प्रतिकूल व्यवहार करने पर, उसे दण्ड देने में इन बातों से काम नहीं चल सकता। ऐसे मामलों में इस तरह की बातें युक्ति-सङ्गत नहीं मानी जा सकतीं। जिस काम से उसे रोकना है उस काम से यदि किसी दूसरे को कष्ट पहुँचने की सम्भावना है, तभी उस पर बल-प्रयोग करना; अथवा उसे दण्ड देना, मुनासिब होगा। उसके व्यव-

हार या चालचलन के जिस हिस्से से दूसरों का सम्बन्ध है सिर्फ उसीका वह जिम्मेदार है; सिर्फ उसीके लिए वह उत्तरदाता है। जिस हिस्से से सिर्फ उसीका सम्बन्ध है उसमें उसकी स्वाधीनता अखण्डनीय है; वह नहीं छीनी जा सकती। अपना, अपने शरीर का, अपने मन का हर आदमी मालिक है, हर आदमी बादशाह है।

यह कहने की जरूरत नहीं कि यह सिद्धान्त सिर्फ उन्हीं लोगों के काम में लाया जाना चाहिए जिनकी बुद्धि, जिनकी समझ, परिपक्व दशा को पहुँच गई है; अर्थात् जो बालिग हैं। मेरा मतलब बच्चों से नहीं, और न उन स्त्री-पुरुषों से है जो कानून के अनुसार वयस्क अर्थात् बालिग नहीं हुए। जो लोग अभी तक ऐसी अज्ञान-दशा में हैं कि दूसरों की देखभाल में रहना उनके लिए जरूरी बात है उनकी रक्षा बाहरी उपद्रवों से भी की जानी चाहिए और खुद उनके अनुचित कामों से भी। इसी नियम के अनुसार उस समाज उस जन-समुदाय के लिए भी यह सिद्धान्त नहीं है जिसके सभी आदमी अज्ञान, अतएव निकृष्ट अवस्था में हैं। जिस समाज के आदमी अज्ञान हैं, जंगली हैं, समझदार नहीं हैं, उसमें, बिना किसी की सहायता या जख्तन्दाजी के, आप ही आप सज्ञानता, सुधार या सभ्यता के पैदा होने में इतने अटकाव और इतने विघ्न आते हैं कि उनको दूर करने के लिए उचित उपायों को जरूर काम में लाना पड़ता है। जिस देश का समाज ऐसा है उस का राजा, सच्चे उत्साह से प्रेरित होकर, समाज के हित करने की इच्छा से, यदि कोई भी उपाय, या साधन, काम में लावे तो वे उपाय और वे साधन अच्छे ही समझे जाने चाहिए। क्योंकि, यदि वे उपाय न किये जांय तो जिन बुराइयों को दूर करने के लिए उनकी योजना हुई है वे शायद और तरह से दूर ही न हों। जो लोग असभ्य हैं, जंगली हैं, उन पर सत्ता चलाने—हुकूमत करने—में अनिर्बन्ध शासन, अर्थात् बिना बन्धन का ही राज्य, अच्छा होता है। पर शर्त यह है कि उन लोगों को सभ्य और शिक्षित बनाने के ही इरादे से इस तरह का राज्य हो; और वे सचमुच सभ्य और शिक्षित बना दिये जांय। स्वाधीनता का यह सिद्धान्त तब तक काम में लाये जाने के लिए नहीं है, जब तक मनुष्य जाति, अपने को एक दूसरे की बराबरी का समझकर, बिना रोकटोक के, किसी भी विषय पर विचार करके, अपनी तरक्की करने के लायक न हो जाय। तब तक उसके लिए सिर्फ एक

ही काम है। वह यह कि पूरे तौर पर वह किसी अकबर, या शार्लमेन, * के आधीन रहे—यदि सौभाग्य से वह उसे मिल जाय। अपने आप या दूसरों के द्वारा उत्साहित की जाने पर जब मनुष्य-जाति अपनी तरक्की का रास्ता आप ही ढूंढ़ निकालने के लायक हो जाती है (जिन देशों के विषय में मैं यहाँ पर लिख रहा हूं उनको इस लायक हो चुके बहुत बरसें हो गईं) तब प्रत्यक्ष रीति से या दी हुई आज्ञा का पालन न करने के कारण दण्ड आदि देकर अप्रत्यक्ष रीति से उसीके हित के लिए, उस पर बल-प्रयोग करना, अर्थात् जबरदस्ती कोई काम कराना, गैरमुनासिब है। इस तरह की जबर-दस्ती तभी मुनासिब समझी जा सकती है जब वह दूसरों की रक्षा के लिए की जाय। अर्थात् जब किसी के अनुचित व्यवहार के कारण औरों को तक-लीफ पहुँचने का डर हो तभी उस अनुचित व्यवहार करनेवाले को बलपू-र्वक राह पर लाना मुनासिब है।

जिस सिद्धान्त का वर्णन मैंने ऊपर किया वह केवल उपयोगिता के ही आधार पर किया। इस लिए, यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि यदि और किसी बात के आधार पर इस सिद्धान्त से कुछ फायदा होता हो तो मैं उसे नहीं मानता। नीतिशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं उनकी जांच करते समय मैं उनकी उपयोगिता को ही सब से प्रधान समझता हूं। पर, इस उपयोगिता का अर्थ बड़े विस्तार का है अर्थात् वह बहुत व्यापक है। आदमी को उन्नतिशील प्राणी समझकर उसके चिरस्थायी हितों की प्राप्ति को ही मैं सच्ची उपयोगिता समझता हूं। मेरा मतलब यह है कि इस तरह के चिरस्थायी हितों की प्राप्ति के लिए आदमी के जिन कामों से दूसरों का सम्पर्क है सिर्फ उन्हींसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यक्ति-विशेष की स्वाधीनता में दस्तन्दाजी करना मुनासिब है। यदि कोई आदमी ऐसा काम करता है जिससे दूसरों को तकलीफ पहुँचती है तो उसे, कानून के द्वारा, या, यदि, कानून से काम लेने में सुभीता नहीं है तो बुरा भला कहके सजा देना, देख-

---

* शार्लमेन पहले फ्रांक्स लोगों का राजा था; पर पीछे से वह समग्र पश्चिमी योरप का हो गया। ८०० ईस्वी में उसे बादशाह की पदवी मिली। वह बड़ा उदार, गुणवान्, विद्वान्, न्यायी और सदाचरणशील था। योरप का वह अकबर था।

ने के साथ ही, उचित मालूम होता है। ऐसी भी बहुत सी जंची हुई बातें हैं जिनसे समाज के हित होने की विशेष सम्भावना रहती है। वे भी हर आदमी से बलपूर्वक, अर्थात् जबरदस्ती, कराई जा सकती हैं। एक उदाहरण लीजिए:—कचहरी में जज के सामने गवाही देने के लिए हर आदमी मजबूर किया जा सकता है; क्योंकि जिस समाज में वह आराम से रहता है उसके फायदे या उसकी रक्षा के लिए उसका धर्म्म है कि वह भी सहायता करे। उसे समझना चाहिए कि वह भी समाज का एक अंश है और समाज की ही भलाई के लिए कानून के अनुसार वर्ताव किया जाता है। इसी तरह हर आदमी, विशेष विशेष बातों में, उदारता के काम के लिए भी विवश किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी की जान बचाने, या असहायों पर जुल्म होते देख उनकी रक्षा करने, के लिए आदमी पर बल-प्रयोग करना मुनासिब है। मतलब यह कि जिस समय जो काम करना आदमी का धर्म्म, फर्ज या कर्तव्य है, और जिसे न करने से समाज की हानि, थोड़ी या बहुत हो सकती है उसके लिए वह हमेशा जिम्मेदार है। जो लोग यह समझते हैं कि आदमी कुछ न कुछ काम करके ही दूसरों को हानि पहुँचा सकता है, चुपचाप अर्थात् तटस्थ रहकर नहीं पहुँचा सकता, वे, भूलते हैं। दोनों तरह से औरों की हानि हो सकती है—औरों को तकलीफ पहुंच सकती है। जो आदमी दूसरे को लाठी से मारकर उसे चोट पहुँचाता है वह भी सजा पाने का काम करता है, और जो दूसरे को डूबता देख उसे बचाने की कोशिश न करके चुपचाप तमाशा देखता रहता है वह भी सजा पाने का काम करता है। इस लिए, दोनों हालतों में, समाज को हानि पहुँचाने का वह अपराधी है। हां, यह सच है कि पहले प्रकार से, अर्थात् कार्य-द्वारा, किसी का अहित करने के कारण जो सजा दी जा सकेगी उसकी अपेक्षा चुपचाप बैठे रहने, अर्थात् कोई काम न करने, के कारण जिस सजा की जरूरत समझी जायगी उसे काम में लाने में अधिक खबरदारी दरकार होगी। अपने किसी अनुचित काम से दूसरों का अहित करने के कारण हर आदमी को जिम्मेदार समझना एक साधारण नियम है। पर दूसरे का अहित होता देख चुपचाप बैठे रहने—उसे टालने की कोशिश न करने—के कारण उसे जिम्मेदार समझना साधारण नियम नहीं; किन्तु निपातन, अपवाद या मुस्तसना बात है। परन्तु कभी कभी इस तरह के बहुत बड़े मौके आजाते हैं जिनके कारण इस अप-

वाद को काम में लाना, अर्थात् चुपचाप बैठने के लिए सजा देना, मुनासिब समझा जा सकता है । आदमीके बाहरी व्यवहारों से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं उनके लिए हर आदमी उन लोगों के सामने हमेशा ही उत्तरदाता रहता है जिनसे कि उन बातों का सम्बन्ध है । यहाँ तक कि कभी कभी समाज के सामने भी वह उत्तरदाता समझा जाता है; क्योंकि समाज सब की रखवाली करता है । परन्तु, बहुधा, ऐसे मामलों में व्यक्ति विशेष पर जिम्मेदारी लादना विशेष कारणों से उचित नहीं होता । तथापि, इस विषय में कोई व्यापक नियम नहीं बनाये जा सकते ऐसी जिम्मेदारी कब उचित और कब अनुचित होगी, इस बात का निश्चय अपने अपने समय, स्थान और प्रसंग के अनुसार करना होगा । कोई कोई बातें ऐसी हैं कि यदि समाज, उन्हें अपनी अपनी समझ के अनुसार हर आदमी को, करने दे तो लोग उन्हें अधिक अच्छी तरह से कर सकें । पर, यदि, उन बातों के सम्बन्ध में समाज, अपनी शक्ति के अनुसार, किसी तरह का प्रतिबन्ध कर दे तो लोग उनको उतना अच्छा न कर सकें । कभी कभी जिन तकलीफों को दूर करने या जिन अनर्थों से बचाने के लिए समाज अपनी सत्ता को काम में लाने, या किसी तरह की प्रतिबंधकता करने, का इरादा रखता है उनकी अपेक्षा, सत्ता को काम में लाने या प्रतिबन्धकता करने से अधिक सख्त तकलीफें और अधिक भयंकर अनर्थ पैदा होने की सम्भावना होती है । ऐसे प्रसंग आने पर समाज की प्रतिबन्धकता उचित नहीं मानी जा सकती । ऐसी बातों की जिम्मेदारी आदमी की समझ और उसके भले बुरे के ज्ञान पर ही छोड़ देना चाहिए । उसीसे दूसरों की रक्षा, जहां तक हो सके, होने देनी चाहिए । पर हां, ऐसे मौकों पर आदमी को इस बात का खयाल रखना मुनासिब है कि मुझसे दूसरों को तकलीफ पहुंचने या उनका अहित होने, की जो सम्भावना है उससे बचाने का प्रबन्ध समाज नहीं करता । इसलिए मुझे स्वार्थ पर अनुचित दृष्टि न रखकर निष्पक्षपात होकर व्यवहार करना चाहिए । ऐसे समय में आदमी को अपना न्याय आप ही करना चाहिए; और इतना कड़ा करना चाहिए जितना कि एक जज भी यदि वह उसके सामने जाता, तो न करता ।

जिन बातों का सम्बन्ध, प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से, सिर्फ दूसरों से ही है उन्हींका यहां तक विचार हुआ । अब कुछ ऐसी बातों का भी विचार किया

जाना उचित है जो दूसरों से बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं रखतीं; अर्थात् उनसे समाज का न तो कोई फायदा ही है और न कोई नुकसान ही। और यदि कुछ है भी तो बहुत ही अप्रत्यक्ष रीति से है। ऐसी बातें वे हैं जिनका सम्बन्ध सिर्फ उन्हीं लोगों से है जिनकी वे हैं; या, यदि, किसी दूसरे से भी है तो वह सम्बन्ध बलपूर्वक अर्थात् जबरदस्ती नहीं हुआ है; किन्तु खुशी से अनुमति-पूर्वक हुआ है। मतलब यह है कि जो सम्बन्ध हो वह प्रत्यक्ष रीति पर हो और देखने के साथ ही दूसरों को उसका ज्ञान हो जाय। जो आदमी जिस समाज का है उसके व्यवहारोंका कुछ न कुछ असर उसके द्वारा समाज पर जरूर ही पड़ता है। परन्तु इस आक्षेप के उत्तर में यहां पर मैं कुछ नहीं कहना चाहता। इसका विचार मैं आगे चलकर यथास्थान करूंगा। तो, मान लीजिए कि ऐसी बातों के लिए हर आदमी को स्वाधीनता देना मुनासिब है। अब यह देखना है कि इस प्रकारकी स्वाधीनता में कौन कौनसी बातें शामिल होनी चाहिए। पहले तो इसमें सब प्रकार का अन्तर्ज्ञान अर्थात् अन्तर्बोध, सम्वेदन या सत् और असत् के पहचानने की बुद्धि, शामिल होनी चाहिए। बहुत व्यापक अर्थ की बोधक सदसद्विवेक-बुद्धि की स्वाधीनता; विचार और मनोविकारों की स्वाधीनता; धर्म्म, नीति और विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले, व्यवहारिक अथवा सात्विक, मतों की स्वाधीनता; ये सब इसी प्रकार की स्वाधीनता के भीतर समझी जानी चाहिए। किसी भी विषय में जिसकी जो राय है, उसको अपने मन में ही रखने और सर्व-साधारण में प्रकाशित करने में बड़ा अन्तर है। कोई विकार या विचार जबतक मन में रहता है तबतक उसका सम्बन्ध किसी ओर से नहीं होता; परन्तु प्रकाशित होते ही उसका सम्बन्ध दूसरों से भी हो जाता है। इसका विचार मैं आगे करूंगा कि हर आदमी को अपनी राय जाहिर करने के लिए कहां तक स्वाधीनता दी जा सकती है। यहां पर मैं इतना ही कहना बस समझता हूं कि हर आदमीको अपनी राय जाहिर करने के लिए स्वाधीनता देना उतने ही महत्त्वकी बात है जितने महत्त्वकी बात उसे उस राय को मन में कायम करने के लिए स्वाधीनता देना है। इसीसे ये दोनों बातें व्यवहारमें बिलकुल एक दूसरे से मिली हुई मालूम होती हैं। जिस प्रकार की स्वाधीनता के विषयमें मैं लिख रहा हूं उसमें रुचि की स्वाधीनता और जो जैसा उद्योग करना चाहे उसे करने की भी स्वाधीनता शामिल है। अर्थात् अपने स्वभाव-

अवस्था, स्थिति और रुचिके अनुसार जो जिस तरह का रोजगार करना चाहे उसे उस तरह का रोजगार करने देने की स्वाधीनता उसे होनी चाहिए। किये का फल भोगने के लिए तैयार रहने पर हर आदमी को अपनी अपनी इच्छा के अनुसार काम करने की स्वाधीनता भी मिलनी चाहिए; फिर, चाहे वह काम दूसरों की दृष्टि में मूर्खता, विरोध और भूलों से भरा हुआ ही क्यों न हो; परन्तु, हां, उससे दूसरोंको हानि न पहुंचनी चाहिए। यदि इस प्रकार की स्वाधीनता हर आदमी को दी जा सकती है, तो वह एक से अधिक आदमियों को भी दी जा सकती है। क्योंकि जिन कारणों से, अलग अलग, हर आदमी को वह मिल सकती है उन्हीं कारणों से वह जन-समुदाय को भी मिल सकती है। परन्तु शर्त यह है कि जन-समुदाय के सब आदमी वयस्क अर्थात् बालिग हों और किसीने उन को जबरदस्ती या धोखा देकर उस समुदाय में न शामिल किया हो। इस हालत में जिन कामों से दूसरों को हानि न पहुंचती हो उन्हें, मिलकर करने के लिए, जन-समुदाय को भी स्वाधीनता दी जा सकती है।

जिस समाज में—जिस लोक-समुदाय में—इस तरह की स्वाधीनता का आदर नहीं है वह समाज स्वाधीन नहीं कहा जा सकता; फिर, वहां की राज्यव्यवस्था चाहे जैसी हो। कोई देश, कोई समाज, या कोई जन-समुदाय, जिस में इस तरह की स्वाधीनता पूरे तौरपर और बिना किसी प्रतिबन्ध या रोकटोक के नहीं दी जाती वह सब प्रकारसे स्वाधीन नहीं माना जा सकता। पर स्वाधीनता कहते किसे हैं? उसकी स्थूल परिभाषा क्या है? दूसरों को किसी तरह की हानि न पहुँचाकर, और अपने हितके लिए किये गये दूसरों के यत्न में बाधा न डालकर, जिस तरह से हो उस तरह अपने स्वार्थ-साधन की आजादी का नाम स्वाधीनता है। उस को ही स्वाधीनता कहना शोभा देता है। अपने मन, अपने शरीर और अपनी आत्माका ही आदमी मालिक है। उन्हें अच्छी हालत में रखने के लिए सब को बराबर अधिकार है। उस अधिकार में कोई दस्तन्दाजी नहीं कर सकता। इस विषय में दूसरों की इच्छा के अनुसार हर आदमी को बर्ताव करने के लिए लाचार करने की अपेक्षा उसे जैसा अच्छा लगे वैसा करने देने में मनुष्यजाति का अधिक फायदा है।

यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है; यह कोई नई बात नहीं है। बहुतों को तो यह स्वयंसिद्ध सा जान पड़ेगा। अर्थात् उनकी दृष्टि में इसकी उपयोगिता या योग्यता साबित करने की कोई जरूरत ही न मालूम होगी। परन्तु विचार करने से यह बात ध्यान में आ जायगी कि इस समय समाज में जिस तरह का व्यवहार जारी है और लोगों की राय जिस तरह की हो रही है, उसके सच्चे प्रवाह के यह सिद्धान्त कितना प्रतिकूल है। अपनी निज की रुचि के अनुसार लोग समझते हैं कि अमुक बात का होना समाज के लिए अच्छा है और अमुकका व्यक्ति-विशेष के लिए। इतना ही नहीं, किन्तु, उस अच्छी बात या अच्छी स्थिति को पाने की इच्छा से तदनुकूल कोशिश करने के लिए समाज और व्यक्ति दोनों-को लोग, अपनी ही अपनी रुचि के अनुसार विवश करते हैं—लाचार करते हैं। पुराने जमाने में लोक-सत्तात्मक राज्यों के आदमियों की यह समझ थी कि हर आदमी के शरीर और मन, दोनों के व्यवहारों का प्रतिबन्ध करने से देश का बहुत फायदा होता है। इसीसे आदमी के छोटे छोटे खानगी मामलों तक में वे अधिकारियों के द्वारा की गई दस्तन्दाजी को मुनासिब समझते थे। इस तरह की समझ को उस समय के दार्शनिक, तत्त्वज्ञानी और और बड़े बड़े पण्डित भी ठीक बतलाते थे। अर्थात् इस तरह के खयालात का वे अनुमोदन करते थे। उस समय की स्थिति, उस समय की अवस्था, और तरह की थी। प्रजासत्तात्मक जितने राज्य थे बहुत छोटे छोटे थे। वे सब बहुधा बलवान् शत्रुओं से सब तरफ घिरे रहते थे। उनको हमेशा इस बातका डर रहता था कि ऐसा न हो कि बाहरी शत्रुओं की चढ़ाइयों या अपने ही देश के आन्तरिक विद्रोहों के कारण उनके राज्य का उलटपलट हो जाय। अपने बल, अपनी सत्ता, या अपनी शक्ति में जरासी भी शिथिलता आने देना वे अपनी स्वाधीनता के नष्ट हो जाने का कारण समझते थे। इसीसे शायद उनके खयालात ऐसे हो गये हों। इसीसे वे हर आदमी की खानगी बातों में भी दस्तन्दाजी करने लगे हों। इसीसे वे स्वाधीनता के चिरस्थायी नियमों का प्रचार करके उनसे फायदा उठाने के लिए न ठहरे हों। परंतु, इस समय राजकीय समाज बहुत बड़े बड़े हो गये हैं; अर्थात् देशों का विस्तार बढ़ गया है। धर्म्माधिकारी और राजा लोगों के अलग अलग हो जाने से छोटी छोटी खानगी बातों में पहले की तरह अब कानून को दस्त-

न्दाजी करने का बहुत कम मौका मिलता है । धार्मिक और राजकीय बातों से सम्बन्ध रखनेवाली सत्ता पहले एक ही व्यक्ति के हाथ में थी । अब वह बात नहीं है । अब ऐहिक और पारलौकिक बातों की सत्ता जुदा जुदा आदमियों के हाथ में है; इससे लोगों की मनोदेवता के उचित सांचे में डालने का काम, राजकीय अधिकारियों के नहीं, किन्तु औरों के सिपुर्द है । परन्तु सामाजिक और व्यक्ति-विषयक व्यवहारों के सम्बन्ध में जो मत रूढ़ हो गये हैं, अर्थात् आदमियों के चित्त में जो भिद से गये हैं, उनके विरुद्ध कोई आदमी किसी तरह की काररवाई न करे, इसलिए नैतिक निग्रह का अब भी उपयोग किया जाता है । अर्थात् नीति का आश्रय लेकर उसकी रोकटोक अबतक की जाती है । उपदेश, धिक्कार और धमकी आदि से किसी बात को रोकने का नाम नैतिक निग्रह है । इस प्रकार के नैतिक निग्रह से, इस समय, सामाजिक व्यवहारों में जितना काम लिया जाता है उसकी अपेक्षा व्यक्ति-विषयक व्यवहारों में बहुत अधिक लिया जाता है । मतलब यह है कि नीति से सम्बन्ध रखने वाली जितनी बातें हैं उनमें धर्म्म की झोंक या धर्म्म की मात्रा अधिक रहती है । और धर्म्म की सत्ता आजतक प्युरिटन*पन्थवालों के ही हाथ में रही है । इसलिये व्यक्तिविषयक व्यवहार की सभी बातों के सम्बन्ध में कायदे बनाकर उनका निग्रह करने की इन लोगों को बड़ी ही महत्त्वाकांक्षा थी । अकेले प्युरिटन-पन्थवालों के विषय में ही यह बात नहीं कही जा सकती । इस समय के समाज-संशोधकों ने भी इस विषय में बहुत कुछ चलविचल की है । इन लोगों में से यद्यपि बहुतों ने पुराने धार्मिक विचारों का विरोध बड़े जोरोशोर के साथ किया है, तथापि व्यक्तिविशेष के व्यवहारों का प्रतिबन्ध करने के लिए कायदे बनाने में उन्होंने उतनी ही खटपट की है जितनी कि प्युरिटन-पन्थवालों के समान धर्म्माधिकारियों ने की है । ऐसे समाजसंशोधकों में फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक काम्प्टी का पहला नम्बर है । उसने एक पुस्तक लिखी है । उसका नाम

* प्युरिटन-पंथ प्रोटेस्टेण्ट-सम्प्रदाय की एक शाखा है । इसके अनुयायी बड़े निग्रहशील होते हैं । उनका आचरण मुनियोंका ऐसा होता है । उनको खेलतमाशे पसन्द नहीं; ऐशो आराम पसन्द नहीं; अच्छा खाना पीना पसन्द नहीं । इंग्लैण्ड में क्रामवेल के समय में इन लोगों का बड़ा माहात्म्य था ।

" राजकीयसत्ताप्रणाली " है। उसमें जो अध्याय सामाजिक व्यवस्था पर है उसमें नैतिक निग्रह पर बहुत जोर दिया गया है। उसने वहां लिखा है कि समाज को चाहिए कि वह नैतिक निग्रह के द्वारा हर आदमी के कामकाज का खूब प्रतिबन्ध करे। इस सिद्धांत की उपयोगिता को साबित करने के लिए उसने इतनी खटपट की है जितनी कि पुराने दार्शनिकों में से निःसीम निग्रहवादियों की भी पुस्तकों में नहीं पाई जाती।

आज कल दुनिया में व्यक्तिविशेष के ऊपर समाज की सत्ता को बढ़ाने के लिए कुछ विचारशील पुरुषों को छोड़कर और लोगों की बेतरह कोशिशें हो रही हैं। इस सत्ता को वे लोग लोकमत और कभी कभी कानून के भी जोर-पर, खींचखांचकर, अनुचित रीति से बढ़ाना चाहते हैं। यह बहुत बुरी बात है; यह एक प्रकार का अनिष्ट है। क्योंकि इस समय संसार में जितने परि-वर्तन हो रहे हैं उन सब की झोंक समाज की शक्ति को बढ़ाने और व्यक्ति-मात्र की शक्ति को घटाने की तरफ है। इस कारण आदमी की स्वाधीनता के ऊपर लोगों की यह आक्रमण-प्रीति यह दस्तन्दाजी, यह बेजा मदाखिलत ऐसी नहीं है जो आप ही आप किसी समय दूर होजाय, अर्थात् आप ही आप जाती रहे; किन्तु दिनोंदिन उसके अधिक भयंकर होने का डर है। चाहे राजा हो चाहे मामूली आदमी—सबकी यही इच्छा रहती है, प्रत्येक पुरुष यही चाहता है, कि और लोग उसीकी समझ या प्रवृत्ति के मुताबिक उसीके मत के अनुसार बर्त्ताव करें। इस तरह की समझ, प्रवृत्ति या झुकाव को मनुष्यमात्र के कुछ बहुत ही उत्तम और कुछ बहुत ही अधम स्वाभाविक मनोविकार यहाँ तक मजबूत बना देते हैं कि बलाभाव—शक्तिहीनता—को छोड़कर और किसी बात से बहुधा उनका प्रतिबन्ध नहीं होता। अर्थात् जब तक शक्ति रहती है तब तक अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लोग जरूर ही काम करते हैं। शक्ति छिन जाने पर ही उनकी यह अनुचित प्रवृत्ति आगे बढ़ने से रुकती है। यह शक्ति घटती नहीं है; किन्तु दिनब्दिन बढ़ रही है। इससे इस अनिष्ट को, हम लोग, यदि मानसिक धैर्य्य और दृढ़ निश्चय की मजबूत दीवार उठाकर रोक न देंगे तो वह बराबर बढ़ता ही जायगा। संसार की वर्तमान अवस्था को देखकर हमें ऐसा ही डर है।

स्वाधीनतासे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातों का एक ही साथ विचार आरंभ करनेकी अपेक्षा पहले उसकी एकही शाखा का निरूपण करने में

अधिक सुभीता होगा। क्योंकि ऊपर वर्णन किया गया सिद्धान्त, उस शाखा के सम्बन्ध में, लोगों को बिलकुल तो नहीं, परन्तु, हां, बहुत कुछ मान्य है। इस शाखा का नाम विचारसम्बन्धिनी—स्वाधीनता है। लिखने और बोलने की स्वाधीनता उसीके अन्तर्गत है। इनमें परस्पर सजातीय भाव है। अर्थात् ये एक दूसरी से जुदा नहीं हैं। जो देश इस बात को प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि उनकी राज्यप्रणाली स्वाधीनता से भरी हुई है और धार्म्मिक उदारता दिखालाने में वे जरा भी कसर नहीं करते उनकी राजनीति–प्रणाली को लिखने, बोलने और विचार करने की स्वाधीनतायें बहुत कुछ मान्य जरूर हैं; परन्तु जिन व्यवहारिक बातों पर उनकी नीव पड़ी है उनसे सर्वसाधारण अच्छी तरह परिचित नहीं हैं; यहां तक कि समाजके अगुवाओं में से भी बहुत आदमी उनको पूरे तौर पर नहीं समझते। वे बातें यदि अच्छी तरह समझ में आजायंगी तो उनकी योजना, इस विषय की एक ही शाखा के निरूपण में नहीं, किन्तु और और शाखाओं के निरूपण में भी की जा सकेगी। इससे इस शाखा का पूरा पूरा विवेचन दूसरी शाखाओं के लिए एक अच्छी प्रस्तावना का काम देगा। गत तीन सौ वर्षों में, इस विषय का, बहुत कुछ विवेचन हो चुका है। तिस पर भी मैं इस विषय में एक दफे और भी कुछ कहने का साहस करता हूं। इस लिए जिन लोगों को मेरे लेख में कोई भी नई बात न देख पड़े, वे इस साहस के लिए मुझे कृपापूर्वक क्षमा करें। आशा है, वे मेरी इस क्षमा प्रार्थना को जरूर मंजूर करेंगे।

दूसरा अध्याय ।

विचार और विवेचना की स्वाधीनता ।

इस बात को सिद्ध करने के लिए कोशिश करना बेफायदा है कि गवर्नमेण्ट के अत्याचार और अनुचित या भ्रष्ट काररवाइयों से बचने के लिए अखबारों को स्वाधीनता का दिया जाना बहुत जरूरी है । अब वह समय ही नहीं है कि इसके लिए प्रमाण ढूंढ़ना या जरूरत जाहिर करना पड़े । इस बात का अब कोई प्रमाण ही न मांगेगा । आशा तो मुझे ऐसी ही है । जिस देश में प्रजाके हित और सत्ताधारी पुरुषों, अर्थात् हाकिमों, के हित में एकता नहीं है उसमें इसके विरुद्ध प्रमाण देने की जरूरत नहीं है कि हाकिम ही बतलावें कि प्रजा के मत कैसे होने चाहिए । और न इसके ही विरुद्ध प्रमाण देने की जरूरत है कि प्रजा के किन मतों, या उन मतों को पुष्ट करनेके लिए दिये गये किन मतों, या उन मतों को पुष्ट करनेके लिए दिये गये किन प्रमाणों, का योग्य विचार वे सत्ताधारी हाकिम करें और किनका न करें । अर्थात् इस बात के अनौचित्य को सप्रमाण सिद्ध करने की जरूरत नहीं कि गवर्नमेण्ट के मतों के अनुसार ही प्रजा अपने मत कायम करे, या गवर्नमेण्ट ही इस बात का नियम करे कि प्रजा के किन किन मतों, और उनको दृढ़ करने के लिए दी गई किन किन दलीलों, का वह विचार करे और किन किनका न करे । कहने का मतलब यह कि प्रजा को जो मत उचित जान पड़े उसे वह जाहिर करे । कोई भी राय कायम करके उसे जाहिर करने के विषय में गवर्नमेण्ट किसी तरह का दबाव प्रजा पर न डाले किसी तरह का प्रतिबन्ध न करे । आज तक जितने ग्रन्थकार हुए हैं उन्होंने स्वाधीनता-सम्बन्धिनी इस शाखा का इतनी दफे और इतनी उत्तमता से विचार किया

है कि यहां पर, इस विषय में; कोई विशेष बात कहने की जरूरत नहीं है। इँग्लैण्ड में ट्यूडर घराने ने १४८५ से १६०३ ईसवी तक राज्य किया। समाचारपत्र-सम्बन्धी कानून (इंग्लैण्ड में) उस समय जितना कड़ा था उतना ही यद्यपि अब भी कड़ा है तथापि इस बात का अब बहुत कम डर है कि राजनैतिक विषयों की चर्चा बन्द करने के लिए वह कानून धड़ाधड़ काम में लाया जायगा; और यदि कानून के मुताबिक जाबते की कारखाई की भी जायगी तो शायद ऐसे समय में की जायगी जब न्यायाधीश या राजमन्त्री, इस डर से कि कहीं विद्रोह न उठ खड़ा हो, कुछ काल के लिए अपनी सत्ता की मामूली मर्य्यादा, अर्थात् अधिकार की साधारण सीमा, का उल्लंघन कर जाते हैं। जिस देश की राज्य-व्यवस्था यथानियम चल रही है उसमें मामूली तौर पर इस बात की शंका करना ही ठीक नहीं कि राय जाहिर करने अर्थात् सम्मति देने, का प्रतिबन्ध करने की गवर्नमेण्ट बार बार कोशिश करेगी फिर चाहे गवर्नमेण्ट प्रजा के सामने पूरे तौर पर उत्तरदाता हो, चाहे न हो। हां, यदि खुद प्रजा ही किसी कारण से किसी सम्मति को न पसन्द करे—किसी बात को अच्छा न समझे—अतएव गवर्नमेण्ट उसका प्रतिबन्ध करे, तो बात ही दूसरी है।

मान लीजिए कि गवर्नमेण्ट का और प्रजा का मत एक है; उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं; और प्रजा की इच्छा या प्रजा की राय के विरुद्ध कोई काम करने का गवर्नमेण्ट का जरा भी इरादा नहीं। पर, इस दशा में भी, मेरा यह मत है कि समाज को खुद, या गवर्नमेण्ट के द्वारा, किसीको दबाने या तंग करने का अधिकार ही नहीं है—हक ही नहीं है। मेरी समझ में तो किसीका दमन करने या उसे सताने की शक्ति या सत्ता का अस्तित्व ही अनुचित है। गवर्नमेण्ट को इस तरह की शक्ति या सत्ता को काम में लाने का हक ही नहीं; फिर चाहे वह गवर्नमेण्ट बहुत ही अच्छी हो चाहे बहुत ही बुरी। प्रजा की राय के खिलाफ इस तरह की शक्ति काम में लाना जितना मुजिर है उतना ही, नहीं, उससे भी अधिक मुजिर प्रजा की तरफ से, अर्थात् प्रजा की राय के मुताबिक, उसे काम में लाना भी है। कल्पना कीजिए कि एक को छोड़कर दुनिया भरके आदमियों की राय एक तरह की है और अकेले एक आदमी की राय दूसरी तरह की। यह भी कल्पना कर लीजिए कि उस अकेले आदमी का सामर्थ्य बहुत

बढ़ा चढ़ा है। तो भी दुनिया भर के आदमियों का मुँह बन्द कर देना उसके लिए जैसे न्याय-संगत न होगा वैसे ही उस अकेले आदमी का मुँह बन्द कर देना दुनिया भर के आदमियों के लिए भी न्याय-संगत न होगा। राय किसी एक आदमी की निज की चीज नहीं। वह कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिससे सिर्फ मालिक ही का फायदा हो; जो सिर्फ मालिक ही के काम की हो; जिसकी कीमत दूसरों की दृष्टि में कुछ भी न हो। राय ऐसी चीज नहीं कि आदमी को उसके अनुसार बर्ताव न करने देने से सिर्फ उसीका अहित हो—सिर्फ उसीको नुकसान पहुँचे। नहीं, राय एक ऐसी बहुमूल्य वस्तु है, राय एक ऐसी कीमती चीज है, कि उसका प्रतिबन्ध करना, अर्थात् सर्व-साधारण पर उसके विदित होने के मार्ग को बन्द करना, मानों मनुष्य-जाति के सर्वस्व को लूट लेना है। किसीको अपनी राय न जाहिर करने देने से जो हानि होने की संभावना रहती है वह बड़ी ही विलक्षण है। इस प्रकार के प्रतिबन्ध से सिर्फ वर्त्तमान समय के ही आदमियों को हानि नहीं पहुँच सकती; किन्तु होनेवाली संतति को भी हानि पहुँचने का डर रहता है। फिर यह भी नहीं कि जो लोग एक राय के हैं उन्हींको हानि पहुँच सकती हो; नहीं, जिन लोगों की राय भिन्न है उन्हींकी सबसे अधिक हानि होती है। क्योंकि, यदि राय सही है, यदि मत सच्चा है, तो झूठे को छोड़कर सच्चे मत को स्वीकार करने का मौका जाता रहता है। और यदि मत झूठा है, यदि राय गलत है, तो वादविवाद में झूठे और सच्चे का मुठभेड़ होकर, सच्चे की जीत होने से, उसके विषय में चित्त पर जो पहले से अधिक असर होता है, और उसकी पहचान जो पहले से अधिक स्पष्ट हो जाती है, उस लाभ से हाथ धोना पड़ता है। इस लाभ को कम न समझना चाहिए। कोई सम्मति—कोई राय—यदि प्रकट की जाने से रोक दी जाय तो उसके प्रतिकूल पक्षवालों की भी हानि होती है; अनुकूल पक्षवालों की तो होती ही है।

यहाँ पर इन दोनों पक्षों के विषय में जुदा जुदा विचार करने की जरूरत है; क्योंकि हर एक के लिए जिन दलीलों से काम लेना है वे भी जुदा जुदा हैं। इस बात को हम कभी विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि जिस राय–जिस सम्मति–के प्रकाशन को रोकने की हम चेष्टा कर रहे हैं वह झूठी है। और यदि हमको इसका विश्वास भी हो जाय कि वह झूठी है तो भी उसे रोकने से हानि जरूर होती है। यह ऊपर कहा ही जा चुका है।

अच्छा, पहले, मैं पहली बात का विचार करता हूँ। सम्भव है कि जिस राय को अधिकार के बल पर—हुकूमत के जोर पर—अर्थात् बलात्कार से दबाने की चेष्टा की जा रही है वह सत्य हो। उसे दबाने या रोकने की इच्छा रखने वाले उसकी सत्यता को जरूर ही अस्वीकार करेंगे; उसे वे जरूर ही झूठ ठहरावेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं; और यह कोई नई बात भी नहीं। पर वे इस बात का दावा नहीं कर सकते कि वे अभ्रान्तिशील हैं; अर्थात् वे कभी गलती नहीं करते; उनसे कभी भूल नहीं होती। उनको इसका अधिकार नहीं है, उनको इसका मजाज नहीं है, कि जिस बात का सम्बन्ध सारी दुनिया से है उसका फैसला वही कर दें; अर्थात् दुनिया भर की तरफ से वही न्यायाधीश का काम करें; और बाकी सबको उसके हानि-लाभ का विचार करने से रोक दें। यदि कोई यह कहे कि जिस बातकी विवेचना का लोप करने या उसे दबाने की कोशिश की जा रही है उसका लोप करने या उसे दबाने की इच्छा रखनेवाले उसे झूठ जानते हैं; इसी लिए वे उसकी विवेचना की जरूरत नहीं समझते; तो मानो वे इस बात को कुबूल करते हैं कि उनका साधारण निश्चय और सन्देहहीन निश्चय एक ही चीज है। अर्थात् यकीन और यकीन कामिल में कोई भेद ही नहीं है—जिस निश्चय में सन्देह का अत्यन्ताभाव रहता है उसमें और मामूली निश्चय में कोई अन्तर ही नहीं है। अथवा यह कि जिस बात को वे सन्देहहीन समझते हैं उसे सारी दुनिया भी वास्तव में सन्देहहीन समझती है। विचार, विवेचना, तकरीर या बहस को बिलकुल ही बन्द कर देना मानो प्रमादहीन, निर्भ्रान्त, अस्खलितबुद्धि या अचूक होने का दावा करना है। अतएव इस बात का खण्डन करने के लिए, कि किसीकी कुछ न सुनकर किसी बात की विवेचना को बन्द करना बड़ी भारी भूल है, यही दलील काफी है। जो प्रमाण यहाँपर दिया गया है वही बस है। यह प्रमाण यद्यपि एक साधारण प्रमाण है--यह दलील यद्यपि एक मामूली दलील है--तथापि इसके साधारण या मामूली होने से इसकी कीमत कम नहीं हो सकती।

जब लोग किसी बात का विचार तात्त्विक या शास्त्रीय दृष्टि से करते हैं त वे अपनेको जितना भ्रान्तिशील, स्खलितबुद्धि या सचूक समझते हैं उतना व्यावहारिक दृष्टि से उसका विचार करते समय वे नहीं समझते। यह अफसोस की बात है। हर आदमी यह जानता है कि मैं भ्रान्तिशील हूं; मैं

गलती कर सकता हूं; मैं भूल सकता हूं; तथापि बहुत कम आदमी उस भ्रान्तिशीलता से बचने के लिए कोई पेशबन्दी, पूर्वचिन्ता या प्रबन्ध करने की जरूरत समझते हैं। बहुत कम आदमियों के मन में यह बात आती है कि जिस विषय में उनको कोई सन्देह नहीं है, अर्थात् जिसे वे निश्चित जानते हैं, वह, सम्भव है, उनकी भ्रान्तिशीलता का ही उदाहरण हो। जो राजे स्वेच्छाचारी हैं अर्थात् जिनको किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं है; या जो लोग खुशामद करनेवालों से घिरे रहते हैं; या जिनकी आदत बेहद आदत होने की पड़ जाती है उनको, बहुधा सब विषयों में, यह निश्चय रहता है कि जो कुछ ये कहते हैं वह सर्वथा सच है। यह उनका दुर्भाग्य है। पर, कुछ लोग ऐसे हैं जो उनसे अधिक भाग्यशाली हैं; जिनकी स्थिति कुछ अच्छी है। ऐसे आदमियों को कभी कभी अपनी राय के खिलाफ विवेचना या बहस सुननेका मौका मिलता है। यदि उनकी राय--उनकी सम्मति--गलत होती है तो उसके विषय में दूसरों की की हुई समालोचना सुनकर उसे दुरुस्त कर लेने की उन्हें आदत रहती है। यह नहीं कि इस तरह की समालोचना सुनने की उन्हें बिलकुल ही आदत न हो। ऐसे आदमी अपनी सिर्फ उन्हीं बातों को निर्विवाद, निश्चित और सच्ची समझते हैं जो बातें उन लोगों की बातों से मेल खाती हैं जिनका आदर करने की उन्हें आदत पड़ रही है या जो उन्हें हमेशा घेरे रहते हैं। क्योंकि केवल अपनी बुद्धि, या अपने ज्ञान, या अपनी विचारणा पर आदमी का विश्वास जितना कम होता है उतना ही संसार की प्रमादहीनता या निर्भ्रमता पर उसका विश्वास अधिक होता है। यह एक साधारण नियम है। और हर आदमीका संसार उतना ही समझना चाहिए जितने से उसे काम पड़ता है। संसारके जिस हिस्से से उसका सम्बन्ध है वही उसका संसार है। अर्थात् उसका दल, उसका धर्म्म, उसका पन्थ, उसकी जाति--यही उसका संसार है। जो आदमी जिस युग या जिस देश में रहता है वह यदि उसे ही दुनिया मानता है, अर्थात् " दुनिया " या " संसार " शब्द का वह उतना ही व्यापक अर्थ समझता है, तो वह उसी परिमाण में उदारचरित या विशालचेता कहा जा सकता है। दूसरे युग, दूसरे देश, दूसरे पन्थ, दूसरे धर्म्म, दूसरे पक्ष और दूसरी जात के आदमियों की राय मेरी राय से बिलकुल उलटी थी, या अब भी उलटी है, यह मालूम हो जाने पर भी, अपनी राय के विषय में आदमी का

विश्वास जरा भी कम नहीं होता। वह समझता है कि जिस बात को सब लोग निर्भ्रान्त कहते हैं; जिसे सब लोग ठीक बतलाते हैं; वह अवश्य ही निर्भ्रान्त होगी; वह अवश्य ही अचूक होगी। जिन लोगों की राय वैसी नहीं है उनकी दुनिया की वह कुछ परवा नहीं करता। अर्थात् अपनी राय को सही और उनकी राय को गलत साबित करने की वह जरूरत ही नहीं समझता। जिसको वह अपनी दुनिया समझता है सिर्फ उसी की राय का वह खयाल रखता है। उसके मन में यह बात कभी नहीं आती कि किसी एक संसार–किसी एक दुनियाके मतपर विश्वास करना सिर्फ इत्तिफाक की बात है, सिर्फ एक आकस्मिक घटना है। अर्थात् दैवयोग से उस संसार में पैदा होने या रहने ही के कारण वह उसकी सम्मति पर विश्वास करता है। यहाँ पर संसार से मतलब सिर्फ उस देश या समाज से है जहां आदमी पैदा होता या रहता है। क्योंकि वह अपने ही देश या समाज की राय को जगत् की राय समझता है। इस तरह जगत् को बहुत ही परिमित अर्थ में व्यवहार करने से दुनिया में सैकड़ों जगत् हो सकते हैं। उन्हीसे यहां अभिप्राय है। आदमी इस बात का विचार नहीं करता कि जिन कारणोंसे लन्दन में वह क्रिश्चियन हुवा उन्हीं कारणोंसे पेकिन में वह बुध या कन्फूशियन धर्म्म का अनुयायी होता। वह कभी इस तरह की शङ्का ही नहीं करता। तथापि व्यक्ति–विशेष जैसे भूल कर सकता है—एक आदमी से जैसे गलती हो सकती है–वैसे ही एक युग, एक पुश्त, या एक पीढ़ीसे भी भूल हो सकती है। यह बात स्वयंसिद्ध है; और, आवश्यकता होने पर, जितनी दलीलों से चाहिए उतनी से साबित भी की जा सकती है। हर युग या पुश्त के बहुत से मत ऐसे थे जो अगली पुश्त के लोगों को भ्रांतिमूलक या झूठे ही नहीं किन्तु असङ्गत, बुद्धिविरुद्ध और अनर्थक मालूम हुए हैं। इस बात का गवाह इतिहास है। और यह भी निर्भ्रान्त है—इसमें भी सन्देह नहीं है—कि पहले जमाने की बहुतसी बातें जैसे इस समय कोई नहीं मानता वैसे ही बहुतसी बातें, जो इस समय सब को मान्य हो रही हैं, आगे न मानी जायंगी।

सम्भव है कि जो दलीलें यहां पर पेश की गईं—जिस तरह के विचार यहां पर प्रकट किये गये—उनके विरुद्ध लोग कुछ कहें। विरोधियों की दलीलें शायद इस तरह की होंगी। अपनी बुद्धि के अनुसार, अपने मनोदेवता पर विश्वास करके, अपनी ही जिम्मेदारी पर जिस तरह अधिकारी पुरुष और बातों

को करते हैं उसी तरह किसी भ्रामक मत या किसी गलत राय का प्रतिबन्ध भी यदि वे करें तो उन पर अधिक अप्रमादशीलत्व दिखलाने का दोष नहीं आ सकता । अर्थात् और बातों को करते देख जब लोग अधिकारियों को अभ्रान्तिशील नहीं कहते, तब किसी अनुचित मत के प्रचार को रोकने के सम्बन्ध में भी वे वैसा नहीं कह सकते । दोनों प्रकार के कामों में भ्रान्तिशीलत्व, अर्थात् गलती करने का स्वभाव, एकसा है । फिर शिकायत क्यों ? किसी बात के सम्बन्ध में हाकिम लोग जो निश्चय करते हैं वह वे इस लिए करते हैं कि आदमी उसका सदुपयोग करके उससे फायदा उठावें सम्भव है उसका उपयोग करने में—उसे काम में लाने में—लोग भूल करें। तो क्या इस भूल के डर से लोगों से यह कह देना चाहिए कि वे उसका बिलकुल ही उपयोग न करें ? जो बात मुजिर, हानिकर या घातक मालूम होती है उसे रोकने की कोशिश करना अप्रमादशील होने का चिह्न नहीं है । किसी बुरी बात को रोकने से यह नहीं जाहिर होता कि रोकनेवाला यह दावा करता है कि उससे कभी गलती नहीं होती । किन्तु उससे इतना ही अर्थ निकलता है कि यद्यपि वह प्रमादशील है, यद्यपि उससे भूल होती है, तथापि अपनी समझ के अनुसार जो निश्चय लाभकारक जान पड़ता है उसके अनुसार व्यवहार करना उसका कर्तव्य है, उसका धर्म्म है, उसका फर्ज है । इस डर से कि उसके निश्चय, उसके मत, उसकी राय में भूल होना सम्भव है, यदि वह उसके अनुसार कभी कोई काम ही न करे, तो क्या वह अपने हित की बातों की तरफ बिलकुल ही ध्यान न दे और अपने कर्तव्यों को बेकिये हुए पड़े रहने दे ? भूल करने के डर का अत्यन्ताभाव कभी होने का नहीं । तो क्या आदमी चुपचाप बैठा रहे ? प्रमादशीलता का यह आक्षेप—गलती करने का यह उज्र सब बातों के विषय में किया जा सकता है । इसलिए जब इस आक्षेप की व्याप्ति सभी बातों में ढूंढ निकाली जा सकती है तब किसी विशेष बात में इसकी व्याप्ति न्यायसङ्गत, सप्रमाण, या अखण्डनीय नहीं मानी जा सकती । अर्थात् ऐसी सर्वव्यापक आपत्ति किसी भी काम में उचित नहीं समझी जा सकती । गवर्नमेण्ट का, और हर आदमी का भी, धर्म्म है कि वह यथासम्भव सच्चा निश्चय करे, पर करे बहुत समझ बूझकर । और जब तक उसके सच्चे होने का पूरा विश्वास न हो जाय तब तक उसे लोगों पर न लादे—अर्थात् उसके अनुसार काम करने के लिए लोगों को लाचार न करे । परन्तु

जब उसे इस बात का दृढ़ विश्वास हो जाय कि कोई निश्चय या कोई मत सच्चा है तब यदि वह उसके अनुसार बर्ताव न करे तो वह निरी कापुरुषता है—कोरी नामर्दी है। जिस बात के करने को आत्मा गवाही नहीं देती, जी नहीं चाहता, उसे करना डरपोकपन या कायरता के सिवा और क्या कहा जा सकता है? ऐसा काम हरगिज मनोनुकूल नहीं; हरगिज आत्मानुरूप नहीं। पहले लोग कम ज्ञानसम्पन्न और कम समझदार थे। इसलिए उन्होंने बहुत सी बातों को, जिन्हें हम अब अच्छा समझते हैं, नहीं प्रचलित होने दिया; उनके प्रचार में उन्होंने विघ्न डाला। इस बुनियाद पर, इस समय, जिन बातों का प्रचार इस लोक और परलोक में भी आदमियों के लिए लोग विश्वासपूर्वक सचमुच ही अनिष्टकारक या बुरा समझते हैं उनको रोकना नामर्दी का काम नहीं तो क्या है? यदि यह कहा जाय कि जो भूलें पुराने जमाने में लोगों ने की हैं वे हम न करें, इसलिए हमें सचेत रहना चाहिए तो ऐसी और भी तो बहुतसी बातें हैं जिनके विषय में यही दलील पेश की जा सकती है। पुरानी गवर्नमेण्टों ने कितने ही विषयों में भूलें की हैं; पर वे विषय इस समय त्याज्य नहीं समझे जाते। उदाहरण के लिए उन्होंने बहुतसे ऐसे कर लगाये जो अनुचित थे और बहुतसी ऐसी लड़ाइयाँ लड़ीं जो बेफायदा थीं—अन्यायपूर्ण थीं। तो क्या कर लगाना अब हम बिलकुल ही बन्द कर दें; और, चाहे कोई जितनी छेड़ छाड़ करे, उससे क्या अब हम लड़ाई करें ही नहीं? आदमियों की, और गवर्नमेण्ट की, जितनी शक्ति हो उसका सबसे अच्छा उपयोग करना चाहिए। पूरा निश्चय, सर्वथा निःसन्देह निश्चय, या यकीन-कामिल कोई चीज नहीं। पर आदमी के सांसारिक काम चला लेने भर के लिए जितनी निश्चयात्मकता, जितनी असन्दिग्धता, या जितनी अप्रमादशीलता दरकार है उतनी संसार में अवश्य काफी है। मतलब भर के लिए वह जरूर विद्यमान है। अपने निर्वाह के लिए—अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए—अपने मत या अपने निश्चयों को सच मानने में कोई हानि नहीं। अथवा यों कहना चाहिए कि उन्हें सच माने विना काम ही नहीं चल सकता; उन्हें सच मानना ही पड़ता है। अतएव जो बातें हमको झूठ और हानिकारक जान पड़ती हैं उनके प्रचार द्वारा बुरे आदमी यदि समाज को बिगाड़ना चाहें और हम उनको रोकें, तो यह हरगिज न समझना चाहिए कि हम अभ्रान्तिशील होने का दावा करते हैं। हम सिर्फ इतना ही करते हैं

जितना करना हम अपना फर्ज समझते हैं; और ऐसा करने में, जो कुछ हम ऊपर कह आये हैं, उससे हम जरा भी आगे नहीं जाते ।

इसका जवाब यह है कि इस प्रकार का प्रतिबन्ध करना, अर्थात् इस तरह के निश्चय पर विश्वास करके कोई काम करना औचित्य की सीमा के बाहर जाना है—मुनासिब हद के आगे बढ़ना है । जो बात खण्डन के लिए बहुत मौके देने पर भी खण्डित न होने से सच मान ली जाती है वह, और खण्डन के लिए मौका ही न देने पर जो सच मान ली जाती है वह, इन दोनों में बड़ा अन्तर है । उचित यह है कि हम अपनी सम्मति का खण्डन करके उसे झूठी ठहराने के लिए लोगों को पूरी स्वाधीनता दें । ऐसा करने पर यदि वह प्रमाणपूर्वक खण्डित होने से बच जाय तो हम उसे सच और युक्तिसंगत मानें और तभी हम उसका उपयोग करें । जब तक इस शर्त के मुताबिक काम नहीं किया जायगा; जब तक इस नियम के अनुसार काररवाई नहीं होगी; तब तक झूठ और सच का निर्णय भी न होगा । लोगों को इस बात का विश्वास दिलाने के लिए कि अमुक बात सच, अतएव न्याय्य है, यह शर्त सब से प्रधान है । सारा दारोमदार इसी पर है । यदि हम अपनी राय, अपनी सम्मति या अपने निश्चय का खण्डनमण्डन करके, उसे झूठ या सच साबित करनेके लिए, किसीको मौका न दें तो जिसे ईश्वर ने बुद्धि दी है उसे और किसी तरह इस बात का पूरे तौर पर विश्वास कभी न होगा कि जो कुछ हम कहते हैं वह सही है ।

जब हम आदमियों की सम्मतियों के इतिहास का विचार करते हैं, अर्थात् इस बात को सोचते हैं कि, समय समय पर, आदमियों के खयालात किस तरह बदलते गये; अथवा, जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि आदमियों के बर्ताव में कैसे कैसे परिवर्तन होते गये, तब हमारे मन में यह बात आती है कि क्या कारण है जो लोगों के खयालात और आचरण जैसे हैं उससे अधिक खराब नहीं हो गये ? आदमियों ने जो इन बातों को बिगड़ने से नहीं बचाया उसका कारण आदमियों की समझ या बुद्धि हरगिज नहीं । क्योंकि जो बात स्वयंसिद्ध नहीं है, अर्थात् बहुत ही स्पष्ट होने के कारण जिसके सूक्ष्म विचार की जरूरत नहीं है, उसे छोड़कर और सब बातों को समझने और उनके सम्बन्ध में योग्यायोग्य विचार करने वाला यदि कहीं सौ में एक है तो निन्नानवे ऐसे हैं जो उन बातों को बिलकुल ही नहीं सम-

झते और उनके विषय में विचार करने की योग्यता बिलकुल ही नहीं रखते हैं। अच्छा, सौ में उस एक की योग्यता भी बहुत बढ़ी चढ़ी नहीं; वह भी अन्यसापेक्ष्य है; वह भी दूसरे की सहायता का मुहताज है। पुराने जमाने में हर पीढ़ी के कितने ही नामी आदमियों के कितने ही निश्चय, इस समय, भ्रान्तिमूलक सिद्ध हुए हैं—भूलों से भरे हुए प्रमाणित हुए हैं। उन्होंने खुद बहुतसे काम ऐसे किये या दूसरों के द्वारा किये गये बहुतसे ऐसे काम मंजूर कर लिए, जिनको इस समय, कोई भी न्यायसंगत नहीं कहता; कोई भी उचित नहीं बतलाता। फिर क्या कारण है जो, इस समय, सब कहीं युक्तिपूर्ण मतों और युक्तिपूर्ण व्यवहारों की इतनी अधिकता है? अर्थात्, क्यों लोग उन्ही बातोंको अधिक पसन्द करते हैं—क्यों उन्हीं व्यवहारों को अच्छा समझते हैं—जो युक्तिपूर्ण न्यायसङ्गत या उचित जान पड़ते हैं? इस तरह के विचारों की अधिकता का कारण, मेरी समझ में, मनुष्यके मन का एक धर्म्म विशेष है। अर्थात् मनुष्य के मनका स्वभाव या झुकाव ही ऐसा है कि उसे युक्तिसङ्गत बातें अधिक अच्छी लगती हैं। बुद्धिमत्ता और न्यायशीलता के सम्बन्ध में जितनी बातें आदमी में अच्छी देख पड़ती हैं उन सबका भी कारण मनुष्यका धर्म्म-विशेष या स्वभाव-विशेष है। यदि आदमियों की दशा बिलकुल ही नहीं बिगड़ गई; यदि उनका आचरण बिलकुल ही भ्रष्ट नहीं हो गया; तो इस तरह के धर्म्म की अधिकता का होना स्वाभाविक बात है। इस धर्म्म या इस स्वभाव का माम मिथ्यात्वसंशोधन है। अपनी भूलों को दुरुस्त करनेकी तरफ मनुष्य की प्रवृत्ति आप ही आप होती है। मतलब यह कि विचार, विवेचना और तजरुबा के द्वारा भ्रममूलक बातोंका संशोधन करने की योग्यता मनुष्य में स्वभावसिद्ध है। भ्रांतिमूलक बातों का संशोधन या निराकरण सिर्फ तजरुबे ही से नहीं हो सकता। उसके लिए विवेचना और विचार की भी जरूरत नहीं रहती है। विना विचार किये—विना विवेचना किये—यह नहीं जाना जा सकता कि तजरुबा किस तरह काम में लाया जाय। अर्थात् यदि खूब विवेचना न हो तो यह बात अच्छी तरह ध्यान में न आवे कि जो तजरुबा हुआ है उससे किस तरह फायदा उठाया जाय और उसकी किस तरह योजना की जाय। भ्रान्तिमूलक बातें और व्यावहारिक रीतियां तजरुबा और विवेचना के जोर से धीरे धीरे दूर हो जाती हैं। परन्तु मन पर थोड़ा भी प्रभाव अर्थात् असर पैदा करने के लिए तजरुबे

से सम्बन्ध रखनेवाली दलीलों को मन के सामने जरूर लाना चाहिए। ऐसी बातें बहुत ही थोड़ी हैं जिनका मतलब विना विवेचना, टीका या स्पष्टीकरण के समझ में आ सकता है। इससे आदमी के मनोनिश्चय या भलेबुरे के समझने की शक्ति में भूल होने पर उसके जिस धर्म्म के द्वारा उसका सुधार, निरसन या निराकरण किया जा सकता है सारा दारोमदार उसी पर है। उस मनोनिश्चय का सब बल और सब महत्त्व उसी स्वभावसिद्ध मनुष्य-धर्म्म पर अवलम्बित है। अतएव उस मनोनिश्चय को भ्रम में पड़ने से बचाने के लिए अनुभव और विवेचनारूपी साधन आदमीको हमेशा अपने पास तैयार रखने चाहिए। तभी उस निश्चय पर विश्वास किया जा सकेगा; अन्यथा नहीं। किसी आदमीका निश्चय, निर्णय या मत यदि विश्वसनीय है तो क्यों? क्योंकि अपने निर्णय और अपने आचरण की समालोचना सुनने को वह हमेशा तैयार रहता है, क्योंकि जो कोई उसके खिलाफ कुछ कहता है उसे वह बुरा नहीं समझता। क्योंकि अपने चालचलन और खयालात की आलोचना या टीका में जो कुछ ग्राह्य, न्याय्य या उचित जान पड़ता है उससे वह लाभ उठाता है; और जो भ्रान्तिमूलक या गलत जान पड़ता है उस पर वह विचार करता है और मौका आने पर अपनी भूलें वह औरों को स्पष्ट करके बतलाता भी है। क्योंकि वह यह समझता है कि दुनिया में किसी चीज का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त करने का सिर्फ एक यही मार्ग है कि जितने आदमी अपने मत के विरुद्ध हों उनके कथन को, उनकी दलीलों को, मनुष्य ध्यान-पूर्वक सुने और उन सबका अच्छी तरह विचार करे। आजतक जितने ज्ञान-वान हुए हैं उन्होंने इस तरीके के सिवा किसी और तरीके से ज्ञान नहीं सम्पादन किया; उनको जो कुछ अक्ल मिली है इसी तरह मिली है। सच तो यह है कि किसी दूसरे मार्ग से, किसी दूसरी तरकीब से, किसी और तरीके से, सज्ञान, बुद्धिमान या अक्लमन्द होना आदमी के लिए मुमकिन ही नहीं। अपनी राय का औरों की रायसे मिलान करके उसका शोधन करने और उसे पूर्णावस्था या कमाल दरजे को पहुंचाने की धीरे धीरे आदत डालने से ही अपनी राय के अनुसार काम करने में आदमी को किसी तरह का संशय या सङ्कोच नहीं होता। यही नहीं, किन्तु अपनी राय के सच्ची होने के सप्रमाण विश्वास का वही दृढ़ आधार होता है। अर्थात् अपने मत का दूसरों के मत से मुकाबला करके उसका संशोधन कर लेना मानों अपने

मत के सच्चे होने की नीव कों खूब मजबूत कर लेना है ; क्योंकि अपने मत, निश्चय या निर्णय के विरुद्ध जितने आक्षेप स्पष्ट रूप से हो सकते हैं वे सब मालूम हो जाते हैं; आक्षेपों और प्रतिबन्धों को रोकने की कोशिश न करके उनके रास्ते को खुला रखने और उनके अनुसार अपने मत का संशोधन करने से विरोधियों को कुछ कहने के लिए जगह नहीं रह जाती है; और जहां कहीं जिस किसीकी उक्ति में जो कुछ जानने लायक होता है वह जान. कर उससे फायदा उठा लिया जाता है। अतएव, जिस आदमी या जिस जनसमुदाय ने अपने मत या अपने निश्चय को इस तरह की कसौटी पर नहीं कसा उसके किये हुए निर्णय की अपेक्षा अपने निर्णय या अपनी सारासार बुद्धि को अधिक विश्वसनीय और अधिक प्रामाणिक मान लेने का हक या अधिकार आदमी को प्राप्त हो जाता है।

दुनिया में जो सबसे अधिक बुद्धिमान् हैं और जिनको अपने मत, निश्चय या निर्णय को सबसे अधिक विश्वसनीय मान लेने का अधिकार है वे भी जब अपनी राय को ऊपर बतलाई गई कसौटी पर कसने की जरूरत समझते हैं, तब, यदि, हम, थोड़े बुद्धिमान् और बहुत मूर्खों के समुदाय से बने हुए समाज की राय को वैसी ही कसौटी में कसने की जरूरत समझते हैं तो क्या बुरा करते हैं ? क्रिश्चियन धर्म्म में रोमन-कैथलिक-सम्प्रदाय सब सम्प्रदायों से अधिक अनुदार है—अर्थात् मतभेद को वह बहुत ही कम बरदास्त करता है। इस सम्प्रदाय में जब कोई साधु मरजाता है तब एक जलसा होता है। उसमें यह विचार किया जाता है कि उस मरे हुए साधु को महात्मा की पदवी देना चाहिए या नहीं। उस समय जो आदमी इस तरह की पदवी देने के खिलाफ कुछ कहता है उसे इस सम्प्रदाय के अगुवा "शैतान का वकील" कहते हैं। पर वे लोग इस मौके पर, "शैतान के वकील" की भी बातों को चुपचाप सुन लेते हैं। इससे यह सूचित होता है कि आदमी चाहे जितना पुण्यात्मा या पवित्र हो, जब तक उसके कृत्यों पर उसके पाप-पुण्य विचार नहीं होता, और उसके विरोधी जो कुछ उसके खिलाफ कहते हैं उसे सुनकर उसका निर्णय नहीं कर लिया जाता, तब तक उस पुण्यशील पुरुष की गिनती भी महात्माओं में नहीं होती। देखिए, न्यूटन कितना बड़ा दार्शनिक और ज्ञानी था। पर उसके वैज्ञानिक और शास्त्रीय सिद्धान्तों पर लोग यदि आक्षेप न करते और उनकी खूब समालोचना न

होती तो वे, इस समय, जितने अखण्डनीय और जितने सच्चे मालूम होते हैं उतने हरगिज न मालूम होते; और आदमी उन पर उतना विश्वास हरगिज न करते जितना वे इस समय करते हैं। जिन बातों को हम अत्यन्त विश्वसनीय और सच्ची समझते हैं उनको मनुष्यमात्र के सामने रखकर हमें यह कहना चाहिए कि यदि किसीमें शक्ति हो तो वह उनको झूठ साबित करे। हमको चाहिए कि हम लोगों को आह्वान करें, हम उनको चुनौती दें, कि यदि हमारी सम्मति सदोष हो तो वे उसका खण्डन करें। यदि किसीने हमारी ललकार को, हमारे प्रचारण को न मंजूर किया अर्थात् हमारी बात, को गलत साबित करने की न कोशिश की; या कोशिश करने पर यदि उसे कामयाबी न हुई, तो भी हमको यह न समझना चाहिए कि हमारी बात सच है; हमारा किया हुआ निश्चय विश्वसनीय है। हरगिज नहीं। उससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि आदमी की जितनी शक्ति है उतना करने में हमने कसर नहीं की; जो कुछ सम्भव था वह हमने किया। अर्थात् सत्य के जानने के जितने मार्ग थे उनमें से एक की भी हमने उपेक्षा नहीं की; सत्य को अपने पास तक पहुंचने के जितने रास्ते थे एक को भी रोक देने का हमने यत्न नहीं किया। सत्य की प्राप्ति के सब दरवाजों को खुले रखने से हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि यदि हमारे मत से भी अधिक सच्चा मत संसार में है तो जिस समय मनुष्य का मन उसे पाने का पात्र होगा—मनुष्य की बुद्धि उसे ग्रहण करने के योग्य होगी—उस समय वह आप से आप मालूम हो जायगा। तब तक हमको इसीसे सन्तोष करना चाहिए कि अपने समय में जहाँ तक सत्यता की प्राप्ति संभव थी जहाँ तक हमने पा ली। मनुष्य प्रमादशील है; उससे भूल होती ही है। उसे सत्यता का इतना ही ज्ञान हो सकता है और उस ज्ञान की प्राप्ति का सिर्फ यही एक द्वार है।

आदमी इस बात को तो मानते हैं कि साधारण रीति पर अप्रतिबद्ध विवेचना, अर्थात् बेरोक विचार करने की स्वाधीनता, का होना अच्छा है। इसके समर्थन में प्रमाण देने और दलीलों को पेश करने की भी वे आवश्यकता समझते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि सभी बातों के विषय में विचार करने की अप्रतिबन्धकता को वे अच्छा नहीं समझते। वे यह नहीं सोचते कि जो नियम व्यापक नहीं, जो नियम सब कहीं बराबर काम नहीं दे सकते, वे कहीं भी काम नहीं दे सकते। जो लोग यह कहते हैं कि जिन

विषयों में कुछ भी सन्देह है उन पर विचार करने के लिए किसी तरह की प्रतिबन्धकता न होना चाहिए। वही यह भी कहते हैं कि किसी किसी विशेष बात, राय, निश्चय या सिद्धान्त के विषय में किसीको कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। यदि उनसे कोई इसका कारण पूछता है तो वे कहते हैं कि अमुक बात के सच होने में हमें जरा भी सन्देह नहीं है। इसलिए उस-पर विचार या वाद-विवाद करने की हम कोई जरूरत नहीं समझते। यह और भी अधिक आश्चर्य्य की बात है। ऐसे आदमियों के ध्यान में यह बात नहीं आती कि इस तरह वाद-विवाद अर्थात् विवेचना को रोकने की चेष्टा करने में अभ्रान्तिशीलता का दावा होता है। अर्थात् किसी विशेष बात को सच मान लेना और उसके विषय में किसीको कुछ भी न कहने देना मानों यह सूचित करना है कि हम अभ्रान्तिशील हैं; हमको कभी भ्रम नहीं होता; हम कभी गलती नहीं करते। वे समझते हैं कि उनको कोई सन्देह नहीं; इसलिए किसीको सन्देह न होगा। वे उस बात या राय को इसलिए निश्चित जानते हैं, क्योंकि वे उसे वैसा समझते हैं। किसी बात के खण्डन करने की इच्छा रखनेवाले एक भी आदमी के होते उसे खण्डन करने का मौका न देकर अपनी बात को सच मान लेना मानों यह जाहिर करना है कि, हमको, और जिन लोगों की राय हमारी राय से मिलती है उनको, ईश्वर ने झूठ-सच का निर्णय करने की सनद दे रक्खी है। अतएव अपने प्रतिपक्षियों के, अपने विरोधियों के प्रमाण सुनने की हमें बिलकुल जरूरत नहीं। अर्थात् सिर्फ हम और हमारे साथियों ही को इस बात के विचार करने का मजाज है; हम और हमारे साथियों ही के इजलास में इस बात का फैसला हो सकता है। हम जज और हमारे साथी जज। दूसरा कोई नहीं।

आज कल वह समय लगा है कि लोगों को विश्वास तो किसी बात पर नहीं; पर अविश्वास जाहिर करने में उनको डर बेतरह लगता है। इस समय कोई भी विश्वासपूर्वक यह नहीं कहता कि हमारा मत बिलकुल सच्चा है—जो राय हमारी है उसमें शंका करने को जरा भी जगह नहीं है—परन्तु लोग यह समझते हैं कि यदि हमारे मत निश्चित न होंगे, यदि हम विशेष विशेष बातों पर दृढ़ न रहेंगे, तो हमारा काम ही न चलेगा; तो संसार में रहना हमारे लिए मुश्किल होजायगा। आदमी यह नहीं कहते कि अमुक बात,

अमुक राय या अमुक सम्मति निर्दोष है । इसलिए उस पर आक्षेप करने, उसके दोष दिखलाने, की जरूरत नहीं । वे कहते क्या हैं कि अमुक राय, अमुक बात, या अमुक निश्चय से समाज का फायदा है; इसलिए उसके विषय में खण्डनमण्डन करने बैठना व्यर्थ है । अर्थात् आदमी फायदे का तो खयाल करते हैं; पर झूठ-सच का नहीं । कोई कोई यह भी कहते हैं कि कुछ बातें ऐसी हितकर हैं—यहां तक हितकर कि उनके विना काम ही नहीं चल सकता—कि उनकी रक्षा करना, अर्थात् उनका खण्डन न होने देना, गवर्नमेण्ट का उतना ही फर्ज है जितना कि समाज के फायदे की और और बातों का लोप न होने देना है । बहुत आदमियों की यह राय है कि ऐसी बातें जो निहायत जरूरी हैं, और कर्तव्य के कामों से जिनका बहुत घना सम्बन्ध है, उनके सच होने के विषय में यदि पूरा पूरा निश्चय न भी हो, तो भी, बहुमत के आधार पर उनको जारी रखना और उनके अनुसार काम करना गवर्नमेण्ट का फर्ज है । गवर्नमेण्ट को उनके मुताबिक काररवाई करना ही चाहिए । ऐसे मौके पर भ्रान्तिशीलता का खयाल करना मुनासिब नहीं । कभी कभी इस बात के सप्रमाण सिद्ध करने की कोशिश की जाती है कि जो लोग यह खयाल करते हैं कि गवर्नमेण्ट को इस तरह के हितकारक नियमों को काम में न लाना चाहिए वे भले आदमी नहीं । वे बहुधा इस बात को साफ साफ कह भी डालते हैं कि यदि तुम भले आदमी होते तो कभी ऐसा न करते । वे यह भी समझते हैं कि ऐसे आदमियों को बुराई करने से रोकना, और जो कुछ वे करना चाहें उसे न करने देना, अन्याय नहीं । औरों के साथ ऐसा व्यवहार करना वे शायद अनुचित भी समझें; पर ऐसों के साथ नहीं ।

जो लोग ऐसा खयाल करते हैं उनकी दलीलों से यह मतलब निकलता है कि किसी विषय के वाद-विवाद को रोक देना उसके सच होने पर अवलम्बित नहीं रहता; किन्तु उसकी उपयोगिता पर अवलम्बित रहता है । अर्थात् इस बात का विचार नहीं किया जाता कि वह विषय झूठ है या सच । बिचार इस बात का किया जाता है कि वह उपयोगी है या नहीं; उससे कुछ काम निकल सकता है या नहीं । और यदि कुछ काम निकलने की सम्भावना है तो उसके विषय में विवेचना द्वारा झूठसच के मालूम करने की अर्थात् किसीको उसके विरुद्ध बोलने देने की, जरूरत नहीं समझी जाती । इस तरह

की कारवाई करनेवाले—इस तरह अपने मन में सोचनेवाले—यह घमण्ड करते हैं। परन्तु, यह उनकी आत्मश्लाघा—यह उनकी अपने मुंह अपनी बड़ाई—व्यर्थ है। इन महात्माओं के ध्यान में यह बात नहीं आती कि ऐसी दलीलों से उनकी अभ्रान्तिशीलता एक इञ्च भर भी कम नहीं होती। हां, होता क्या है कि उनकी अभ्रान्तिशीलता अब तक जो एक बात के विषय में थी वह दूसरी बात के विषय में हो जाती है। क्योंकि किसी विषय को उपयोगी समझना भी सिर्फ राय की बात है। जिसे एक आदमी उपयोगी समझता है उसे सम्भव है और लोग उपयोगी न समझें। अतएव किसी विषयके उपयोगीपन को साबित करने के लिए भी विवेचना की जरूरत है। जिस तरह इसके साबित करने की जरूरत है कि कोई बात झूठ है या सच, उसी तरह इसके साबित करने की जरूरत है कि वह उपयोगी है या नहीं। यह निर्णय विन विवेचना के नहीं हो सकता। जिस बात को तुम उपयोगी समझते हो उस बात के विरोधियों को यदि तुम बोलने का मौका न दोगे और उनकी दलीलों को विना सुने ही उसे उपयोगी मान लोगे तो अभ्रान्तिशीलता का आरोप तुम्हारे ऊपर से हरगिज नहीं हट सकता। शायद तुम कहोगे कि तुमने अपने विरोधियों को अपनी बात के झूठ या सच होने के विषयमें बोलने की अनुमति नहीं दी; पर उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता के विषय में बोलनेकी अनुमति तो दी है। परन्तु इस बहाने से काम न चलेगा। तुम्हारी यह दलील कोई दलील नहीं। किसी बात, राय या सम्मति की उपयोगिता उसके सच्चेपन का—उसकी सत्यता का—ही एक अंश है। अर्थात् जो बात सच नहीं है वह कभी उपयोगी नहीं हो सकती। जब मन में यह विचार आता है कि कोई बात विश्वास करने के लायक है या नहीं तब क्या यह सम्भव है कि उसके झूठ या सच होनेका विचार मन में न पैदा हो? जो मत, या विश्वास सच नहीं है उससे कभी फायदा न होगा; वह कभी उपयोगी न होगा। जिनको तुम बुरा कहते हो, यह मत, उन्हीं-का नहीं है; जो निहायत भले हैं, जो सज्जनों के शिरोमणि हैं, उनका भी है। जिस बात को तुम उपयोगी और अच्छा कहते हो वह यदि इन सज्जन-शिरोमणियों को झूठ मालूम हुई तो वे उसे हरगिज कबूल न करेंगे। इस हालत में यदि तुम उन पर अपनी बात को कबूल न करने का इलजाम लगावोगे तो वे फौरन यह कह देंगे कि तुम्हारी बात झूठ है—तुम्हारी राय

ठीक नहीं है—इसीसे वे उसे मंजूर नहीं करते। क्या तुम उनको ऐसा उज्र पेश करने से रोक सकोगे? क्या तुम उनका प्रतिबन्ध कर सकोगे? हरगिज नहीं। जो रूढ़ि के दास हैं, जो रीतिरवाज के अभिमानी हैं, वे अपनी राय के अनुकूल प्रमाण देते समय इस आक्षेप से यथासम्भव जरूर फायदा उठाते हैं। जिस समय वे अपने मत के अनुकूल दलीलें पेश करते हैं उस समय वे उपयोगिता को सत्यतासे कभी अलग नहीं करते। अर्थात् उपयोगिता को सत्यता का अंश समझकर जो कुछ उन्हें कहना होता है वे कहते हैं। उपयोगिता और सत्यता को वे कभी भिन्न भिन्न नहीं समझते। उलटा वे यह कहते हैं कि हमारा मत सच है। इसीलिए उसको जानने और उस पर विश्वास करने की हम इतनी जरूरत समझते हैं। इस तरह के प्रमाण देने में रूढ़-मतवालोंका प्रतिबन्ध न करना और उनके विरोधियों को वैसे प्रमाण देने से रोकना अन्याय है। ऐसी काररवाई से उपयोगिता की दलील का उचित विवेचन—उनका न्याय-सङ्गत फैसला—कभी नहीं हो सकता। जब कानून या जन-समुदाय का आग्रह किसी बात के सम्बन्ध में उसकी सत्यता को नहीं साबित करने देता तब यदि उसकी उपयोगिता या अनुपयोगिता के सम्बन्धमें कोई शङ्का-समाधान करने लगा, तो लोग उसे बिलकुल नहीं बरदास्त कर सकते। किसी बात की सत्यता पर जब उनको कुछ भी कहने का मौका नहीं दिया जाता तब उसकी उपयोगिता पर वे क्यों कुछ सुनने लगे? बहुत हुआ तो वे इस बात को मंजूर कर लेते हैं कि किसी मत-विशेष—किसी खास राय—की अत्यावश्यकता को मान लेने या उसका धिक्कार करने से होनेवाले अपराध की मात्रा, हम जितनी समझते थे, उससे कम है।

जो बात उनको पसन्द नहीं है उसकी विवेचना करने और उसके विषय में साधकबाधक प्रमाण देने की इच्छा रखनेवालों को रोकने से बहुत नुकसान होता है। उनकी राय को—उनकी दलीलों को—न सुनने से बहुत अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। इस बात के अच्छी तरह ध्यान में आने के लिए उदाहरणों की जरूरत है। उदाहरण देकर विवेचना करने से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायगी और खूब अच्छी तरह ध्यान में आजायगी। मैं, इस विषय में, ऐसे उदाहरण देना चाहता हूं जो मेरे बहुत ही कम अनुकूल हैं; अर्थात् जो मेरे बहुत ही कम फायदे के हैं। मैं जानबूझकर ऐसे उदाहरण चुनचुनकर देना चाहता हूं जिनकी उपयोगिता और सत्यता, दोनों

ही का विरोध करनेवालों के खिलाफ बहुत ही मजबूत दलीलें लोग अपने पास तैयार समझते हैं। वे उदाहरण, ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास, परलोकके अस्तित्व में विश्वास और सदाचरणसम्बन्धी सर्वसम्मत बातोंपर विश्वास, ये तीन हैं। इन विषयों पर वादविवाद करनेवाले अप्रामाणिक विरोधी को बहुत फायदा रहता है। क्योंकि इन बातों पर जिनको पूरा पूरा विश्वास है ऐसे अप्रामाणिक विरोधी फौरन ही यह सवाल कर बैठते हैं (और जो लोग प्रामाणिकता की परवाह करते हैं वे अपने मन में कहते हैं) कि "क्या वे बात यही हैं जो तुम्हारी राय में इतनी निश्चित नहीं कि उनके विरुद्ध वादविवाद का प्रतिबन्ध कानून के द्वारा किया जाना मुनासिब हो? ईश्वर के अस्तित्व को मान लेना क्या उन्हीं बातों में से एक बात है जिनकी निश्चयात्मकता अर्थात् यथार्थता या सत्यता कबूल कर लेना अभ्रान्तिशील होने का दावा करना है?" ऐसे सवाल करनेवालों की आज्ञा से मैं यह पूछना चाहता हूं कि कब मैंने कहा कि किसी नियम राय या सम्मति को निश्चित मान लेना ही (फिर चाहे इसका जो अर्थ हो) अभ्रान्तिशीलता का दावा करना है? मैंने यह कभी नहीं कहा। मैं यह कहता हूं कि किसी राय या नियम के विरुद्ध जिनको जो कुछ कहना है उनके कहने को न सुनकर उस राय या नियम को सबके लिए निश्चित मान लेने का जो लोग घमण्ड करते हैं वे मानों अभ्रान्तिशील होने का दावा करते हैं। याद रखिए, जो बातें खुद मुझे अत्यन्त निश्चित और अत्यन्त सच जान पड़ती हैं यदि उनके विषय में भी कोई वैसा व्यवहार करे, अर्थात् उनके विरुद्ध किसीको कुछ कहने का मोका न दे, तो मैं उसे भी उतना ही दोषी समझूंगा, कम नहीं। किसी सम्मति या निश्चय की केवल असत्यता ही के विषय में नहीं, किन्तु उसके बुरे परिणाम के विषय में भी—और केवल बुरे परिणाम ही के विषय में नहीं, किन्तु उसकी अधार्मिकता और भ्रष्टता के विषय में भी—किसीका चाहे जितना दृढ़ विश्वास हो और उस विश्वास को देश के जनसमुदाय और सहयोगियों का चाहे जितना आधार हो, तो भी जिनकी राय वैसी है उनको उसे सप्रमाण सत्य सिद्ध करने का जो लोग मौका न देंगे वे अभ्रान्तिशीलता ग्रहण करने के दोष से हरगिज नहीं बच सकेंगे। उस सम्मति को नीति-विरुद्ध, अधार्मिक या भ्रष्ट कहदेने ही से अभ्रान्तिशीलता ग्रहण करने का आरोप कम नहीं हो सकता; और न वह कम सदोष या कम हानिकारक ही

माना जा सकता। इस प्रकार अभ्रान्तिशीलता ग्रहण करना उलटा और भी अधिक अनिष्टकारक होता है। यही वे प्रसङ्ग हैं जिनमें एक पुश्त के आदमी ऐसी ऐसी भयङ्कर गलतियाँ करते हैं जिनका खयाल करते ही अगली पुश्त-वालों को आश्चर्य होता है और उनके रोंगटे खड़े हो जाया करते हैं। यही वे प्रसङ्ग हैं जिनके कारण इतिहास में बहुत बड़े बड़े मारके की बातें हो जाया करती हैं। यही वे प्रसङ्ग हैं जिनकी प्रेरणा से कानून की बलवान् भुजा बड़े बड़े महात्मों और बड़े बड़े उदार मतों को जड़ से उखाड़कर फेंक देती है। इस बात को याद करके अपार दुःख होता है कि ऐसे ही प्रसङ्गों में पड़कर बड़े बड़े सत्पुरुषों का—बड़े बड़े महात्मों का—समूल ही निर्मूलन हो गया! पर, हां, यह जानकर कुछ सन्तोष होता है कि उनके मतोंका कुछ अंश अब तक बाकी है। जो लोग ऐसे मतों का प्रतिवाद करते हैं, जो लोग ऐसे मतों की प्रतिबन्धकता करते हैं, मानो उनकी दिल्लगी करने ही के लिए वे अब तक विद्यमान हैं; मानो अपने पक्षवालोंकी युक्तियोंको सत्य साबित करने ही के लिए वे अबतक बने हुए हैं।

इस बातकी याद दिलाने की जरूरत नहीं कि साक्रेटिश कौन था? उसे कौन नहीं जानता? उसका यश संसार में कहां नहीं फैला हुआ है? तथापि उस समय के समाज का जो मत था साक्रेटिस का मत उससे जुदा था। इसलिए दोनों में विरोध उत्पन्न हुआ। उस समय के कानून की भी राय वैसी ही थी जैसी कि समाज की थी। अर्थात् समाज और कानून दोनों का मत एक था। पर साक्रेटिस का मत उससे जुदा था। यह बात इतने महत्त्व की है कि इसका बार बार जिक्र करना भी अप्रासंगिक न होगा। जिस देश और जिस समय में साक्रेटिस का जन्म हुआ उस देश और उस समय में कितने ही बड़े बड़े आदमी होगये हैं। जो लोग साक्रेटिस से, और जिस समय वह हुआ उस समय, से अच्छी तरह परिचित थे उन्होंने लिख रक्खा है कि साक्रेटिस सबसे अधिक नीतिमान् और पुण्यात्मा था। यह उन लोगों की राय हुई। मेरी राय तो यह है कि साक्रेटिस के बाद जितने सद्गुणी, नीतिशील और धार्मिक पुरुष हुए उन सबमें वह श्रेष्ठ था। यही नहीं, किन्तु अपने अनन्तर होनेवाले सभी सात्विक पुरुषों के लिए वह आदर्शरूप था। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो क मन में दर्शनशास्त्र-सम्बन्धिनी जो उदार प्रेरणा हुई—जो उदार परिस्फूर्ति हुई—उसका कारण साक्रेटिस ही था। यहां तक

कि उपयोगिता-तत्त्व के आधार पर जगन्मान्य तत्त्वज्ञानी अरिस्टाटल ने जो सिद्धान्त स्थिर किये उनका भी प्रेरक साक्रेटिस ही था। नीतिशास्त्र के तथा और जितने दर्शनशास्त्र हैं उनके भी, उत्पादक या आचार्य प्लेटो और अरिस्टाटल ही हैं। परन्तु साक्रेटिस को उनके गुरुस्थान में समझना चाहिए। दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी जिसकी विमल कीर्ति अब तक बराबर बढ़ती ही जाती है; उसे छोड़कर बाकी के और जिन सब विद्वानों के कारण उसकी जन्मभूमि एथन्स का इतना नाम हुआ उन सबके कीर्ति-समूह से भी जिसकी कीर्ति अधिक उज्ज्वल हुआ चाहती है; उसके बाद होनेवाले सभी प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानियों का जो गुरु माना जाता है उसी साक्रेटिस पर, उसी विश्ववंद्य साधुपर, उसी पवित्रान्तःकरण पुरुष पर, उसीके देश-भाइयों ने दुर्नीति और अधार्मिकता का इल्जाम लगाया; और उसे कचहरी में घसीटकर न्यायाधीश के हुक्म से उसे प्राणान्त दण्ड दिलाकर उन्होंने कत्ल की! साक्रेटिस की अधार्मिकता यह थी कि देश भर जिन देवताओं को पूज्य समझता था उन पर उसका विश्वास न था। उस पर जिस आदमी ने मुकद्दमा चलाया था उसका कहना तो यह था साक्रेटिस का विश्वास किसी देवता पर नहीं है। यही साक्रेटिस की अधार्मिकता हुई! उसकी दुर्नीति यह थी कि, लोगों की राय में, उसने अपने सिद्धान्त और उपदेशोंसे लड़कों के खयालात को बिगाड़ दिया था। साक्रेटिस पर कचहरी में मुकद्दमा दायर होने पर जब उसका विचार हुआ तब न्यायाधीश ने उस पर लगाये गये इल्जामों के लिए उसे सचमुच ही दोषी पाया—लोगों का विश्वास ऐसा ही है। अतएव, उस समय तक के प्रायः सभी मनुष्यों में मनुष्यजाति की कृतज्ञता का जो सबसे अधिक पात्र था—अर्थात् सारी मनुष्य-जाति जिसकी सबसे जियादह अहसानमन्द थी—उसी महापुरुष, उसी महात्मा, उसी साधु शिरोमणि को एक साधारण अपराधी की तरह—एक मामूली मुलजिम की तरह—मारडाले जाने का न्यायाधीश ने हुक्म दिया।

न्यायालय में आज तक जितने विचार हुए हैं उनमें से साक्रेटिस को अपराधी ठहराने के विषय में जितना अन्याय हुआ है उतना और किसीके विषय में नहीं हुआ। और अन्यायों के उदाहरण इसके सामने कोई चीज नहीं। हां, एक उदाहरण और है जो कुछ कुछ इसकी बराबरी कर सकता है। उसे हुए अठारह सौ वर्ष से भी अधिक समय हुआ। यह उदाहरण

कालवरी * नामक पहाड़ी पर हुआ था। जिस पुरुष (अर्थात् क्राइस्ट) से मेरा अभिप्राय है वह ऐसा विलक्षण महात्मा था कि जिन्होंने उसके आचरण को देखा और जिन्होंने उसकी बातचीत सुनी उनके हृदय पर उसकी तेजस्वी नीतिमत्ता का ऐसा उत्तम नक्‌श उठ आया—ऐसा अच्छा चिह्न हो गया—कि आज लगभग दो हजार वर्ष से लोग उसे देवता मान रहे हैं, उसे सर्वशक्तिमान् समझ रहे हैं। पर ऐसे महापुरुष का बड़ी ही बुरी तरह से, बड़ी ही बेइज्जती से, वध किया गया। जानते हो क्यों उसका वध हुआ? उसे लोगों ने धर्मनिन्दक समझा! वह महात्मा आदमियों का बहुत बड़ा हितचिन्तक था। पर उन्होंने उसे नहीं पहचाना। यही नहीं, किन्तु वह जैसा था उसका बिलकुछ ही उलटा वह लोगों को मालूम हुआ। उन्होंने उसके साथ इस तरह का बर्ताव किया जिस तरह का बर्ताव एक महा अधार्मिक आदमी के साथ किया जाता है। वे उसके साथ इस बुरी तरह से पेश आये कि वे, इस समय खुद ही अधार्म्मिक माने जाते हैं। इन महाशोचनीय घटनाओं के कारण, विशेषकरके पिछली घटना के कारण, आदमियों का दिल कभी कभी ऐसा क्षुब्ध हो उठता है, कभी कभी उनको यहां तक सन्ताप होता है, कि जिन अभागी लोगों के हाथ से ये दुष्कर्म हुए उनका विचार करते समय—उनको अपराधी ठहराते समय—वे न्याय-अन्याय को बिलकुल ही भूल जाते हैं। अर्थात् वे यहांतक कुपित हो उठते हैं कि अन्याय करने लगते हैं। जिन लोगों ने ऐसे ऐसे दुष्कर्म्म किये वे दुराचारी या दुर्जन न थे। मामूली तौर के जैसे आदमी होते हैं वैसे ही वे भी थे; उनसे बुरे न थे बुरे तो क्या, किन्तु यह कहना चाहिए कि मामूली आदमियों से किसी कदर वे अच्छे थे। उस समय लोगों के मन में धर्म, नीति और स्वदेशाभिमान की जितनी मात्रा जागरूक थी उतनी, किम्बहुना उससे भी कुछ अधिक, इन हतभागियों के मन में भी थी। इसलिए कोई यह नहीं कह सकता कि अधार्मिक, दुराचारी या अनीतिमान् होने के कारण यह इन्होंने ऐसे ऐसे जघन्य काम किये। नहीं, वे उस तरह के आदमी थे जिस तरह के चाहे आजकल उत्पन्न हों चाहे और कभी अपना जीवन निर्दोषरीति पर, इज्जत के साथ, व्यतीत करते हैं।

---

* जेरुशलम के पास, थोड़ी दूर पर, कालवरी नाम की एक पहाड़ी है; वहीं पर ईसा मसीह को सूली दी गई थी।

अपने देशवासियों की समझ के अनुसार जिन शब्दों के उच्चारण करने की गिनती उस समय घोर पाप में थी, क्राइस्ट के मुँह से उनके निकलते ही घृणा, भंय और क्रोध से पागल होकर जिस पुरोहित ने अपने बदन के कपड़ों को, पापनिवारण करने के लिए, फाड़कर उनके टुकड़े टुकड़े कर डाले उसने वह काम उतना ही अन्तःकरणपूर्वक, विना किसी बनावट के, किया जितना कि, आज कल के अकसर सब धर्म्मनिष्ठ और इज्जतदार आदमी धर्म और नीति सम्बन्धी बातों को सच समझकर अन्तःकरणपूर्वक करते हैं । उस पुरोहित के इस कर्म्म का खयाल करके, इस समय, जिन लोगों को कँपकँपी छूटती है, जिनका बदन नफरत से थरथराने लगता है, वे यदि उस समय यहूदी होते तो वे भी ठीक वही करते जो उस पुरोहित ने किया । जो धर्म्माभिमानी क्रिश्चियन यह समझते हों कि अपने धर्म्म की रक्षा के लिए प्राण तक देने के लिए तैयार हुए लोगों को जिन्होंने पत्थरों से मार डाला वे उनसे बुरे थे—वे उनकी अपेक्षा बहुत अधिक दुराचारी थे—उनको याद रखना चाहिए कि जिस सेण्ट पॉल (अर्थात् पॉल नाम के साधू) को वे इतना पूज्य मानते हैं वह पत्थरों से उन मारनेवालों ही में से था ।

यदि किसीका यह मत हो कि जो आदमी भूल करता है उसकी भूलका प्रभाव या असर उसकी बुद्धि और उसके सद्गुणों के अनुसार होता है, अर्थात् जो जितना अधिक बुद्धिमान और जितना अधिक सद्गुणी है उसकी भूल की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है—तो मैं एक और उदाहरण देना चाहता हूं, और ऐसा उदाहरण देना चाहता हूं, जो बहुत ही ध्यान में रखने लायक है । अपने समकालीन लोगों में अपने को सबसे अधिक सभ्य और सबसे अधिक सच्चरित्र समझने का पात्र, यदि आज तकके सत्ताधारी और शक्तिमान् पुरुषोंमें से कोई हुआ है तो, रोम का शाहंशाह मार्कस * आरेलियस हुआ है । जितने देश सभ्यता को उस समय पहुंचे थे उन सबका वह एकछत्र राजा होकर भी आमरण उसने अत्यन्त शुद्ध और निर्दोष न्याय

* मार्कस आरेलियस बड़ा न्यायी, प्रजापालक और संयमी बादशाह था । परन्तु क्रिश्चियन धर्म्म का वह विरोधी था । क्रिश्चियनों को उसने बेहद सताया ।

किया। यही नहीं, किन्तु स्टोईक † सम्प्रदाय का होने पर भी उसका हृदय बहुत ही कोमल था। यह बात बड़े आश्चर्य की है। इस बादशाह में कुछ दोष भी थे। पर वे दोष ऐसे थे जिनसे प्रजा के कल्याण से सम्बन्ध था। अर्थात् प्रजाको वह बहुत प्यार करता था। उसके ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें नीतिमत्ता और सदाचरणशीलता पर बहुत ही अधिक जोर दिया गया है। इस विषय में, पुराने ग्रन्थों में, उसके ग्रन्थों का नम्बर सबसे ऊंचा है। क्राइस्ट ने जो उपदेश दिये हैं उनमें और मार्कस आरेलियस के ग्रन्थों में बिलकुल ही भेद नहीं है; और यदि है भी तो इतना कम है कि वह ध्यान में नहीं आता। आज तक जितने क्रिश्चियन बादशाह हुए हैं उन सबकी अपेक्षा यह बादशाह क्रिश्चियन कहलाने के अधिक योग्य था। हां, सिर्फ नाम के लिए यह क्रिश्चियन न था। पर इस ऐसे महाधार्म्मिक बादशाह ने क्रिश्चियनों से द्रोह किया; उनको बेहद सताया; उनको बेहद तंग किया। उस समय तक मनुष्य-जाति ने जितना ज्ञानसम्पादन किया था उस ज्ञान के सबसे ऊंचे शिखर पर यद्यपि वह पहुंच गया था, यद्यपि उसकी बुद्धि अतिशय उदार और अतिशय अनियंत्रित थी; यद्यपि उसे किसी तरह का प्रतिबन्ध न था; यद्यपि वह इतना सदाचारी था कि अपने नीति-ग्रन्थों में उसने क्राइस्ट की नीति का सर्वथा अनुकरण किया था—उसे उसने आदर्श माना था; तथापि उसके ध्यान में यह बात नहीं आई कि जिन सांसारिक विषयों का उसे इतना गहरा ज्ञान था उनको क्रिश्चियन धर्म्म से फायदा ही होगा, नुकसान नहीं। उसको यह मालूम था कि समाज की वर्तमान दशा बहुत ही बुरी है—बहुत ही शोचनीय है। तिस पर भी उसने देखा, अथवा देखने का उसे आभास हुआ, कि समाज के कामकाज जो शृङ्खला-बद्ध चले जा रहे हैं और समाज की हालत पहले से जो बुरी नहीं हो गई, उसका एक मात्र कारण पूज्य माने गये देवताओं पर मनुष्यों की श्रद्धा और भक्ति है। अर्थात् यदि आदमी देवताओं पर भक्ति और श्रद्धा न रखते तो समाज, प्रजा या सब साधारण आदमियों की हालत खराब हो जाती और उनके

† स्टोईक सम्प्रदायवालों का सिद्धान्त यह है कि विषय-सुखों का त्याग करके मनुष्य को बहुत संयमपूर्वक रहना चाहिए। इस सम्प्रदाय का चलानेवाला ज़ीनो नामक एक ग्रीक विद्वान् हो गया है।

कामकाज में विघ्न आ जाता । उसने समझा कि मैं मनुष्य-जाति का हूं । इस लिए मेरा यह धर्म्म है कि मैं मनुष्य-समुदाय में मेल बना रक्खूं; सबको एक शृङ्खला में बांधे रहूं; अलग अलग टुकड़े टुकड़े न होने दूं । उसकी समझ में यह बात न आई कि यदि समाज के पुराने बन्धन तोड़ दिये जांयगे तो सारे समाज को संयुक्त, अर्थात् शृङ्खला-बद्ध, करने के लिए नये बन्धन फिर किस तरह तैयार होंगे । क्रिश्चियन धर्म्म का उद्देश पुराने बन्धनों को तोड़ देने का था; यह बात साफ जाहिर थी; छिपी हुई न थी । इससे मार्कस आरेलियस ने यह समझा कि इस नये धर्म्म को स्वीकार तो कर सकते नहीं; अतएव उसका उच्छेद करना ही उचित है । क्रिश्चियन धर्म्म उसे सच्चा और ईश्वर-निर्म्मित नहीं मालूम हुआ । जो देवता, अर्थात् जो क्राइस्ट, शूली पर चढ़ाकर मार डाला गया उसके आश्चर्यकारक चरित पर उसे विश्वास नहीं आया । उसके ध्यान में यह बात भी नहीं आई कि जिस क्रिश्चियन धर्म्म की दीवार एक बहुत ही अच्छे आधार पर खड़ी की गई है, जिस पर उसे जरा भी विश्वास नहीं है, और जिसने अनेक विघ्नों का उल्लंघन करके भी अपने उद्देश को पूरा किया है, वह संसार का पुनरुज्जीवन करने में समर्थ या साधनीभूत होगा। इसीसे उस अत्यन्त कोमल स्वभाव और अत्यंत उदार तत्त्वज्ञानी राजा ने, अपना परम कर्तव्य समझकर, क्रिश्चियन धर्म के उच्छेद किये जानेका हुक्म दिया। मैं समझता हूं कि संसार भर के इतिहास में यह घटना सब से अधिक हृदयद्रावक है । इस बात को याद करके सख्त रंज होता है कि जो क्रिश्चियन धर्म्म कान्स्टन्टाइन बादशाह के समय में जारी हुआ वह यदि मार्कस आरेलियस के उदार राज्यशासन में जारी हो जाता तो उसकी वर्त्तमान अवस्था और ही तरह की हो गई होती—उसमें आकाश-पाताल का अन्तर हो गया होता । परन्तु, जितने प्रमाण इस बात के दिये जा सकते हैं कि क्रिश्चियन धर्म्म के विरुद्ध उपदेश देनेवालों को सजा देना इस समय उचित है, उतने ही प्रमाण मार्कस आरेलियस के समय में, रोम के प्रचलित धर्म्म के निन्दक क्रिश्चियन धर्म्म के प्रचारकों को सजा देने के अनुकूल भी दिये जा सकते थे । इस बात को कबूल न करना झूठ बोलना है; और, साथ ही उसके, मार्कस आरेलियस पर अन्याय भी करना है । ऐसा एक भी क्रिश्चियन नहीं है जिसे यह विश्वास न हो कि नास्तिक धर्म्म झूठा धर्म्म है और वह समाज को वियुक्त कर देता है—उससे समाज को हानि पहुंचती

है। जैसे, इस समय, क्रिश्चियनों का यह विश्वास नास्तिक धर्म्म के विषय में है, वैसे ही, उस समय, मार्कस आरेलियस का विश्वास क्रिश्चियन धर्म्म के विषय में था। उसके दिल में यह बात जम गई थी कि क्रिश्चियन धर्म्म झूठा है इसलिए समाज को उससे जरूर हानि पहुंचेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं। तिसपर भी, उस समय क्रिश्चियन धर्म्म की योग्यता के समझनेवालों में अगर कोई सबसे अधिक लायक और समझदार था तो वह मार्कस आरेलियस ही था। परन्तु क्रिश्चियन-धर्म्म-सम्बन्धी बातों का प्रतिबन्ध करके उसने भी गलती की। इससे जो आदमी यह समझता हो—जिसे इस बात का घमण्ड हो—कि मैं मार्कस आरेलियस से भी अधिक बुद्धिमान् और अधिक समझदार हूं; मैं अपने समय के ज्ञानवान् और चतुर आदमियों में, उस समय के खयाल से मार्कस आरेलियस से भी अधिक प्रवीण और अधिक योग्य हूं; मैं सच बात को ढूंढ निकालने में उससे भी अधिक उत्सुक और उत्साहशील हूं; और सत्य के मिल जाने पर मैं मार्कस आरेलियस से भी अधिक निष्ठा से उसका आदर करूंगा—तो, वह, विचार या विवेचना करना, मत देना या किसी मामले में राय जाहिर करना बन्द कर देने के इरादे से लोगों को खुशी से सजा दे। परन्तु जिसे इस तरह का अभिमान न हो, अर्थात् जो अपने को सब बातों में मार्कस आरेलियस से भी अधिक न समझता हो उसे चाहिए कि वह इस खयाल से कि मैं और मेरा समाज, दोनों मिलकर, अभ्रान्तिशील हूं, मार्कस आरेलियस की तरह कभी गलती न करे।

धर्म्मसम्बन्धी बातों की स्वाधीनता देना जो लोग बुरा समझते हैं, अर्थात् जो लोग इस बात के खिलाफ हैं कि जो जिस धर्म्म को चाहे स्वीकार कर ले, या किसी धर्म्म के विषय में जिसकी जो राय हो उसे वह जाहिर करे, उनसे यह पूछा जा सकता है कि धार्म्मिक मतों के प्रचार को रोकने के इरादे से सजा देना तुम जिन दलीलों से मुनासिब समझते हो क्या वही दलीलें मार्कस आरेलियस की तरफ से नहीं पेश की जा सकतीं? खयाल करने की बात है कि क्रिश्चियन धर्म्म के प्रचार को रोकने के लिए मार्कस आरेलियस को तो ये लोग दोषी ठहराते हैं; पर जिन धर्म्मों का मेल क्रिश्चियन धर्म्म से नहीं मिलता उनके प्रचार को रोकना निर्दोष समझते हैं! इस तरह जब कोई इन लोगों की गलती इनके गले उतार देता है और खूब ही इनके

पीछे पड़ता है तब ये लोग, अपने ऊपर आये हुए दोष से बचने के लिए, इस बात को निरुपाय होकर कबूल कर लेते हैं कि मार्कस आरेलियस ने जो कुछ किया ठीक किया। परन्तु साथ ही उसके, डाक्टर जानसन के अनुयायी बनकर, वे यह भी कहते हैं कि क्रिश्चियन धर्म्म के खिलाफ जो कुछ किया गया उससे उसका फायदा ही हुआ नुकसान नहीं। क्योंकि सत्य जब तक द्रोहरूपी छलनी में नहीं छाना जाता तब तक उसका प्रकाश पूरे तौर पर नहीं पड़ता। सोने का खरापन आग में तपानेसे ही मालूम होता है। परीक्षा से ही सत्य की सत्यता सिद्ध होती है। परीक्षा चाहे जितनी कड़ी हो सत्य जरूर ही उसमें कामयाब होता है। कानून के द्वारा हानिकारक भूलों का प्रतिबन्ध किया जा सकता है—अर्थात् सजा देकर या सजा का डर दिखाकर और और बातें कभी कभी रोकी जा सकती हैं—परन्तु इस तरह के बन्धन का जोर सत्य पर नहीं चलता; कानून के द्वारा सत्य का प्रचार नहीं रुक सकता। यह दलील और दलीलों की अपेक्षा अधिक मजबूत और अधिक ध्यान देने लायक है। इसलिए इसकी विवेचना की मैं जरूरत समझता हूँ; इसका मैं विचार करना चाहता हूं।

जो लोग यह कहते हैं कि द्रोह या विरोध करने से सत्य का लोप नहीं होता; उसे हानि नहीं पहुंचती; इसलिए सत्य का द्रोह करना बुरा नहीं—उन पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि वे जान बूझ कर नई नई, पर सच्ची बातों के विरोधी हैं। अर्थात् उन पर यह इलजाम लगाना अनुचित है कि जिस बात की सत्यता पर उन्हें विश्वास है उसके सिवा और बातों की सत्यता को वे नहीं कबूल करना चाहते। परन्तु नई नई, पर सच्ची, बातों का पता लगाने के कारण मनुष्य-मात्र को जिनका कृतज्ञ होना चाहिए उन्हींसे द्वेष करना और उन्हींको तकलीफ पहुंचाना बहुत बड़ी अनुदारता का काम है। इसमें कोई सन्देह नहीं। मनुष्यमात्र के फायदे की किसी ऐसी बात को, जो उस समय तक किसीको मालूम नहीं, ढूंढ़ निकालना और मनुष्य-मात्र के ऐहिक अथवा पारलौकिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली भूलों को दिखला देना बहुत बड़े उपकार का काम है। दुनिया में उससे बढ़कर और कोई उपकार नहीं। जो लोग डाक्टर जानसन की दलील के कायल हैं वे भी यह कबूल करते हैं कि जिन्होंने पहले पहल क्रिश्चियन धर्म्म स्वीकार किया और पहले पहल समाज की संशोधना की उन्होंने मनुष्यमात्र पर

बहुत बड़ा उपकार किया। जिन लोगों ने सारे जगत् को इस तरह कृतज्ञता के पाश में बांधा, जिन लोगों ने दुनिया भर को इस तरह उपकार के बोझ से दबा दिया, उन्हींको आदमियों ने, मानों अपनी कृतज्ञता जाहिर करने ही के लिए, जान से मार डाला; और उनके साथ वे इस बुरी तरह पेश आये जिस तरह कि लोग अत्यन्त अधम अपराधियों के साथ पेश आते हैं। उनके उपकारों का आदमियों ने मानो यही इनाम देना मुनासिब समझा। इस शोचनीय भूल और इस घोर पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए, मनुष्य-मात्र को चाहिए था कि वे अपने सारे बदन में राख और कमर में वल्कल लपेट-कर अफसोस करते। परन्तु, नहीं, जिन लोगों की समझ डाक्टर जानसन की ऐसी है वे इसकी कोई जरूरत नहीं समझते। उनके मत में ये जितनी शोचनीय घटनायें हुईं सब ठीक हुईं; सब नियमानुसार हुईं; सब न्याया-नुकूल हुईं। अह, कैसे आश्चर्य की बात है! जिस नियमके वे लोग कायल हैं उसके अनुसार नये सिद्धान्तों का पता लगानेवालों की वही दशा होनी चाहिए जो दशा लोक्रियन लोगों के जमाने में नये सत्यशोधकों की होती थी। ग्रीस देश में एक सूबा था। वहांवाले लोक्रियन कहलाते थे। उन लोगों में यह चाल थी की जब कोई आदमी कोई नई बात कहना चाहता था, या किसी नये कानून के बनाये जाने की सूचना देता था, तब उसे सब लोगों के सामने, अपने गले में एक रस्सी लटकाकर खड़ा होना पड़ता था। फिर वह अपनी सूचना की आवश्यकता और सत्यता को सप्रमाण सिद्ध करने की कोशिश करता था; उसके पुष्टीकरण में जो कुछ उसे कहना होता था उसे वह कहता था। उसके प्रमाणों—उसकी दलीलों—को सुनकर सब लोग, उसी जगह उसी क्षण, यदि उसकी सूचना नामंजूर कर लेते थे तो उसकी गरदन से लटकती हुई वह रस्सी खींचकर फौरन ही कड़ी कर दी जाती थी। उसे तत्काल ही फांसी की सजा मिल जाती थी। जिन लोगों की यह राय है कि मानव-जाति पर उपकार करनेवालों के साथ—उसका हित-चिन्तन करनेवालोंके साथ इसी तरह पेश आना चाहिए, वे, मेरी समझ में, उस उपकार की—बहुत ही कम कीमत समझते हैं। मुझे विश्वास है, इस तरह के आदमी बहुधा यह खयाल करते हैं कि नये नये सिद्धान्तों का पता लगाना पहले जमाने में फायदे की बात थी—उस समय उनका मालूम होना सबको इष्ट था—पर अब वह बात नहीं रही। अब नये सिद्धान्तों की जरूरत नहीं। जितने सिद्धान्त इस समय प्रचलित हैं उतने ही काफी हैं। अब और अधिक न चाहिए।

कुछ बातें ऐसी हैं जो वास्तव में हैं झूठ पर देखने में सच मालूम होती हैं। उनको एक ने सच कहा, दूसरे ने सच कहा, तीसरे ने सच कहा—इस तरह, धीरे धीरे, बहुत आदमी उन्हें सच मानने लगते हैं। यहां तक कि कुछ दिनों में वे सर्व-सम्मत हो जाती हैं। परन्तु तजरुबे से उनकी सचाई नहीं सिद्ध होती। यह सिद्धान्त कि सत्य का प्रचार करनेवालों को सताने से सत्य का लोप नहीं होता, इसी तरह का है। अर्थात् लोगों ने उसे सच मान लिया है; दर असल है वह झूठ। द्वेष, द्रोह और विरोधके कारण सत्य का उच्छेद हो जाने के अनेक उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। इन उदाहरणों से बात निर्विवाद सिद्ध है कि सत्य का प्रचार करनेवालों को सताने से यदि सत्य का समूल नाश न भी हुआ तो भी वह सैंकड़ों वर्ष पीछे पड़ जाता है। अर्थात् वह सत्य इतना दब जाता है कि सौ सौ दो दो सौ वर्ष तक फिर वह सिर नहीं उठा सकता। यहांपर मैं सिर्फ धर्म्मसम्बन्धी दो चार उदाहरण देना चाहता हूं।

जरमनी में मार्टिन लूथर नाम का एक धार्मिक विद्वान् हो गया है। उसकी गिनती बहुत बड़े सुधारकों में है। रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के धर्म्माचार्य पोप और उसके अनुयायी धर्म्मोपाध्यायों पर उसकी अश्रद्धा हो गई। उसने बाइबल का अनुवाद पहले पहल जरमन भाषा में किया और यह सिद्धान्त निकाला कि जिस बात को अक्ल कबूल करे उसीको सच मानना चाहिए। इस सिद्धान्त के प्रचार में उसे कामयाबी भी हुई; परन्तु लूथर के पहले इस सुधार के बीज का अंकुर कम से कम बीस दफे तो उगा होगा; पर, बीसों दफे, राग-द्वेष के कारण इन अंकुरों का उच्छेद ही होता गया*। लूथर के बाद भी जहां जहां द्रोह और द्वेष से काम लिया गया और नये सिद्धान्तों के प्रचारकों का जोरोशोर से विरोध किया गया वहां वहां सत्य की हार ही हुई; जीत नहीं हुई। स्पेन, इटली और आस्ट्रिया आदि देशों से प्राटेस्टेण्ट मत समूल ही नाश कर दिया गया;

---

* यहां पर मिल साहब ने सात आठ नाम समाज और धर्म्म-संशोधकों के दिये हैं। उनको हमने छोड़ दिया है; क्योंकि यहां बहुत कम आदमी उन्हें जानते हैं। लोगों ने उनको यहां तक सताया कि उनके सिद्धान्तों का प्रचार न हुआ।

उसकी जड़ें तक खोद कर फेंक दी गईं। यदि इंगलैण्ड की रानी मेरी कुछ दिन और जिन्दा रहती, या उसके बाद गद्दी पर बैठनेवाली रानी एलिजबेथ जल्द मर जाती, तो इंगलैण्ड में भी वही दशा होती—अर्थात् प्राटेस्टेण्ट मत की जड़ें वहांसे भी खोद कर फेंक दी जातीं। पाखण्डी, नास्तिक या विपथ-गामी माने गये प्राटेस्टेण्ट मत के अनुयायियों के बहुत ही प्रबल होने के कारण जहां जहां उनके विरोधियों का जोर नहीं चला, वहां वहां छोड़कर, और सब कहीं झूठ की ही जीत हुई—सतानेवालों का ही विजय रहा। रोम की बादशाहत के समय में क्रिश्चियन धर्म्म के जड़ से उखड़ जाने की नौबत आ गई थी। मुझे विश्वास है, इस विषय में किसीको सन्देह न होगा। परन्तु उसके समूल नाश न हो जाने का यह कारण हुआ कि उस समय जो विरोध होता था वह कभी कभी, प्रसङ्ग आने पर, होता था; हमेशा नहीं। फिर, वह विरोध थोड़े ही दिनों तक रहता था। बीच बीच में, बहुत दिनों तक, प्राटेस्टेण्ट धर्म्म के प्रतिकूल कोई कुछ न कहता था। इसीसे यह धर्म्म, आखिरकार, रोम में फैल गया; और, धीरे धीरे, प्रबल भी हो गया। यह एक प्रकार की भारी भूल है, यह एक तरह की झूठी कल्पना है, कि, सच होने ही के कारण, सच में कोई ऐसी विलक्षण शक्ति है कि सच बोलनेवालों को या सच्चे सिद्धांतों का प्रचार करनेवालों को काल-कोठरी में बन्द करने अथवा सूली पर चढ़ाने से भी सच की जरूर ही जीत होती है। आदमी झूठ के अकसर जितने अनुरागी या अभिमानी होते हैं उससे अधिक सच के वे नहीं होते; और कानून ही को नहीं, किन्तु सामाजिक प्रतिबंध या दण्ड को भी काफी तौर पर काम में लाने से, झूठ और सच, दोनों, का प्रचार, बहुत करके, रोक दिया जा सकता है। सच में एक यह विशेषता है, एक यह प्रधानता है कि कोई एक बार, दो बार, तीन बार या चाहे जितने बार उसका लोप करे तोभी समय समय पर उसका पुनरुज्जीवन करनेवाले, उसका फिर से पता लगानेवाले, बहुत करके पैदा हुआ ही करते हैं। ऐसे पुनरुज्जीवन के समय, समाज और देश की दशा को कुछ अधिक अनुकूल पाकर, सच बात, या सच सम्मति, निर्मूल होने से बच जाती है। इस तरह कुछ दिनों में वह इतनी प्रबल हो उठती है कि उसके विरोधी उसका लोप करने के लिए चाहे जितना सिर उठावें तथापि वे उसका कुछ भी नहीं कर सकते। उसका प्रचार हो ही जाता है।

कोई शायद यह कहेगा, कि नई नई बातों को जारी करने, या नये नये मत चलाने, की कोशिश करनेवालों को हम लोग, अब, पहले की तरह जान से नहीं मार डालते। हमारे पूर्वज समाजशोधकों और धर्म्माचार्यों को बेहद सताते थे; उनको जीता नहीं छोड़ते थे। पर हम उनकी तरह नहीं हैं। हम वे जघन्य काम नहीं करते। हम तो ऐसों का आदर करते हैं; उनकी समाधियां तक बनाते हैं। इसका जवाब सुनिए। यह सच है कि अब हम लोग नास्तिक और पाखण्डी आदमियों का सिर नहीं काटते; उनकी गरदन नहीं मारते। और यह भी सच है कि जिन बातों से हमको सख्त नफरत है उनको जारी करने की इच्छा रखनेवालों को कानून के रूपसे बहुत कड़ी सजा देना लोगों को अच्छा नहीं लगता; और ऐसी सजा से उन बातों के प्रचार में रुकावट भी नहीं हो सकती। तथापि यह अभिमान करना व्यर्थ है कि ऐसे आदमियों के लिए कानून में कोई सजा ही नहीं। कोई राय कायम करने—कोई सम्मति स्थिर करने—के लिए यदि, आज कल, कानून में कोई सजा नहीं है, तो, कम से कम, उसे जाहिर करने—उसे सब लोगों में फैलाने—के लिए जरूर है। यही नहीं। किन्तु, आज कल, इस कानून के अनुसार काररवाई की जानेके भी उदाहरण, कहीं कहीं, देखे जाते हैं। इससे यह बात खयाल में नहीं आती—इसपर विश्वास नहीं होता—कि आगे कोई समय ऐसा भी आवेगा जब कोई काररवाई इस कानून के अनुसार न होगी—अर्थात् जब वह रद समझा जायगा। सभी सांसारिक बातों में अत्यंत निर्दोष व्यवहार करनेवाले एक बहुत ही अच्छे चालचलन के आदमी को, १८५७ ईसवी में, कार्नवाल सूबे के सेशनकोर्ट से इक्कीस महीने की सजा हो गई। इस अभागी का कुसूर यह था कि इसने कुछ ऐसी बातें कहीं और एक फाटक पर लिखी थीं जो क्रिश्चियन धर्म के अनुयायियों को नागवार थीं। इस घटना के एक महीने के भीतर, ओल्ड बेली नाम की कचहरी में, वहांके जज ने आदमियों को पञ्च (जूरीम्यन) बनाने से इनकार कर दिया। इतना ही नहीं, किंतु जज और एक वकील ने मिलकर उनमें से एक आदमी का बहुत बुरी तरह से अपमान तक किया। इन बेचारों का अपराध यह था कि इन्होंने सच सच यह बात कह दी थी कि किसी धर्म्म पर उनका विश्वास नहीं। इसी दलील के बल पर एक जज ने एक और आदमी की अरजी ही नहीं ली। यह आदमी

विदेशी था और एक चोर के खिलाफ मुकद्दमा चलाना चाहता था। इस आदमी की चोरी की शिकायत इस बुनियाद पर नहीं सुनी गई की जिसका विश्वास परलोक या किसी देवता पर नहीं है (फिर चाहे वह देवता कोई क्यों न हो या कैसा ही क्यों न हो) वह कायदे के मुताबिक कचहरी में जज के सामने गवाही नहीं दे सकता। ऐसा करने के लिए उसे कानून की रोक है। इस तरह के कानून बनाना, या ऐसी काररवाई करना, मानों इस बातको पुकारकर कहना है कि ऐसे आदमियों पर आईन का जोर नहीं चल सकता और न्यायालय ऐसों की रक्षा भी नहीं कर सकता। यदि उनको कोई लूट ले, या चोट पहुँचावे, और उस समय दूसरे आदमी हाजिर न हों या हाजिर आदमियों में से सब उन्हींके मत के हों, तो उनकी फरियाद न सुनी जायगी; उनका न्याय न होगा; और अपराधियों को दण्ड भी न दिया जायगा। इससे यह भी जाहिर होता है कि यदि धार्मिक आदमियों को कोई लूट ले, या मार पीट करे, और उस समय गवाही देने के लिए देवताओंपर विश्वास न करनेवाले नास्तिकों के सिवा और कोई हाजिर न हो तो ये धर्म्मशील आदमी भी न्याय से वञ्चित रहें। यह सब इस लिए कि जो आदमी परलोक पर विश्वास नहीं करते उनकी शपथ—उनकी हलफ—व्यर्थ है। उसकी कुछ भी कीमत नहीं। जो लोग ऐसा समझते हैं वे इतिहास से बहुत ही कम परिचित हैं। मैं समझता हूं कि इतिहास का उन्हें बिलकुल ही ज्ञान नहीं। क्योंकि इतिहाससे यह बात साफ जाहिर है कि हर जमाने में जितने नास्तिक हुए हैं–परलोक और देवताओं पर न विश्वास करनेवाले जितने पाखण्डवादी हुए हैं–उनमें से अनेक अत्यन्त प्रामाणिक और इज्जतदार थे। और इस समय भी, सदाचार और सद्गुणों के कारण जो लोग संसार में सबसे अधिक नामवर हैं उनमेंसे बहुतों को न परलोक ही की परवा है और न देवताओं ही की। यह बात यदि सबको नहीं मालूम तो इन लोगों के मित्रों को तो जरूर ही मालूम है। जिनको जरा भी समझ है वे कदापि इस बातको न मानेंगे कि नास्तिकों की शपथ व्यर्थ है; नास्तिकों की गवाही एतबार के काबिल नहीं; नास्तिक प्रामाणिक नहीं। नास्तिकों के विषय में ऐसा नियम बनाना स्वतोविरोधी है; वह खुद ही अपना खण्डन करता है; वह अपनी जड़ अपने ही हाथ से काटता है। क्यों ? सुनिए। इस खयाल से नास्तिकों की गवाही नहीं ली जाती कि वे झूठ बोलते हैं।

परन्तु नास्तिक न होकर भी जो शपथ खाते हैं और झूठ बोलते हैं उनकी गवाही खुशी से ली जाती है। जरा इस विलक्षणता को तो देखिए! ऐसे अनेक आदमी हैं जो दिल से न ईश्वर को कुछ समझते हैं और न परलोकको कुछ समझते हैं; परन्तु समाज की नजर में गिरजाने के डर से मुंह से वे वैसा नहीं कहते। जो लोग इस तरह के हैं उनकी हलफ कानून के खिलाफ नहीं। खिलाफ किनकी है? जो लोकापवाद की जरा भी परवा न करके झूठ बोलने की अपेक्षा साफ साफ यह कह देना अधिक पसंद करते हैं कि हम नास्तिक हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है! इस नियम के बेढंगेपन को तो देखिए। यहां पर बेहूदापन की हद हो गई। जिस मतलबसे यह नियम बनाया गया है वह मतलब इससे हरगिज नहीं निकलता। हां, इससे एक बात साबित होती है, और उसीके लिए यदि यह रक्खा जाय, तो रक्खा जा सकता है। वह यह कि, यह नियम कोई नियम नहीं। नास्तिकों के तिरस्कार की सूचक यह एक चपरास है; अथवा पुराने जमाने के प्रजापीड़न का यह एक पुछल्ला है! और पीड़न भी किनका? जो सच बोलकर इस बात को साबित कर देते हैं कि हम इस पीड़न के पात्र नहीं (क्योंकि हम झूठ नहीं बोलते) उनका! इस नियम और इस कल्पना से धार्मिक समझे जानेवालों की भी मानहानि है; केवल नास्तिकों ही की नहीं। अर्थात् ये बातें दोनों के लिए अपमानजनक हैं। क्योंकि यदि यह मान लिया जाय कि परलोक पर जिनका विश्वास नहीं है वे जरूर ही झूठ बोलते हैं तो इससे यह भी सिद्ध होता है कि परलोक पर जिनका विश्वास है, अर्थात् जो धर्म्मवादी हैं; वे जब गवाही देते हैं तब नरक में जाने के डर से ही सच बोलते हैं। क्या ही अच्छा सिद्धान्त है! क्या ही अच्छी धर्म्मशीलता है! परन्तु जिन लोगों ने इस नियम को बनाया है और जो लोग इसके पृष्ठ-पोषक हैं उन पर यह आरोप रखकर मैं उन्हें खेद नहीं पहुँचाना चाहता कि इस धर्म्म-तत्त्व को उन्होंने अपने ही अन्तःकरण से—अपने ही मन से—निकाला है।

सच बात यह है कि ये नियम पुराने प्रजा-पीड़नके पुछल्ले हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि जिन्होंने ऐसे नियम बनाये उनकी इच्छा जानबूझकर किसी को तंग करने, सताने या पीड़ा पहुँचाने की थी। नहीं। अंगरेजों के स्वभाव में एक यह विलक्षणता है कि यद्यपि वे किसी बुरे खयाल से किसी अनुचित सिद्धान्त को व्यवहार में नहीं लाना चाहते, तथापि उसका प्रति-

पादन करने में—उसकी विवेचना करने में, उसकी जरूरत बतलाने में उनको उलटा मजा मिलता है। जिस बात का जिक्र यहां पर हो रहा है वह इसी विलक्षणता का एक उदाहरण है। विचार और विवेचना की स्वाधीनता को कानून के द्वारा बन्द करने के बहुत ही निंद्य उदाहरण यद्यपि बहुत दिनों से देखने में नहीं आये, तथापि, समाज के खयालातमें स्थिरता न होने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि वैसे उदाहरण अब कभी न होंगे—वे हमेशा के लिए बन्द हो गये। यह बड़े अफसोस की बात है। आज कल के समाज की विलक्षण अवस्था है; उसकी अजीब हालत है। किसी नई हितकर बात को जारी करने की कोशिश से व्यवस्थित रीति पर चलनेवाले व्यवहाररूपी रथ में जैसे गड़बड़ पैदा हो जाती है, वैसे ही किसी पुरानी अहितकर बात में फेरफार करने की कोशिश से भी गड़बड़ पैदा हो जाती है। बहुत आदमी इस बात का घमण्ड करते हैं कि इस समय धर्म्म का पुनरुज्जीवन हो गया है—धार्म्मिक विषयों में विशेष उन्नति हो गई है। यह किसी कदर सच है; परन्तु उसके साथ ही एक बात यह भी हुई है कि अशिक्षित और अनुदार लोगों के हृदय में हठधर्मी भी पैदा हो गई है—अर्थात् बिना समझे बूझे अपने धर्म्म का आग्रह भी उनमें बेतरह बढ़ गया है। फिर, एक बात यह भी है कि इस देश की मध्यमस्थिति के आदमियों के खयालात में, उनकी मनोवृत्ति में, असहनशीलता या क्षमाभाव का अंकुर भी बड़ी तेजी से उग आया है। वह अब तक जरा भी मलिन नहीं हुआ। उसकी प्रेरणा से नास्तिक अथवा पाखण्डवादी आदमियों को सताना इस स्थितिवालों को अब तक उचित जान पड़ता है। अतएव बहुत ही थोड़ी उत्तेजन मिलने पर ये लोग नास्तिक और धर्म्महीन माने गये आदमियों को खुल्लमखुल्ला तंग करने से बाज नहीं आते। मध्यम स्थिति के लोगों को जो धार्म्मिक बातें अच्छी लगती हैं, जो मत उनको पसन्द हैं, जिन चीजों को वे बहुत जरूरी जानते हैं उनकी प्रतिकूलता करनेवालों को तंग करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। इसी सबब से, इस देश में, मानसिक स्वाधीनता का वास नहीं है। कानून के द्वारा बहुत दिनों से जो दण्ड निश्चित किये गये हैं उनमें सब से अधिक हानिकर और बुरी बात यह है कि वे सामाजिक कलङ्क को और भी अधिक मजबूत करते हैं। यह सामाजिक कलङ्क, यह सामाजिक लांछन, दरअसल बहुत विकट है। क्योंकि, और देशों में जो बातें कानून के अनुसार दण्डनीय

हैं उनको भी लोक बहुधा साफ साफ कबूल कर लेते हैं। परन्तु इस देश में जिन बातों के लिए कानून का बिलकुल डर नहीं, डर सिर्फ सामाजिक कलङ्क का है, उनको कबूल करने में भी लोग आगापीछा करते हैं जो लोग खुश-हाल हैं, जो अपने घर के अच्छे हैं, जिनके निर्वाह का साधन समाज की राय पर अवलम्बित नहीं है—अर्थात् जिनको समाज की परवा नहीं है—उनको छोड़कर और लोग कानून से जितना डरते हैं उतना ही वे लोक-लज्जा से डरते हैं। आदमियों के रोटीकपड़े का मार्ग बन्द कर देना उनको जेल में भेज देने के बराबर है। इस लिए आदमी दोनों से बराबर डरते हैं। अपने निर्वाह के लिए जिन लोगों ने काफी सम्पत्ति इकट्ठा करली है—काफी रुपया पैदा कर लिया है—अतएव जिनको सरकारी अफसरों की, सभा-समाजों की और सर्व-साधारण की कृपा या मदद की परवा नहीं है वे अपने विचार सब के सामने जाहिर करते नहीं डरते। उनकी जो राय, भली या बुरी, होती है उसे वे निडर होकर साफ साफ कह डालते हैं। यदि उन्हें कुछ डर लगता है तो इतना ही कि लोग हमारी निन्दा करेंगे और दो चार भली-बुरी सुनावेंगे। इससे अधिक नहीं। इन बातों को वे सह लेते हैं। और इनके सहन करने के लिए बड़ी वीरता या बड़े साहस की जरूरत भी नहीं है। इससे ऐसे आदमियों के लिए कोई चिन्ता की बात नहीं। परन्तु जिनके खयालात हमारे खयालात से नहीं मिलते—जिनकी राय हमारी राय के खिलाफ है अर्थात् जो विरुद्धमतवादी हैं—उनको यद्यपि, इस समय, हम लोग पहले की तरह तंग नहीं करते, तथापि उनके साथ हम जैसा बर्ताव करते हैं उससे हमारी हानि होने की सम्भावना जरूर है। इसमें कोई सन्देह नहीं। साक्रेटिस जरूर मार डाला गया; परंतु उसके तत्त्वशास्त्र का प्रचार इस तरह बढ़ता गया जिस तरह कि सूर्य का बिम्ब क्रम से आकाश में आगे को बढ़ता जाता है। यही नहीं, किन्तु धीरे धीरे उस तत्त्वविद्या का प्रकाश सारे ज्ञानाकाश में व्याप्त हो गया। क्रिश्चियन धर्म्म के अभिमानी खूंख्वार शेरोंका शिकार बना दिये गये। परंतु क्रिश्चियन-धर्मरूपी वृक्ष दिन-बदिन विशाल और ऊंचा होता गया; और धीरे धीरे अन्य-धर्म्मरूपी छोटे छोटे पेड़ों को उसने अपनी छाया के नीचे कर लिया; अतएव उनकी बाढ़ बंद हो गई। जो बातें हमको पसन्द नहीं उनको हम नहीं सहन करते; अतएव उनके प्रचारके रोकने की हम कोशिश करते हैं। यह हमारी असह-

नशीलता सामाजिक है; अर्थात् वह सिर्फ समाज की बातों से सम्बन्ध रखती है। इससे उसके द्वारा किसीकी जान नहीं जाती; किसीकी राय या सम्मतिका समूल ही नाश नहीं हो जाता। पर होता क्या है कि भिन्न मतवाले उन बातों को छिपाने की कोशिश करते हैं। और यदि वे यह नहीं भी करते हैं तो उन बातों के प्रचार के लिए मन लगाकर प्रयत्न करने से दूर जरूर रहते हैं। इस जमाने में नास्तिक माने गये आदमियों के मत न तो सर्व-साधारण के हृदय में मजबूती के साथ स्थान ही पाते हैं और न उनका वहांसे पूरे तौर पर लोप ही हो जाता है। उनका प्रकाश नहीं पड़ता। जिन दो चार विचारशील और विद्याव्यसनी आदमियों के मन में वे पैदा होते हैं उनके मन ही में वे सुलगते रहते हैं; वहीं वे लीन हो जाते हैं। उनका भला या बुरा प्रभाव साधारण आदमियों के कामकाज पर नहीं पड़ता—उनका झूठा या सच्चा उजेला मनुष्य-जाति की दैनिक चर्य्या पर एक बार भी नहीं पड़ता। यह स्थिति—यह हालत—किसी किसीको बहुत ही पसंद है। क्योंकि, एक आध नास्तिक या पाखण्ड-मतवादी पर बिना जुरमाना ठोंके, या उसे बिना कैद किये ही, प्रचलित मत—प्रचलित रीति-रिवाज—का प्रचार पूर्ववत् बना रहता है। इससे एक बात यह भी होती है कि जिन नास्तिकों को विचार और विवेचना रूपी रोग लग जाता है उनकी विचार-परम्परा का भी प्रतिबन्ध नहीं होता। जुरमाना और जेल का डर न रहने से वे लोग विचार और विवेचना बंद नहीं करते। विचाररूपी संसार में—मनोरूपी दुनिया में—शान्ति रखने और सब चीजों को पूर्ववत् अपनी अपनी जगह पर बनी रखने के लिए यह बहुत अच्छी, बहुत सीधी और बहुत सुविधा-जनक युक्ति जरूर है। इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस मानसिक शान्ति, इस विचार-स्थैर्य्य इस मौन-धारणा की प्राप्ति की बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ती है। उसके लिए आदमी के मन की सारी नैतिक शक्ति और सारे विचार-धैर्य की आहुति हो जाती है। उसका समूल नाश हो जाता है। यह कीमत बहुत जियादह है। इस प्रकार विचार और विवेचना की शक्ति का ह्रास हो जाने से सबसे अधिक विचारशील, समझदार, शोधक और विवेकवान् आदमी भी यह समझने लगते हैं कि अपने सिद्धान्तों और उनके प्रमाणों को अपने मन ही में रक्खे रहना अच्छा है। सर्व साधारण पर उनके जाहिर करने से कोई लाभ नहीं। यदि सबके सामने

कुछ कहने का मौका आता भी है तो, जिन बातों को वे दिलसे नहीं चाहते उनसे अपने नये विचारों का मेल मिलाने की वे कोशिश करते हैं। ऐसी हालत में स्पष्टवादी, निडर, समदर्शी कुशाग्र-बुद्धि और सच्चे तार्किकों की उत्पत्ति ही बन्द हो जाती है। इस तरह के सत्पुरुष पहले जिस मानसिक सृष्टि के भूषण थे वह सृष्टि बिना इनके धीरे धीरे निस्तेज और शोभाहीन हो जाती है। यदि दो चार विचारशील पुरुष पैदा होते भी हैं तो ऐसे होते हैं कि वे सिर्फ रूढ़ि या रीति-रवाज के दास होते हैं; उसकी सीमा के बाहर जानेका उन्हें साहस नहीं होता। अथवा जैसा समय आता है वैसा ही उनका बर्ताव भी होता है—अर्थात् समय की तरफ नजर रखकर यदि हो सकता है तो वे सत्यानुकूल जन-साधारण का फायदा कर देते हैं; अन्यथा नहीं। ऐसे आदमी अपने पक्ष—अपने सिद्धान्त—की मजबूती के खयाल से जो कुछ कहते हैं वह सिर्फ सुननेवालों को अपनी तरफ खींच लेने ही के इरादे से कहते हैं। उनकी बातों में उनके कथन उनका निज का विश्वास नहीं रहता। अर्थात् जो कुछ वे कहते हैं दिल से नहीं कहते। जिनको इस तरह का दम्भ पसन्द नहीं; जिनके मुंह में एक और पेट में एक नहीं है, वे बड़ी बड़ी बातोंपर विचार ही नहीं करते। अपनी बुद्धि को आकुञ्चित करके उसे वे सिर्फ क्षुद्र बातों के विचार और उनकी विवेचना में लगाते हैं। जिन छोटी छोटी व्यावहारिक बातों पर कुछ कहने से सामाजिक सिद्धान्तों की सचाई की हानि नहीं होती उन्हींपर विचार करके वे चुप रह जाते हैं। पर, इस तरह की विवेचना से कुछ फायदा नहीं होता। क्योंकि वे बातें इतनी छोटी होती हैं—इतनी साधारण होती हैं—कि मनुष्य का मन सबल, प्रौढ़ और अधिक ग्राहक होने पर वे आप ही आप ध्यान में आ जाती हैं। परन्तु यदि मन का विकास न हुआ तो हजार विचार और विवेचना करने पर भी मन में उनकी उत्पत्ति ही नहीं होती—मन में वे बातें आती ही नहीं। इधर यह हानि हुई। उधर मनुष्य के मन को विकसित करनेवाली, उसमें प्रौढ़ता करनेवाली विवेचना-शक्ति क्षीण हो जाती है। गम्भीर विषयों पर निर्भय और प्रतिबन्धहीन विवेचना बन्द हो जाने से वह शक्ति रह कैसे सकती है?

किसी किसीका यह भी खयाल है कि जो नास्तिक हैं, अधार्मिक हैं, पाखण्डवादी हैं उनके चुप रहने से, उनको विचार और विवेचना की स्वाधीनता न देने से, समाज का कुछ भी नुकसान नहीं होता। ऐसे आदमियों को

सोचना चाहिए कि नास्तिकों के मत की पूरी पूरी और उचित विवेचना का कभी मौका न देने से उनके मत का प्रचार जरूर नहीं होने पाता; परन्तु, इसके साथ ही, उनके बुरे और झूठे खयालात भी उनके दिल से दूर नहीं होते। यदि विवेचना का मौका दिया जाय तो बहुत सम्भव है कि नास्तिकों के बेसिरपैर के खयालात दूर हो जायँ। जिस विवेचना से रूढ़धर्म्म के अनुकूल—चिरकाल से पूज्य माने गये धर्म्म के अनुकूल—सिद्धान्त नहीं निकलते उसे रोक देने से नास्तिकों का मानसिक ह्रास नहीं होता। उनकी विचार-बुद्धि को जरा भी धक्का नहीं पहुंचता। जो लोग ऐसा नहीं समझते वे गलती करते हैं। इस तरह की रोक से नास्तिकों को हानि नहीं पहुंचती, पर जो नास्तिक नहीं हैं, अर्थात् जो पुराने धर्म्मके अभिमानी हैं, उन्हींको हानि पहुंचती है; और बहुत अधिक पहुंचती है। क्योंकि पुराने धर्म्म के अभिमानी इस डर से विवेचना बन्द कर देते हैं कि कहीं पाखण्डी आदमियों के विचार हमारे मन में न घुस जाँय; कहीं ऐसा न हो कि हम भी उन्हीं के मत में आ जाँय। इसका फल यह होता है कि उनका मन बहुत ही संकुचित हो जाता है; उनकी विचारशक्ति बहुत ही कमजोर हो जाती है। यह बहुत बड़ी हानि है। ऐसे रूढ़–धर्माभिमानी निडर होकर, उत्साह और उत्तेजना-पूर्वक, स्वाधीनविचाररूप सागर के भीतर पैर रखने की हिम्मत ही नहीं करते। उनको हर घड़ी यह डर लगा रहता है कि स्वाधीनता पूर्वक विचार करने से, कायल होकर, कहीं हमको रूढ़ धर्म्म और रूढ़ नीति के खिलाफ कोई बात न स्वीकार करनी पड़े; अतएव हमें कहीं कोई यह न कहे कि ये बदचलन और बेधर्म्म हो गये। इस तरह के होनहार, परन्तु डरपोक स्वभाव के नौजवान आदमियों से जगत् का जो नुकसान होता है उसका अन्दाज कौन कर सकेगा? कभी कभी ऐसे होनहार पर भीरु लोगों में एक आध शुद्धान्तःकरण, सत्यानुयायी, मनोदेवता-भक्त, किसीसे न डरनेवाला भी देख पड़ता है। कुशाग्रबुद्धि, समझदार और सूक्ष्मदर्शी होने के कारण उससे चुप नहीं बैठा जाता। वह जन्म भर अपनी तीव्र बुद्धि को मिथ्या और दाम्भिक बातों की विवेचना में खर्च करता है। रूढ़मतों को अपने अन्तःकरण और सच्ची विचार-परम्परा के अनुकूल साबित करने में वह अपने सारे बुद्धि-कौशल और अपनी सारी कल्पनाशक्ति को काम में ले आता है। परन्तु तिस पर भी उसे कामयाबी नहीं होती। क्योंकि जो बात सच नहीं

है, जिसे अन्तःकरण नहीं कबूल करता, उसे सच साबित करने, उसे मनोऽनुकूल बतलाने, की कोशिश हमेशा व्यर्थ जाती है। विचार और विवेचना की कसौटी में कसने पर—बुद्धि और अन्तःकरणरूपी आग में तपाने पर—जो सिद्धान्त खरा निकले—चाहे वह जैसा हो—उसको ही कबूल करना सच्चे तत्त्वज्ञानी का सब से बड़ा कर्तव्य है। जो इस बात को नहीं जानता वह कभी महातत्त्ववेत्ता नहीं हो सकता, कभी मशहूर ज्ञानी नहीं हो सकता, कभी प्रसिद्ध दार्शनिक या नैय्यायिक नहीं हो सकता। जो आदमी खूब छान बीनकर, खूब समझ बूझकर खूब विचार और विवेचना करके किसी बात को स्वीकार करते हैं उनके उस स्वीकार में यदि भूल भी हो जाय, यदि वे किसी झूठ मत को भी सच मान लें, तो भी, वे उन लोगों की, अपेक्षा सत्य के अधिक हितकर्ता समझे जाते हैं जो मन को मनन करने का श्रम न देकर, बे समझे बूझे, झूठ बातों को सच मान लेते हैं—अनुचित और अनुपयोगी सिद्धान्तों को उचित और उपयोगी समझ बैठते हैं। विचार और विवेचना की स्वाधीनता सिर्फ इस लिए दरकार नहीं कि लोग बड़े बड़े तत्त्वदर्शी, दार्शनिक या विवेचक बनें। नहीं। मामूली आदमियों के मानसिक विचार, या उनकी मानसिक शक्ति, की जितनी उन्नति हो सकती है उतनी उन्नति करने के लिए भी विचार-स्वाधीनता की जरूरत है। मैं तो समझता हूं कि लोगों को महान् तत्त्वविवेचक बनाने की अपेक्षा मामूली आदमियों के मन की उन्नति करने के लिए विचार-स्वाधीनता की अधिक जरूरत है। जहां विचार और विवेचना की स्वाधीनता नहीं है—जहां उनका प्रतिबन्ध है—वहां भी कभी कभी दो एक तत्त्वदर्शी पुरुष पैदा हो सकते हैं; हुए भी हैं; और उनके होने की सम्भावना भी है। परन्तु विचार-स्वाधीनता न होने से सब लोग, अर्थात् सर्व-साधारण, न कभी चपलबुद्धि हुए और न कभी उनके होने ही की सम्भावना है। जब बुद्धि की सञ्चालना ही न होगी; जब बुद्धि से काम ही न लिया जायगा; जब विचार और विवेचना की शान पर बुद्धि घिसी ही न जायगी, तब वह तेज होगी कैसे? जिस जाति या समुदाय ने, विचार-स्वाधीनता के न होने पर, भी बुद्धि की प्रखरता दिखलाई होगी उसमें, उस समय, विरोधियों के दल की प्रबलता का डर जरूर कम हो गया होगा। ऐसी अवस्था में बुद्धिमें, तीव्रता आने का इसके सिवा और कोई कारण नहीं हो सकता। जहां लोगों

का यह खयाल है कि बड़े बड़े सिद्धान्तों के खिलाफ, जुबान हिलाना मना है; जहां लोग यह समझते हैं कि बड़ी बड़ी बातों पर जो कुछ विचार होने को था हो चुका, अब कुछ भी बाकी नहीं रहा, वहां मामूली आदमियों में बुद्धि की तीक्ष्णता और विचारों की उच्चता के होने की आशा रखना पागलपन है। इतिहास देख लीजिए; उसमें आपको इस बात के पोषक बहुतसे दृष्टान्त मिलेंगे। जहां मनुष्यों के मन में उत्साह और उत्तेजना को उत्पन्न करनेवाले बड़े बड़े और महत्त्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद नहीं हुआ वहां सर्व-साधारण के मत की मलिनता कभी नहीं गई; उसमें कभी तेजी नहीं आई; उसके मनन करनेकी जड़ कभी मजबूत नहीं हुई। पूर्वोक्त विषयों पर वाद-विवाद करने से साधारण बुद्धि के आदमी भी बड़े बड़े विचारशील और बुद्धिमान् लोगों की, कुछ कुछ, बराबरी करने लगते हैं। अतएव ऐसे विवाद का जहां कहीं अभाव हुआ वहाँ मामूली आदमी बड़े बड़े विचारवान् पुरुषों की जरा भी बराबरी नहीं कर सके। प्राटेस्टेण्ट धर्म्म के जारी होने के बाद ही इसका एक उदाहरण योरप में हुआ। वह याद रखने लायक है। अठारहवें शतक के द्वितीयार्द्ध, अर्थात् १७५० ईसवी, के बाद जिस समय फ्रांस में गदर और अमेरिका में प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापन हुआ उस समय भी यही दशा देखने में आई थी। भेद इतना ही था कि यद्यपि वह चलविचलता कई देशों में फैल गई थी तथापि इंगलैंड में उसका प्रवेश नहीं हुआ था; और जो लोग अधिक सभ्य और शिक्षित थे उन्हीं पर उसका असर हुआ था; सारे समाज पर नहीं। मामूली आदमी उस चल-बिचल से बरी थे। तीसरी विचारचञ्चलता जर्मनी में उस समय उत्पन्न हुई थी जिस समय फिस्ट और गेटी नाम के तत्त्वज्ञानियों ने अपने विचारोंका प्रचार किया था। पर यह चल-विचलता बहुत दिनोंतक नहीं रही। कुछ ही काल में फिर स्थितिस्थापकता हो गई। जिन नई बातों का प्रचार इन तीनों समयों में हुआ वे एक ही तरह की न थी—सब एक दूसरी से भिन्न थीं। परन्तु तीनों उदाहरणों में एक बात ऐसी भी थी जो सब में बराबर पाई जाती थी। वह यह कि पौराणिक सत्ता तोड़ दी गई थी, अर्थात् "बाबावाक्यं प्रमाणं" वाला सिद्धान्त लोगों ने त्याग दिया था। प्रत्येक उदाहरण में मानसिक विचारों की सख्ती को लोगों ने कम कर दिया था। मतलब यह कि सख्ती की परवा न करके सब लोग थोड़ी बहुत

मनमानी विवेचना जरूर करने लगे थे। योरप की वर्तमान अवस्था में जो उन्नति देख पड़ती है वह इन्हीं तीन समयों में मिली हुई स्फूर्ति और उत्तेजना का फल है। मनोविचार में, रूढ़िपरम्परा में, या सामाजिक स्थिति में जितनी उन्नति पीछेसे हुई, जितना सुधार बाद में हुआ, सबकी जड़ का पता इन्हीमें से एक न एक समय में मिलता है। इस बात के चिह्न बहुत दिनों से दिखलाई दे रहे हैं कि पूर्वोक्त तीनों अवसरों में मिले हुए स्फुरण और उत्साह की शक्ति बिलकुल खर्च हो गई है; इस समय कुछ भी बाकी नहीं रही। अतएव विचार और विवेचना की स्वाधीनता, अर्थात् मानसिक स्वतंत्रता की आवश्यकता, को यदि हम फिर से न प्रतिपादान करेंगे—फिर से न दिखलावेंगे—तो हम कभी आगे न बढ़ सकेंगे।

अब हम इस विवेचना के दूसरे हिस्से का विचार करते हैं और मान लेते हैं कि जितनी बातें या जितने मत, इस समय प्रचलित हैं उनमें से एक भी गलत नहीं; सब सही हैं। यहां पर यह देखना है कि यदि उन बातों की सचाई की खुले खजाने, साफ साफ, और बेरोक विवेचना न होगी तो लोग उनको क्या समझेंगे; उनको कितनी योग्यता देंगे—अर्थात् उन बातों का कैसा और कितना असर लोगों पर होगा! जो आदमी किसी विषय में अपना विचार दृढ़ कर लेता है; अपनी राय को मजबूती के साथ कायम कर लेता है; वह इस बातको खुशी से कभी नहीं कबूल करता कि उसकी राय के गलत होने की भी सम्भावना है। परन्तु उसको इस बात का खयाल रखना चाहिए कि किसकी राय चाहे जितनी सही हो, पर यदि उसके सही होने के प्रमाणों का निडर होकर बार बार और पूरे तौर पर विवेचना न होगी तो लोग उसे, एक पुरानी और निर्जीव रूढ़ि समझ कर मान लेंगे; परन्तु सजीव और सच बात समझ कर उसका आदर न करेंगे।

कुछ आदमी ऐसे हैं कि जिस बात को वे सच समझते हैं उसे यदि किसी दूसरे ने भी निःशंक होकर सच कह दिया तो वे इतने ही अनुमोदन को बस समझ लेते हैं। फिर चाहे ऐसे अनुमोदनकर्ता को, उस बात के मूलभूत प्रमाणोंका का कुछ भी ज्ञान न हो और उसके प्रतिकूल तुच्छ आक्षेपों का समाधान करने की भी उसमें शक्ति न हो। इस तरह के आदमी पहले बहुत थे; परन्तु खुशी की बात है, अब वे उतने नहीं हैं। ऐसे आदमियों की बात जहां एक बार मान ली गई, जहां उनके मत का प्रचार एक बार हो गया, तहां

वे अपने मन में यह समझने लगते हैं कि उसके खिलाफ वाद-विवाद होने देने से समाज को कुछ भी लाभ न होगा, हानि चाहे कुछ हो जाय। जहां इस तरह के आदमियों की प्रबलता होती है, जहां इस तरह के आदमियों का प्रभाव बढ़ जाता है, वहां विचार, विवेचना और बुद्धि के बल से प्रचलित मतों का लोप कर देना बहुत मुशकिल होता है—मुशकिल क्या, प्रायः असम्भव हो जाता है। परन्तु अज्ञान और अविचार से उनका लोप—उनका उल्लंघन—हुआ करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। विवेचना और वाद-विवाद को बिलकुल ही बन्द कर देना गैरमुमकिन बात है; ऐसा होना बहुत ही कम सम्भव है। अतएव जहां विवेचना को थोड़ी सी भी जगह मिली तहां बहुत कमजोर दलीलों के भी सामने इस तरह की बातों को हार मान कर भागना पड़ता है। क्योंकि उन बातों पर लोगों का दृढ़ विश्वास नहीं रहता। सत्यासत्य के विषय में दिल से विचार करने के पहले ही उनको मान लेने से उन पर दृढ़ विश्वास हो कैसे सकता है? अच्छा इस बात को जाने दीजिए। मान लीजिए कि सही राय या सच बात मनमें हमेशा स्थिर होकर रहती है, अतएव विरुद्ध दलीलों से भी वह अपनी जगह से नहीं हिलती। अर्थात् आदमी ने अपने मनमें जिस बात को सच और सही मान लिया है वह यद्यपि सिर्फ मिथ्या-विश्वास के कारण उसे वैसी मालूम होती है तथापि उस विश्वास के बहुत ही दृढ़ हो जाने के कारण उसके खिलाफ दी हुई दलीलों का उस पर कुछ असर नहीं होता। इसमें उसका क्या अपराध है? इसका यह उत्तर है कि जिस मनुष्य में सच और झूठ के जानने की शक्ति विद्यमान है उसको चाहिए कि इस तरह वह अपने मत न स्थिर करे। सच के जानने का यह तरीका नहीं है। इस तरह मत-स्थापना करना, इस तरह राय कायम करना, कदापि इष्ट नहीं। इस तरह का विश्वास सत्य ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह निरा मिथ्याविश्वास है। यह किसी बात को सिद्ध करने के कहे गये शब्दों को आंख मूंदकर मान लेना है। और कुछ नहीं।

आदमी की बुद्धि और विवेक-शक्ति को सुधारने और उसकी उन्नति करने की बड़ी जरूरत है। इस बात को सभी कबूल करते हैं। प्राटेस्टेंट सम्प्रदाय के अनुयायी भी इसे मानते हैं। अतएव जिन बातों से आदमी का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है और जिनके विषय में अपनी तबीयत के अनुसार मत निश्चित करना आदमी के लिए एक बहुत ही जरूरी बात है, उन धर्म्म

सम्बन्धी बातों के विचार में यदि आदमी अपनी बुद्धि और विवेक-शक्ति से काम न ले तो ले कहां? अपनी बुद्धि, अपनी समझ और अपनी विवेक-शक्ति को उन्नत और संस्कृत करने का सबसे अच्छा मार्ग आदमी के लिए यह है, कि वह अपने मत में दृढ़ हुई बातों के प्रमाणों का ज्ञान प्राप्त करे। उसे इसकी विवेचना करनी चाहिए कि जो मेरा मत है उसके सही होने का क्या प्रमाण है? जिन विश्वासों के सम्बन्ध में सच राय कायम करना आदमी के लिए बहुत ही जरूरी बात है उनके प्रतिकूल किये गये छोटे छोटे आक्षेपों का समाधान करने की तो शक्ति उसमें होनी चाहिए। यदि और अधिक न हो तो इतना तो जरूर ही होना उचित है। जिस बात को जो सच समझ रहा है उसे झूठ साबित करनेवालों की मोटी मोटी दलीलों का तो खण्डन करने की योग्यता उसमें होनी चाहिए। इस पर शायद कोई यह कहे कि—"अच्छा, यदि तुम ऐसा कहते हो तो आदमियों के जो मत हैं उनके प्रमाण उन्हें क्यों नहीं सिखलाते? प्रतिकूल दलीलों के खण्डन करने के झगड़े में क्यों पड़ते हो? उन्होंने अपने मतों का खण्डन नहीं सुना; इससे तुम यह नहीं कह सकते कि तोते की तरह उन्होंने अपने सिद्धान्तों को रट लिया है; उनपर विचार नहीं किया। जो लोग रेखागणित पढ़ते हैं वे सिर्फ उसके सिद्धान्त ही नहीं रट लेते; उनके प्रमाण भी वे समझ लेते हैं। किसीको उनके विरुद्ध कुछ कहते, या किसीको उनको झूठ ठहराने की कोशिश करते, यदि उन्होंने नहीं देखा तो क्या तुम यह कह सकते हो कि उन्होंने सिर्फ तोते की तरह उन सिद्धान्तों को रट लिया है?" बेशक तुम्हारा कहना बहुत ठीक है। गणित एक ऐसी विद्या है कि उसका इस तरह ज्ञान प्राप्त कर लेना काफी होता है; क्योंकि उसके खिलाफ दलीलें पेश करने के लिए बिलकुल ही जगह नहीं रहती। गणितशास्त्र के सिद्धान्तों को सही साबित करने के लिए जो प्रमाण दिये जाते हैं वे हमेशा एक-तरफा होते हैं; एक ही पक्ष से उनका सम्बन्ध रहता है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों पक्षों से नहीं। यह उनमें विलक्षणता है। उन पर कोई आक्षेप ही नहीं हो सकते; उनके खिलाफ कुछ कहने की जरूरत ही नहीं पड़ती। अतएव जब प्रतिकूल विवेचन ही नहीं होता, जब खिलाफ दलीलें ही नहीं पेश की जातीं, तब उनका जवाब देने की भी जरूरत नहीं पड़ती। परन्तु जिन बातों में मतभेद सम्भव है—जिन बातों में सबकी राय नहीं मिलती—उनकी सत्यता पर-

स्पर-विरुद्ध प्रमाणों के मध्य में अवलम्बित रहती है। सृष्टिशास्त्र में भी एक ही कार्य का कोई दूसरा भी कारण दिखलाया जा सकता है। कोई कोई यह सिद्धान्त उपस्थित करते हैं कि इस विश्व के बीच में सूर्य नहीं है, पृथ्वी है। अथवा जीवधारियों के सजीव रहने का कारण प्राणप्रद–वायु नहीं है; एक प्रकार की दहनशील, अर्थात् अग्निगर्भ, वायु है। ऐसी उलटी कल्पनाओं को झूठ साबित करने के लिए प्रमाण देने पड़ते हैं। और जब तक हम उन कल्पनाओं का सप्रमाण खण्डन नहीं करते तब तक हम यह दावा नहीं कर सकते कि हम अपने सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझते हैं। यह विद्याविषयक बात हुई। ऐसे विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली झूठी कल्पनाओं का खण्डन करना कठिन नहीं होता। परन्तु जब हम साधारणनीति, राजनीति, धर्म्म, समाजसंस्कार और व्यवहार-शास्त्र आदि जटिल विषयों की तरफ निगाह करते हैं तब हमें यह साफ मालूम होता है कि जिन सच्चे सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वाद-विवाद होता है उनके विरुद्ध प्रमाणों का खण्डन करने ही में—उनको गलत साबित करने ही में—दलीलों का तीन चौथाई हिस्सा खर्च हो जाता है। पुराने जमाने में दो बहुत बड़े वक्ता हो गये हैं—ग्रीस में डिमास्थनीज और रोम में सिसरो। सिसरो एक बहुत मशहूर वकील था। उसने लिख रक्खा है कि जब वह कोई मुकद्दमा लेता था तब उस मुकद्दमे का मनन करने और उसके कागज-पत्र देखने में वह जितनी मेहनत करता था उतनी ही—किम्बहुना उससे भी अधिक—वह अपने मुअक्किल के विरोधी की दलीलों का मनन करके उनके खण्डन करने में करता था। किसी बात के सत्यांश को जानने के इरादे से जो उसकी विवेचना करना चाहते हों उनको उचित है कि वे सिसरो का अनुकरण करें। बिना ऐसा किये झूठ और सच का पता नहीं लग सकता। किसी विषय में जो सिर्फ अपनी ही तरफ देखता है, जिसे सिर्फ अपने ही पक्ष का ज्ञान रहता है, जो सिर्फ अपनी ही दलीलों पर विचार करता है उसे याद रखना चाहिए कि वह उस विषय का बहुत ही कम ज्ञान रखता है। उसके प्रमाण चाहे जितने सबल हों, उसकी दलीलें चाहे जितनी अच्छी हों, उसकी बातों का चाहे किसीने खण्डन न किया हो, तथापि वह उस विषय का पूरा ज्ञाता नहीं कहा जा सकता। जिसने अपने विरोधी के प्रमाणों का खण्डन नहीं किया, अधिक क्या कहा जाय उसकी दलीलों को उसने सुन

तक नहीं लिया, उसे अपनी बात को सही मान लेने—अपने मत को ग्राह्य समझने—का कोई अधिकार नहीं; कोई आधार नहीं। ऐसे आदमी को चाहिए कि वह उस विषय में किसी तरह का निश्चय ही न करे। क्योंकि उसकी राय कोई राय नहीं; उसका निश्चय कोई निश्चय नहीं। यदि वह इस बात को न मान कर सिद्धान्त स्थिर करेगा तो मैं यह कहूंगा कि उसने बिना किसी आधार के वैसा किया; उसने "बाबावाक्यं प्रमाणं" सूत्र को स्वीकार किया; अथवा, अकसर लोग जैसा करते हैं, जो मत खुद उसे सबसे अधिक पसन्द था उसे ही उसने निश्चित किया। उसके लिए यह काफी नहीं कि उसीके गुरु, या उपदेशक, या सलाहकार उसके विरोधियों के आक्षेपों को उसके सामने पेश करें; वहीं वे उनका खण्डन करें; और वह उस खण्डन को चुपचाप बैठा हुआ सुने। यह कोई न्याय की बात नहीं। इससे काम नहीं चल सकता। इस तरकीब से विरोधियों के आक्षेपों का न्याय-सङ्गत खण्डन नहीं हो सकता। इस तरीके से वे आक्षेप सुननेवाले की समझ में भी अच्छी तरह नहीं आ सकते—उसके दिल पर उनका असर ही नहीं हो सकता। जिन्होंने वे आक्षेप किये हैं उन्हींके मुंह से उन्हें सुनना चाहिए। जिनका उन पर विश्वास है वही उनको अच्छी तरह समझा सकते हैं। उनका मण्डन करने के लिए—उनको सही साबित करने के लिए—उन्हींको सच्चा उत्साह रहता है और वही उनकी सिद्धि के लिए जी जान लड़ाकर कोशिश भी करते हैं। जो लोग आक्षेप करते हैं वे प्रयत्नपूर्वक उनको ऐसा रूप देते हैं जिसमें वे अपने बाहरी रंग ढंग से भी लोगों को अपनी तरफ खींच लें और दिल में भी खूब असर पैदा कर सकें। इसीसे उनको उन्हीं लोगों से सुनना मुनासिब है। ऐसा न करने से यह बात अच्छी तरह कभी ध्यान में नहीं आ सकती कि जिस विषय पर वाद-विवाद हो रहा है उसकी सच्ची उपयोगिता—उसके सच्चे रूप—को पहचानने में कितनी कठिनाइयां आती हैं और किस तरह से वे दूर की जा सकती हैं। जिनको हम सुशिक्षित कहते हैं; जिनको हम पढ़े लिखे समझते हैं; उनमें से फी सैकड़ा निन्नानवे की दशा ऐसी ही शोचनीय है। जो लोग अपनी राय को सही साबित करने के लिए बड़ी फुरती से दलीलें पेश कर सकते हैं; उनकी भी यही दशा है। ऐसे आदमियों के सिद्धान्त सही हो सकते हैं; पर गलत भी हो सकते हैं। चाहे अपने सिद्धान्तोंके सही होने में उनको

जितना विश्वास हो, तथापि यह असम्भव है कि उनसे कभी गलती ही न हो। गलती हो सकती है। जब तक ये लोग अपने विरोधियों के मन का हाल अच्छी तरह न समझ लें, और इस बात का विचार न करलें कि वे क्या कहते हैं, तब तक यह बात नहीं मानी जा सकती कि जिस सिद्धान्त पर, जिस मत पर, या जिस राय पर, वे लट्टू हो रहे हैं उसके विषय में जो कुछ जानने योग्य है वह सब वे जानते हैं। चाहे जो मत हो, चाहे जो बात हो, उसके अकसर दो टुकड़े होते हैं—एक प्रधान, दूसरा अप्रधान। प्रधान टुकड़े को जान लेने से, मुख्य बात को समझ लेने से, अप्रधान और अमुख्य का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी मदद मिलती है। परन्तु इन लोगों का परिचय प्रधान बात से बिलकुल ही नहीं रहता। ये लोग यह नहीं जानते कि ऊपर से जिन दो चीजों में परस्पर भिन्नभाव मालूम होता है उनका मेल किस तरह करना चाहिए, अर्थात् उनकी अभिन्नता किस तरह सिद्ध करना चाहिए। और न ये यही जानते हैं कि यदि दो बातें बराबर सबल और बराबर सप्रमाण देख पड़ें तो उनमेंसे किसको मानना और किसको न मानना चाहिए। ये लोग उस आदमी की कदापि बराबरी नहीं कर सकते जिसने दोनों पक्षवालों की—दोनों दलवालों की—दलीलों को ध्यान से सुना है, और उनके तथ्यांश को जानकर बिना जरा भी पक्षपात के, अपनेको निर्भ्रान्त निश्चय तक पहुंचने के योग्य बना लिया है। जो लोग पक्षपात छोड़कर दोनों पक्षवालों की बातें नहीं सुनते और दोनों पक्षवालों के प्रमाण-प्रमेयों को खूब नहीं समझ लेते वे कभी किसी विषय का न्याय-सङ्गत फैसला नहीं कर सकते। जो इन बातों को सुनते और समझ लेते हैं वे विवाद-सम्बन्धी विषय के सत्यांश को जितना जान सकते हैं उतना दूसरे हरगिज नहीं जान सकते। विरोधी की विरोधगर्भित बातों को सुनने की, विपक्षी की दलीलों का जवाब देने की, बहुत बड़ी जरूरत है। नीति और व्यवहारशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो इस प्रकार की शिक्षा की यहां तक जरूरत है कि यदि बड़े बड़े सिद्धान्तों का विरोध करनेवाला कोई न हो तो उसकी कल्पना कर लेना चाहिए; अर्थात् विरोध करने के लिए किसी आदमी को जबरदस्ती खड़ा करना चाहिए; और प्रतिकूल पक्ष का अत्यन्त चतुर और चाणाक्ष वकील जितनी मजबूत दलीलें, या जितने प्रबल आक्षेप, कर सकता हो उन सबको उस कल्पित विरोधी के मुंह से सुनना चाहिए।

जिस सिद्धान्त का बयान ऊपर किया गया उसकी योग्यता को काम करने के इरादे से जो लोग विचार और विवेचना की स्वाधीनता के शत्रु हैं वे शायद इस तरह के आक्षेप करेंगे:—वे कहेंगे कि बड़े बड़े धर्म्मशास्त्री मीमांसक समाजके मतों के अनुकूल या प्रातिकूल जितनी बातें कहेंगे उन सबको जान लेने की हर आदमी को बिलकुल जरूरत नहीं। चतुर और चालाक प्रतिपक्षी के मिथ्या और अविश्वसनीय आक्षेपों को काटने के लिए समाज के सभी साधारण आदमियों को तैयार रहने की क्या जरूरत? उसके आक्षपों का उत्तर देनेके लिए समाज में से किसी योग्य आदमी का तैयार रहना बस है। यदि वह आदमी प्रतिपक्षी की उन सब बातों का खण्डन कर दे जिनके कारण साधारण अशिक्षित आदमियों को भ्रम में पड़ने का डर है तो समाज का काम निकल गया समझना चाहिए। जो मत, जो सिद्धान्त, तुम, शिक्षित अथवा अशिक्षित, सीधे सादे अथवा समझदार, सभी आदमियों को सिखलाना चाहते हो उनके खास खास सबूत सब लोगों पर जाहिर कर दो; बाकी की बातों को जानने की जिम्मेदारी उन लोगोंपर छोड़ दो जो अधिक समझदार हैं; जिनको साधारण आदमी अपना नेता समझते हैं; जिनको वे अपना मुखिया मानते हैं। साधारण आदमी इस बात को बखूबी जानते हैं कि यद्यपि उनमें इतना ज्ञान और इतनी बुद्धि नहीं है कि सभी आक्षेपों का वे खण्डन कर सकें, सभी कठिनाइयों को वे दूर कर सकें, तथापि विरोधियों ने आज तक जितने आक्षेप किये हैं उन सब का उत्तर उनके बहुश्रुत और विशेष शक्तिशाली मुखियों ने दिया ही है। अतएव वे इस बात पर जरूर विश्वास करेंगे कि जो आक्षेप आगे किये जायंगे उनका भी उत्तर वही लोग देंगे; उन्हें खुद इस बखेड़े में पड़ने की जरूरत नहीं।

बहुत आदमी इस विषय को इसी दृष्टि से देखते हैं। उनका खयाल है कि किसी बात की सत्यता का इतना भी अंश यदि किसी की समझ में आजाय जितने से उसका विश्वास उस पर होजाय तो उसके लिए उस बात का उतना ही ज्ञान बस है। ऐसे लोगों की इस तरह की दलीलों को मान लेने पर भी विचार और विवेचना की स्वाधीनता की आवश्यकता जरा भी कम नहीं होती। क्योंकि जिन लोगों की ऐसी राय है—जो लोग इस तरह की दलीलें पेश करते हैं—वे भी इस बात को कबूल करते हैं कि सब को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसी भी मत या सिद्धान्त के प्रतिकूल

जितने आक्षेप हो सकते हैं उन सब का ठीक ठीक खण्डन हो गया है। परन्तु जिन आक्षेपों का खण्डन होता है उनका यदि उच्चारण ही न होगा, वे यदि जाहिर ही न किये जायंगे, तो उनका खण्डन होगा कैसे? उनका उत्तर कोई देगा कैसे? अथवा आक्षेप करनेवालों को यदि इस बात के साबित करने को स्वाधीनता न दी जायगी कि जो खण्डन किया गया है, या जो उत्तर दिया गया है, वह योग्य है या नहीं, तो उसकी योग्यता या अयोग्यता ठीक ठीक समझ में आवेगी कैसे? विपक्षियों को चाहिए कि उनके मत पर जो आक्षेप हों उन्हें वे बेरोक टोक के सर्व-साधारण के सामने आने दें। खैर सब के सामने न सही तो जो धर्मशास्त्री और तत्ववेत्ता हैं उनके सामने तो वे उन्हें जाहिर होने दें, और ऐसे रूप में जाहिर होने दें जो बहुत ही अधिक व्याकुलता-जनक हो, जो बहुत ही जियादह परेशानी पैदा करनेवाला हो। अर्थात् जो कठिनाई हो—जो आक्षेप हो—उसका रूप जहां तक उग्र और भयङ्कर हो सकता हो तहां तक किया जाय। मतलब यह कि प्रतिकूलता करनेवाले अपने आक्षेपों को यथासम्भव खूब सबल करके दिखलावें जिसमें तत्त्वज्ञानियों और धर्माचार्यों तक से उनका उत्तर न बन पड़े। तत्त्वज्ञ और धर्म्मज्ञ लोग ही आक्षेपों का खण्डन करेंगे। अतएव आक्षेपों की गुरुता उनको तो अवश्य ही मालूम होनी चाहिए। अब कहिए यदि विपक्षियों के आक्षेप बिना किसी प्रतिबंध के प्रकाशित न किये जायंगे और उनके प्रकाशन के लिए सब तरह का सुभीता न होगा तो उनका खण्डन किया किस तरह जायगा? आक्षेपों को सुनोगे, तब तो उत्तर दोगे? रोमन कैथलिक सम्प्रदायवालों ने इस पेचीदा प्रश्न का उत्तर देने की जो युक्ति निकाली है वह विलक्षण है। उन्होंने आदमियों को दो भागों में बांट दिया है। एक के लिए उन्होंने यह नियम बनाया है कि जिन धार्मिक बातों पर उसे विश्वास हो उन्हें वह खुशी से स्वीकार करले; उसके लिए किसी प्रकार की जांच परताल की जरूरत नहीं। पर दूसरे भाग के लिए उनकी आज्ञा यह है कि यदि वह चाहे तो किसी मत को मानने के पहले वह सोच समझ ले और उसका ज्ञान प्राप्त करले। परंतु इन दो में से एक को भी विचार और विवेचना की आजादी नहीं है। आक्षेपों का उत्तर देने के लिए विशेष विश्वसनीय धर्म्मोपदेशक और धर्म्माचार्यों को इस बात की अनुमति है कि नास्तिक मत की किताबें वे पढ़े। इससे उनको पाप नहीं होता; उलटा पुण्य

होता है। क्योंकि नास्तिक मत के सिद्धान्त समझ कर उन्हें उनका खण्डन करना पड़ता है। यह खण्डन पुण्यकारी है। यही कारण है कि धर्म्मोपाध्यायों के लिए पाखण्डी पुस्तकें सुलभ कर दी गई हैं। परन्तु गृहस्थों के लिए यह बात नहीं है। बिना हुक्म के वे ऐसी किताबें नहीं पढ़ सकते। उनके लिए इनका पढ़ना मना है। जिनकी इच्छा इस तरहकी किताबें पढ़ने की होती है उन्हें अनुमति लेनी पड़ती है। अनुमति मिल जाती है; परन्तु मुशकिल से; सो भी सब को नहीं। यह काररवाई, यह नीति, यह युक्ति इस बात को साबित करती है कि रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के अनुयायी अपने विपक्षियों के आक्षेपों को समझ लेना धर्म्म शास्त्रियों के लिए जरूरी समझते हैं। परन्तु वे अपने मत के अनुसार इस बात का भी कारण—और सयौक्तिक कारण—बतला सकते हैं कि और लोगों को अपने प्रतिपक्षियों के आक्षेपों को सुनने की अनुमति क्यों न देनी चाहिए? अतएव इस सम्प्रदाय के श्रेष्ठवर्गवालों के मन को यद्यपि अधिक स्वाधीनता नहीं मिलती तथापि साधारण आदमियों की अपेक्षा उनकी बुद्धि को अधिक संस्कार प्राप्त होता है; अर्थात् बुद्धि को बढ़ाने का उन्हें अधिक मौका मिलता है। इस तरकीब से इस सम्प्रदाय का बहुत कुछ काम निकल जाता है। अपने मतलब भर के लिए उसे जितनी मानसिक श्रेष्ठता दरकार होती है उतनी उसे मिल जाती है; क्योंकि इस प्रकार के प्रतिबंधयुक्त संस्कार से मन यद्यपि खूब उदार और खूब विशाल नहीं हो जाता तथापि शास्त्रार्थ करने की शक्ति उसमें आ जाती है। अर्थात् किसी पक्ष के, किसी मत के या किसी राय के गुण-दोषों की विवेचना करने के योग्य वह जरूर हो जाता है। पर जहां प्राटेस्टेण्ट धर्म्म की प्रबलता है वहां यह बात नहीं है। वहाँ यह विलक्षण तरकीब काम में नहीं लाई जाती। क्योंकि इस धर्म्म के अनुयायियों की समझ—समझ न सही तो कल्पना—ऐसी है कि धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार या अस्वीकार करने की जिम्मेदारी हर आदमी को अपने ही ऊपर लेना चाहिए; धर्म्माचार्यों और धर्म्मोपदेशकों पर उसे न छोड़ देना चाहिए। वे कहते हैं कि संसार की वर्तमान अवस्था में यह उचित नहीं कि जिन पुस्तकों को सुशिक्षित आदमी पढ़ें उनके पढ़ने से अशिक्षित आदमी रोक रक्खे जांय। यह बात, इस समय, प्रायः असम्भव है। जितनी बातें जानने के लायक हैं उनका जानना यदि सर्व-साधारण के उपदेशक धर्म्माचार्यों के लिए जरूरी है तो

प्रत्येक बात का लिखा जाना, और बिना प्रतिबन्ध के उसका प्रकाशित होना सब के लिए भी जरूरी है।

जो मत रूढ़ हो रहा है, अर्थात् जो बहुत दिनों से प्रचलित है, वह यदि सही है तो उसकी प्रतिबन्ध-हीन विवेचना न होने देने से सिर्फ इतनी ही हानि होगी कि उसका मतलब, या उसका कारण मामूली आदमियों की समझ में न आवेगा। यदि यह बात सच है तो इससे विशेष हानि नहीं हो सकती; क्योंकि वाद-विवाद न करते रहने के कारण लोगों की बुद्धि में तेजी चाहे न रहे, पर उनका आचरण नहीं बिगड़ सकता। मतलब यह कि सच बात को बिना वाद-विवाद—बिना विवेचन—के मान लेने से आदमी नीति-भ्रष्ट नहीं हो सकते; मन्द बुद्धि चाहे हो जायँ। इस आक्षेप का यह उत्तर है कि किसी बात की विवेचना न होने से यही नहीं कि सिर्फ उसका मूल हेतु या मूल कारण ही भूल जाता हो; उसका ठीक मतलब, उसका यथार्थ अर्थ, भी बहुधा भूल जाता है। उस मतलब को जाहिर करने के लिए जो शब्द काम में लाये जाते हैं उनसे वह मतलब ही नहीं निकलता। लोग उनका कुछ और ही अर्थ करने लगते हैं। अथवा जिस बात को बत-लाने के लिए वे शुरू में कहे या लिखे गये थे उसका कुछ ही अंश उन शब्दों से जाहिर होने लगता है, सब नहीं। मन उसको अच्छी तरह से नहीं ग्रहण करता; उस पर से अविचल विश्वास जाता रहता है। उसके कुछ ही वचन याद रहते हैं। उन्हींको लोग बे समझे बूझे रटा करते हैं। यदि उसका कुछ अंश रह भी जाता है तो, जैसे किसी फल का सत्त्व या रस सूख जाय और उसका छिलका भर रह जाय, वही हालत उसकी होती है। मनुष्य जाति के इतिहास का बहुत बड़ा भाग इस बात के उदाहरणों से भरा हुआ है। उसका चाहे जितना मनन किया जाय और चाहे जितना अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाय सब थोड़ा है।

जिस स्थिति का वर्णन—जिस हालत का बयान—ऊपर किया गया उसके उदाहरण किस धार्म्मिक सम्प्रदाय में नहीं है? उसकी मिसालें नीति से सम्बन्ध रखनेवाली किन शिक्षाओं में नहीं हैं—किन बातों में नहीं हैं? सब में हैं। जो लोग जिस मत को चलाते हैं, जो लोग जिस नीति का उपदेश देते हैं, उनको और उनके शिष्यों को उसका मतलब और भी खूब अच्छी तरह समझ पड़ता है और उसकी योग्यता का अन्दाज भी उन्हें खूब रहता

है। दूसरे मत और दूसरी सम्प्रदायों पर प्रभुत्व जमाने के इरादे से जब तक किसी मत या सम्प्रदाय के अनुयायी वाद-विवाद किया करते हैं तब तक उसका मतलब उसके अभिमानी और अनुयायी आदमियों के ध्यान में खूब रहता है—वरञ्च यह कहना चाहिए कि उनके हृदय में उसका प्रकाश और भी अधिकता से पड़ता है। अन्त में या तो उसीकी जीत होती है, अर्थात् वही प्रचलित हो जाता है, या उसका प्रचार वहीं रुक जाता है; आगे नहीं बढ़ने पाता। मतलब यह कि वह जितना था उतना ही रह जाता है। जहां उसे इन दोनों में से कोई भी एक स्थिति मिलती है तहां उसके विषय की विवेचना कम हो जाती है। यहां तक कि धीरे धीरे वह बिलकुल ही बन्द हो जाती है। तब तक वह मत रूढ़ हो जाता है और यदि उसका सर्वव्यापी प्रचार न भी हुआ तो भी उसका एक जुदा पन्थ जरूर बन जाता है। कुछ काल के बाद वह पन्थ बहुत आदमियों का पैत्रिक पन्थ हो जाता है और उसे छोड़कर दूसरे में जाना लोग कम पसन्द करते हैं। इससे क्या होता है कि उस पन्थके आचार्य या मुखिया उस विषयका बहुत कम विचार करते हैं। औरों को अपने पन्थ या मत में लाने के लिए अथवा अपने पन्थ या मत को औरों के आक्षेपों से बचाने के लिए जितना वे पहले तैयार रहते थे उतना पीछे नहीं रहते। यदि उनके मत के विरुद्ध कोई कुछ कहता है तो उस तरफ वे बहुत कम ध्यान देते हैं और अनुकूल प्रमाण देकर अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के झगड़े में वे नहीं पड़ते। तभी से उस मत की कला क्षीण होने लगती है। उसी दिन से उसकी चेतनता का ह्रास शुरू हो जाता है। जितने पन्थ हैं उनके मुखिया अकसर यह शिकायत किया करते हैं कि हमारे पन्थवाले सिर्फ नाम के लिए हमारे मत के अनुयायी हैं। उसके सिद्धान्तों की सच्ची और सजीव कल्पना उनके मन में जागृत नहीं है। इसीसे उनके आचरण और उनकी मनोवृत्ति पर उन सिद्धान्तों का पूरा पूरा असर नहीं पड़ता। परन्तु जब तक वह पन्थ अपनी रक्षा के के लिए लड़ता रहता है, अर्थात् वाद-विवाद में खूब उत्साह रखता है, तब तक ऐसी शिकायतें कभी नहीं सुन पड़ती। अपने पन्थ की रक्षा के लिए लड़नेवालों में कमजोर से भी कमजोर लोगों को यह बात मालूम रहती है कि हम किस लिए लड़ रहे हैं। वे इस बात को भी खूब समझते हैं कि उनके मत में और मतों से कितना अन्तर है। इस अवस्था में—इस स्थिति में—हर मत

के अनुयायियों में ऐसे अनेक आदमी पाये जाते हैं जिनके मन में अपने मत के मतलब से सम्बन्ध रखनेवाली सब बातें जागृत रहती हैं और जिन्होंने उन सब बातों का खूब अच्छी तरह से विचार किया होता है। उन बातों पर पूरा विश्वास होने से जो नतीजा होना चाहिए वह उनके चालचलन और बर्ताव में बहुत अच्छी तरह से देख भी पड़ता है। अर्थात् जैसा वे कहते हैं वैसा करके भी वे दिखाते हैं। परन्तु जब कोई मत या पन्थ पुराना हो जाता है; जब वह परम्परासे प्राप्त होता है; जब वह जन्म ही से मिलता है; जब वह चुपचाप बिना उसके गुणदोष का विचार किये, स्वीकार कर लिया जाता है; तब उसकी सचेतनता बिलकुल ही जाती रहती है। अर्थात् पहले पहल उसपर विश्वास जमने के समय शंका-समाधान करने के लिए मन को जो शक्ति खर्च करनी पड़ती थी उसका खर्च जब बन्द हो जाता है—अर्थात् जब प्रतिपक्षियों से वाद-विवाद करने की जरूरत नहीं रहती—तब उस पन्थ या मत के मूलमन्त्रों को छोड़ कर बाकी सब बातें लोग धीरे धीरे भूलने लगते हैं। उसकी सिर्फ खास खास बातें याद रह जाती हैं; और कुछ नहीं। या यदि उस मत की सजीवता के चिह्न हृदय पर रहते भी हैं—अर्थात् यदि उसके सम्बन्ध की कुछ बातें याद भी रहती हैं—तो भी निज के तजरुबे से उनकी जांच करने, या अंतःकरण पूर्वक उनपर विश्वास करने, की कोई जरूरत नहीं समझी जाती। दूसरों को उस मत को स्वीकार करते देख और लोग भी, बिना सोचे समझे, उसे स्वीकार कर लेते हैं। मतलब यह कि उस विषय में लोग बेहद बेपरवाही करते हैं। नतीजा इसका यह होता है कि अन्त में मनुष्य-जाति की आत्मा से—उसके भीतरी मनोदेवता से—उस मत या पन्थ का सारा सम्बन्ध छूट जाता है। जब यहां तक नौबत पहुँचती है तब मनुष्योंकी धार्मिकता को वह अवस्था प्राप्त होती है जिसने आज कल दुनिया में सबसे अधिक जोर पकड़ा है। इस अवस्था को, इस दशाको, पहुंचने पर किसी धर्म्म या मत—विशेष से सम्बन्ध रखनेवाली बातें गोया मत के बाहर ही रह जाती हैं; और वे एक तरह का ऐसा मजबूत बेठन बन जाती हैं कि बेठन को तोड़कर अच्छे अच्छे खयालात की पहुंच मन तक हो ही नहीं सकती। मन उस समय मन नहीं रहता। वह पत्थर सा हो जाता है। उस पर उत्तम और उदार विचारों का असर ही नहीं होता। इस दशामें मनोमहाराज एक भी नये और लाभदायक विश्वास

को अपने पास तक नहीं पहुंचने देते। उनको दूर फेंकने की कोशिश में ही वे अपनी सब शक्ति को खर्च करते हैं। और वह धार्मिक बेठन क्या काम करता है? कुछ नहीं। न वह मन के ही काम आता है, न हृदय के ही। हाँ, एक काम वह जरूर करता है। वह उनका संतरी होकर दरवाजे पर बैठा रहता है और किसी को भीतर नहीं जाने देता।

जो मत या सिद्धान्त मन पर सबसे अधिक असर पैदा करनेवाले हैं वे कहां तक निर्जीव विश्वास हो बैठते हैं, और विचार या बुद्धि से उनका कहां तक सम्बन्ध छूट जाता है—इसका उदाहरण क्रिश्चियन धर्म्म के अनुयायियों में खूब मिलता है। जो लोग इस धर्म्म के सिद्धान्तों को मानते हैं उनका अधिक हिस्सा ऐसा है जिसमें इस बात के उदाहरण पाये जाते हैं। क्रिश्चियन धर्म्म से मेरा मतलब उन उपदेशों और उन वाक्यों से है जो ईसाई धर्म्म-शास्त्रकी नई पुस्तक में हैं और जिनको सब सम्प्रदाय और जिनको सब पन्थ के आदमी मानते हैं। इन वाक्यों और उपदेशों को सब लोग धर्म्मानुकूल समझते हैं। अतएव उनको वे पवित्र और मान्य जानते हैं। परन्तु हजार में एक भी ईसाई ऐसा नहीं देख पड़ता—एक भी क्रिश्चियन ऐसा नहीं नजर आता—जो उन नियमों या उपदेशों के अनुसार आचरण करता हो; अथवा इस बात को जांच लेता हो कि उसका बर्ताव उनके अनुकूल होता है या नहीं। यह न समझिए कि मैं इस बात को बढ़ाकर कह रहा हूं। नहीं, इसमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है। लोग करते क्या हैं कि वे अपने देश, अपनी जाति, या अपने पन्थ के रीति-रवाज की तरफ देखते हैं। रूढ़ि को ही वे धर्म्मशास्त्र समझते हैं। बात बड़ी ही विलक्षण है। एक तरफ तो लोग यह कबूल करते हैं कि उनके धर्म्मशास्त्र, अर्थात् बाइबल की नई पुस्तक में जो नियम और जो आदेश हैं वे ईश्वरप्रणीत हैं—वे ऐसे पुरुष के बनाये हुए हैं जो सर्वज्ञ है; जो कभी भूल नहीं करता—अतएव उनको मानना और उनके अनुसार आचरण करना हमारा कर्तव्य है। दूसरी तरफ हर रोज काम में लाने के लिए उन्होंने और ही नियम बना रक्खे हैं। अर्थात् शास्त्र के नियमों से व्यवहार के नियम जुदा हैं। इसे मैं मानता हूं कि शास्त्रोक्त नियम व्यावहारिक नियमों से सब कहीं भिन्न नहीं हैं। कहीं पर तो इन दोनों तरह के नियमों में बहुत मेल है, कहीं पर कम है और कहीं पर बिलकुल ही नहीं है—अर्थात् दोनों में परस्पर विरोध है। मतलब यह कि व्यवहारसम्बन्धी

सब तरह के सुभीते की ओर नजर रखकर धार्म्मिक और व्यावहारिक नियमों का मेल जोल कर दिया गया है। धर्म्मशास्त्र को लोग मान्य जरूर समझते हैं; परन्तु उनका प्रेम रूढ़ि पर ही अधिक देख पड़ता है। जितने क्रिश्चियन हैं सब का यह विश्वास है कि जो दीन, धनहीन और नम्र हैं और जिनसे सारी दुनिया बुरी तरह पेश आती है वही सबसे अधिक पुण्यात्मा हैं। सूई के छेद से ऊंट चाहे निकल भी जाय; परन्तु स्वर्ग के फाटक से निकलकर भीतर प्रवेश कर जाना अमीर आदमीके लिए बिलकुल ही असम्भव है। किसी की बुराई न करना चाहिए। कसम न खाना चाहिए। अपने पड़ोसी के सुख दुःख को अपना ही सुख दुःख समझना चाहिए। यदि कोई कोट ले ले तो कमीज भी उसे उतार देना चाहिए। कल की कभी फिकर न करना चाहिए। यदि यह इच्छा हो कि हम पूर्णता को पहुँच जाँय—हमारी स्थिति सर्वोत्तम हो जाय—तो जो कुछ पास हो वह दीन दुखिया आदमियोंको दे डालना चाहिए; अर्थात् सर्वस्व दान कर देना चाहिए। जब लोग इस तरह की बातें कहते हैं तब विश्वास पूर्वक कहते हैं; यह नहीं कि ऊपरी मन से ही कहते हों; या दम्भ करते हों। यदि किसी बात की तारीफ होती है; उसके गुण-दोषों पर विचार नहीं किया जाता—उनकी विवेचना नहीं होती—तो लोगोंका विश्वास उस पर जम जाता है। उस पर उनकी श्रद्धा हो जाती है। क्रिश्चियनोंकी भी ठीक यही दशा है। जिन बातोंकी वे तारीफ सुनते आये हैं उनपर उनका विश्वास हो गया है; उनको वे अच्छा समझते हैं। उनका जो विश्वास धर्म्मपर है वह इसी तरह का है। उसके सब सिद्धान्तोंके साधक-बाधक प्रमाणोंका उन्होंने विचार नहीं किया; सिर्फ तारीफ सुनकर उन पर विश्वास कर लिया है। परन्तु प्रति दिनके आचरण और व्यवहारमें देख पड़नेवाले सजीव, सचेतन या जिन्दा विश्वास का यदि विचार किया जाय तो यह बात साफ साफ मालूम हो जाय कि वैसा विश्वास लोगोंमें सिर्फ उतना ही है जितना रूढ़ि अर्थात् रीति-रस्म के योग से हो सकता है। अर्थात् धार्मिक विश्वास के अनुसार आचरण रखने की परवा लोग नहीं करते। उसका जितना अंश रूढ़ि में मिलता है उतने ही का वे खयाल रखते हैं और उतने ही के अनुसार वे व्यवहार भी करते हैं। पर जब कभी किसी प्रतिपक्षी को पत्थर मारने की जरूरत होती है तब लोग धार्म्मिक सिद्धान्तों के समुदाय में से

एक को भी नहीं छोड़ते । उस समय वे उन सब को मान लेते हैं और प्रति-पक्षी पर उनका प्रयोग करते हैं । अर्थात् ये कागज-रूपी ईंट-पत्थर वे उस पर फेंकते हैं । जिस बात को अच्छी समझकर लोग करते हैं उसको साधार और सप्रमाण साबित करने के लिए कागज के रूप में रहनेवाले इस धर्म्म-शास्त्र से जो कुछ अपने मतलब का मिलता है उसे वे लोग, मौका आने पर जहां तक सम्भव होता है, सब को दिखलाते भी हैं । परन्तु इन लोगों को यदि कोई इस बात की याद दिलावे कि जो तुम धर्म्मशास्त्र के अनुसार व्यव-हार करना चाहते हो तो ऐसी सैकड़ों बातें और भी हैं जिनको तुम्हें करना चाहिए; परन्तु जिनका खयाल तुम्हें स्वप्न में भी नहीं होता; तो वे उसे बुरी नजर से देखें और यह कहकर उसकी कुचेष्टा करें कि--" ये आये दुनिया भर से अधिक अकलमन्द ! " मामूली आदमियों पर धर्म्मशास्त्र की सत्ता नहीं चलती; उनके मत पर उसका कुछ भी असर नहीं होता । अर्थात् उनके आचारविचार धार्म्मिक विश्वासों पर अवलम्बित नहीं रहते । शास्त्र की बातों को वे सुन भर लेते हैं । उसके सिद्धान्तों को सुनलेने भर की उन्हें आदत रहती है । पर सुनने के साथ ही धर्म्मशास्त्र के वाक्यों का अर्थ उनके मन में नहीं उतरता और उनके अनुसार आचरण करने के लिए उन में उत्साह भी नहीं उत्पन्न होता । अर्थात् जो बात शास्त्र में लिखी है उसे वे सुन तो लेते हैं पर उसके अनुसार व्यवहार नहीं करते । जब शास्त्र के अनुसार व्यवहार करने की जरूरत पड़ती है तब वे इस बात को देखते हैं कि लल्लू क्या करता है, जगधर क्या करता है । इस तरह औरों के चालचलन और आचारविचार को देखकर वे इस बात का निश्चय करते हैं कि क्राइस्ट (ईसा मसीह) की आज्ञा को हमें कहां तक मानना चाहिए।

इसमें कोई सन्देह नहीं है—इस बात पर मेरा पूरा विश्वास है—कि पहले पहल जो लोग क्राइस्ट के अनुयायी हुए वे ऐसे न थे । उनकी स्थिति बिलकुल ही भिन्न थी । यदि ऐसा न होता तो तुच्छ यहूदियों के इस अप्र-सिद्ध धर्म्म का इतना अधिक प्रचार कभी न होता और रोमके इतने बड़े राज्य में वह कभी प्रवेश न पाता । " देखिए, ये क्रिश्चियन एक दूसरे को कितना चाहते हैं " ! इस तरह क्रिश्चियन लोगों की तारीफ होनेकी अब-बहुत कम सम्भावना है । परन्तु पुराने जमाने में क्रिश्चियनों के शत्रु भी इस तरह उनकी तारीफ करते थे । क्राइस्ट के अनुयायी, जिस समय, इस तरह,

अपने शत्रुओं से अपनी तारीफ सुनते थे उस समय उनके मन में अपने धर्म की जितनी स्फूर्ति और उस पर उनकी जितनी श्रद्धा होती थी उतनी, बाद में, कभी नहीं हुई। क्रिश्चियन धर्म्म के अधिक प्रचलित न होने का यही प्रधान कारण है। इसीसे उसका प्रचार बहुत धीरे धीरे हो रहा है। अठारह सौ वर्ष बीत गये तथापि योरप के रहनेवालों और उनके वंशजों को छोड़कर और कहीं भी उसका प्रवेश नहीं हुआ। जो लोग सबसे अधिक धार्म्मिक हैं; जिनका विश्वास अपने धर्म्म पर बहुत ही अधिक है; जिनको अपने धर्म-सिद्धान्तों का बहुत खयाल है; और जो मामूली आदमियों की अपेक्षा उन सिद्धान्तों के अर्थ को अधिक मान्य समझते हैं—उनके भी मतमें बहुधा कालविन और नाक्स आदि धर्म्मसंशोधकों के मतों की ही अधिक स्फूर्ति देख पड़ती है; क्योंकि उनके मत इन लोगों के मत से बहुत कुछ मिलते हैं। यह नहीं कि क्राइस्ट के वचनों को ये लोग बिलकुल ही भूल जाते हों। वे उन्हें भूलते तो नहीं; परन्तु उनसे कोई काम नहीं लेते; वे निष्क्रिय रूप में उनके मन में पड़े रहते हैं। उनमें से जो वचन मृदु, मधुर और मनोहारी होते हैं उनको सुनकर हर आदमी के हृदय पर जो असर होता है वह उनके हृदय पर भी होता है। इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसके आगे और कुछ नहीं होता। इसके कई कारण हैं कि सब धर्म्मों की जितनी बातें एकसी होती हैं उनकी अपेक्षा प्रत्येक धर्म्म की विशेष बातों में क्यों अधिक सजीवता रहती है और उनके अर्थ का ध्यान अनुयायियों के मन में हमेशा बना रखने के लिए उस धर्म के अध्यक्ष या आचार्य्य क्यों इतना परिश्रम उठाते हैं? उनमें से एक कारण यह है, और उसके होने में कोई शंका भी नहीं है, कि सब धर्म्मों की विशेष बातों ही पर अधिक कटाक्ष होते हैं; और उन बातों को झूठ बतलानेवालों के आक्षेपों का खण्डन भी अधिक करना पड़ता है। लड़ाई के मैदान में दुश्मन के न रहने से गुरु और चेला, दोनों अपनी अपनी जगह पर निःशंक सो जाते हैं।

जो बातें पुश्त दर पुश्त होती आई हैं, जो मत वंश-परम्परा से प्राप्त हुए हैं, उनकी भी बहुत करके यही दशा है—फिर चाहे उनका सम्बन्ध नीति से हो, चाहे सांसारिक व्यवहार से हो। जितनी भाषायें हैं, और जितनी पुस्तकें हैं, सब में जगह जगह पर, यह लिखा है कि संसार क्या चीज है, उसमें कैसे

रहना चाहिए, और आदमी को अपना बर्ताव कैसा रखना चाहिए। इन बातों को सब जानते हैं, सब मानते हैं, सब मुंह से एक नहीं—अनेक बार—कहते हैं और स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों के समान समझते हैं। परन्तु इनका ठीक ठीक अर्थ बहुत आदमियों की समझ में तब आता है जब उन पर कोई विपत्ति पड़ती है, अर्थात् इनमें से किसी बातका उल्लंघन करने से जब उन्हें ठोकर लगती है। उसके पहले इनका मतलब बहुत कम आदमियों के ध्यान में आता है। यह बात बहुधा देखने में आई है कि जब किसी आदमी पर कोई आपदा आती है या जब किसीको किसी विषय में सहसा निराश होना पड़ता है, तब उसे एक आध मसल, अर्थात् कहावत, याद आती है। वह मसल चाहे जन्म भर उसके मग्ज में चक्कर लगाती रही हो, पर उसका ठीक अर्थ उसे तभी समझ पड़ता है जब, उसके अनुसार बर्ताव न करने के कारण, उसे अफसोस होता है। यदि उसे उसका मतलब पहले ही समझ गया होता तो वह उस विपत्ति में कदापि न फंसता—अतएव उसे अफसोस भी न होता। इस तरह के अनर्थों का कारण विवेचना का अभाव ही नहीं है; विचार, विवेचना और वाद-प्रतिवाद का अभ्यास न रहने ही से इस तरह की आपदाओं में लोग नहीं फंसते। इसके और भी कारण अवश्य हैं। क्योंकि दुनिया में ऐसी बहुतसी बातें हैं जिनका अर्थ बिना प्रत्यक्ष अनुभव के नहीं समझ पड़ता; अर्थात् जब तक आदमी को तजरुबा नहीं होता तब तक उन बातों का मतलब उसके ध्यानमें ठीक ठीक नहीं आता। परन्तु इस में भी कोई सन्देह नहीं कि जिन आदमियों को ऐसी बातों का तजरुबा है उनके मुँह से उन बातों का सप्रमाण विवेचन सुनने से—उनके अनुकूल और प्रति-कूल जो कुछ कहा जा सकता है उसे जान लेने से—उनका अर्थ पहले से अधिक ध्यान में आजाता है और दिल पर उस अर्थ का असर भी पहले से अधिक होता है। जब किसी बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता तब लोग उस पर विचार करना छोड़ देते हैं; तब उसके विवेचन की वे कोई जरूरत नहीं समझते। यह बहुत बुरी आदत है। यह ऐसा बुरा स्वभाव है कि जितनी गलतियां आदमी के हाथ से होती हैं। उनमें से आधी इसी सर्व-नाशी स्वभाव के कारण होती हैं। इस समय के एक ग्रन्थकार ने इस अवस्था—इस स्थिति—का नाम रक्खा है "निश्चित मत की गाढ़ निद्रा"। उसकी यह उक्ति बहुत ही यथार्थ है। उसने यह बहुत ही ठीक कहा है।

यहां कोई यह आक्षेप कर सकता है कि यह तुम कह क्या रहे हो? किसी बात का सच्चा ज्ञान होने के लिए क्या मतैक्य के अभाव की जरूरत है? क्या जब तक उसके विषय में मतभेद न हो तब तक उसके सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता? समाज में कुछ आदमी जब तब हठपूर्वक विरोधी दल में न शामिल होंगे; जब तक वे झूठे पक्ष का साथ न देंगे; तब तक क्या सच बात समझ ही में न आवेगी? यदि कोई सिद्धान्त या मत सब की राय से मान लिया गया तो क्या उसका सर्वसम्मत होना ही उसकी सत्यता और उपयोगिता के नाश का कारण हुआ? किसी मत या सिद्धान्त के विषय में बिना किसी सन्देह के बाकी रहे क्या वह पूरे तौर पर समझ में नहीं आसकता? ज्यों ही सब समाज या सब आदमी किसी सिद्धान्त को सच मानते हैं त्यों ही क्या उसकी सत्यता उनके मन में नष्ट हो जाती है? आज तक लोगों की समझ में बुद्धि की उन्नति का सब से प्रधान उद्देश यही रहा है कि जितनी बड़ी बड़ी बातें और बड़े बड़े सिद्धान्त हैं उन सब के विषय में मनुष्य-मात्र को अधिकाधिक एकमत होना चाहिए। तो क्या उस मतलब के निकल जाने ही तक—लोगों की समझ वैसी रहती है? फिर वह कहां चली जाती है? जीत पूरी होने ही से क्या जीत के फलों का नाश होजाता है?

मैं यह नहीं कहता। मेरा यह हरगिज मतलब नहीं। मनुष्यजाति की जैसे जैसे उन्नति होती जाती है वैसे वैसेही जिन बातों या सिद्धान्तों के विषय में कोई सन्देह अथवा तर्क बाकी नहीं रहता उनकी संख्या भी बढ़ती जाती है। और, जिन सिद्धान्तों की सत्यता निर्विवाद सिद्ध होती जाती है उनकी संख्या और योग्यता जैसे जैसे बढ़ती है वैसे ही वैसे मनुष्य-जाति के सुख की भी वृद्धि होती जाती है। विशेष सन्देह-जनक और वादग्रस्त बातों पर धीरे धीरे विवाद बन्द होने ही से उनको मजबूती आती है। तभी वे सर्व-सम्मत होकर दृढ़ होती हैं। झूठ या भ्रान्ति-मूलक मत के दृढ़ होजाने से अनर्थ होने की जितनी सम्भावना रहती है, सच्चे और भ्रान्ति रहित मत के दृढ़ होजाने से हित होने की भी उतनी ही सम्भावना रहती है। यद्यपि दोनों तरह के विरोधी मतोंकी हद का घट जाना बहुत जरूरी है—अर्थात् यद्यपि इस प्रकारके विरोध का क्रम क्रम से लोप होजाना ही अच्छा है—तथापि यह सप्रमाण नहीं कहा जासकता कि ऐसे विरोध के घट जाने या

उसके बिलकुल ही न रहने का नतीजा सब विषयों में हमेशा हितकर ह
होगा। विरोधियों को किसी सिद्धान्त की योग्यता को समझा देने या उन
आक्षेपों का खण्डन करने, से उस सिद्धान्त की सजीवता बनी रहती है
उसके तत्त्व लोगों के ध्यान में जागृत रहते हैं। ऐसा न करने से जो बुराइय
पैदा होती हैं, जो आपदायें आती हैं, वे उस सिद्धान्त के व्यापक औ
विस्तृत प्रचार से होनेवाले लाभों को कम कर देती हैं। जहां इस तर
लाभ उठाने का मार्ग न रहे—अर्थात् आक्षेपखण्डन और सिद्धान्त-विवेचन
हो सके—वहां, मेरी राय में, धर्म्मशिक्षकों को कोई और ही युक्ति निका
लनी चाहिए। उनको कुछ ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिसमें किसी भ
धर्म्म, पन्थ या सिद्धान्त के अनुयायियों को यह मालूम हो कि मानो को
विरोधी अपने मत को सही साबित करने के लिए उनसे विवाद कर रहा है
इससे उनके मत की कठिनाइयां और त्रुटियां उनके ध्यान में आजायंगी।

परन्तु, अफसोफ इस बात का है कि इस तरह की नई नई तरकी
निकालना तो दूर रहा, लोग पुराने तरीकों को भी छोड़ते जाते हैं। सात्रे
टिस अर्थात् सुकरात, के वाद-विवाद करने का तरीका इसी तरह का था
उसका सर्वोत्तम नमूना प्लेटो की बातचीत में देख पड़ता है। वह तरीक
दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी था। उसमें आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म और सृष्टि आ
बड़ी बड़ी बातों के विरुद्ध वार्तालाप होता था। अर्थात् नास्तिपक्ष (उलट
पक्ष) लेकर थोड़ी देर के लिए आत्मा और परमात्मा आदि का होना
स्वीकार करके वादविवाद होता था। वह वाद विवाद इस कुशलता से, इ
योग्यता से होता था कि उन विषयों की सिर्फ मोटी मोटी बातों को र
लेनेवालों की भूलें उन्हें मालूम हो जाती थीं। उनको इसका पूरा पूर
विश्वास होजाता था कि उन बातों को उन्होंने अच्छी तरह नहीं समझा
और जिन सिद्धान्तों को उन्होंने मान लिया है उनका ठीक ठीक भाव अ
तक उनके ध्यान में नहीं आया। इस तरह अपनी अज्ञानता मालूम हो जा
से वे लोग अपने मतों और सिद्धान्तों का ठीक ठीक अभिप्राय जानने औ
उनके प्रमाण-प्रमेयों को समझने का रास्ता ढूंढ़ निकालते थे। कोशिश कर
वे उन बातों को अच्छी तरह समझ लेते थे। मध्ययुग, अर्थात् बारहवें
लेकर चौदहवें शतक के बीच में दर्शनशास्त्रियों का एक नया पन्थ निकल

था। यह बात सभी को मालूम है। उसका नाम था "स्कूलमैन" *। इस पन्थ के पण्डितों की पद्धति भी ऐसी ही थी। वे भी प्लेटो ही की तरह वादविवाद करते थे। उससे यह मालूम होजाता था कि उन तत्त्ववेत्ताओं के चेले अपने मत की सब बातों को अच्छी तरह समझ गये हैं या नहीं; प्रतिपक्षियों के आक्षेप भी उनके ध्यान में आगये हैं या नहीं; और अपने मत का मण्डन और विरोधियोंके मत का खण्डन किस तरह करना चाहिए, यह भी सीख गये हैं या नहीं। इस पन्थ की तर्कनापद्धति में एक बहुत बड़ा दोष यह था कि इसके अनुयायी जिस विषय पर वादविवाद करते थे उस विषय का आधार वे धर्म्मशास्त्र को मानते थे, तर्कशास्त्र को नहीं। सब बातों के आदि कारण, अर्थात् मूल हेतु, को वे धर्म्मशास्त्र में घटाते थे; तर्कना द्वारा उस हेतु, की योग्यता या अयोग्यता को सिद्ध करने की चेष्टा न करते थे। वाद-विवाद करने की साक्रेटिस की जिस तरकीब ने उसके चेलों का मन इतना निग्रहशील और उनकी बुद्धि इतनी विकसित कर दी उसके मुकाबले में मध्ययुग की वादविवाद करने की तरकीब बहुत तुच्छ थी। उसके सामने वह कुछ थी ही नहीं। परन्तु इन दोनों तरह के वाद-विवादों से आज कल के आदमियों को जितना फायदा पहुंचा है उतनेको वे खुशी से कबूल नहीं करते। और आज कल जिस तरीके से शिक्षा दी जाती है उसमें इन दोनों पुराने तरीकों में से एकका भी कहीं पता नहीं लगता। इस समय की शिक्षा-प्रणाली ऐसी है कि सारा ज्ञान शिक्षक और पुस्तकों ही के द्वारा प्राप्त होता है। इस दशा में लोग जो कुछ सीखते हैं उसे बहुत करके वे तोते की तरह रट कर सीखते हैं। सौभाग्यवश यदि कोई इस रटना-रहस्य की कसरत से बच भी गया तो भी उसे दोनों पक्षों की दलीलें सुनने को नहीं मिलतीं। इससे मामूली आदमियों की तो बात ही नहीं, तत्त्ववेत्ताओं तक को दोनों पक्षों का बहुधा ज्ञान नहीं होता। आज कल हर आदमी अपने मत को मजबूती पहुंचाने या प्रमाणपूर्वक सिद्ध करने के लिए अपने विरोधी

---

* इस पन्थ के पण्डित, अरिस्टाटल (अरस्तू) नामक ग्रीस के तत्त्ववेत्ता के अनुयायी थे। उसीके तरीके को आदर्श मानकर वे तर्क करते थे और आत्मा, परमात्मा, मन, इंद्रिय और पुनर्जन्म आदि विषयों पर बाल की खाल खींचा करते थे। परन्तु उनके इस वादप्रतिवाद से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

को जो उत्तर देता है वह अत्यन्त कमजोर और अत्यन्त सारहीन होता है। नास्ति, अर्थात् उलटा पक्ष लेनेवाले प्रचलित व्यवहार या शास्त्र की भूलें बतलाते हैं। साक्रेटिस को यह नास्तिपक्ष—तर्क करने की यह उलटी पद्धति-बहुत पसन्द थी। परन्तु इस पद्धति की आज कल हँसी होती है। उसे कोई कुछ समझता ही नहीं। यदि इस रीति का प्रधान उद्देश सिर्फ औरों की भूलें दिखलाना ही होता तो इसकी कीमत अवश्य बहुत कम होती—तो यह अवश्य तुच्छ मानी जाती। पर यह बात नहीं है। यदि कोई महत्त्व की बात या कोई महत्त्व का सिद्धान्त इस तरह की तर्कना के द्वारा जानना हो, तो यह अमूल्य है। उस दशा में यह एक बहुत ही बेशकीमती चीज है। और, जब तक इस तर्क-पद्धति की उचित शिक्षा लोगों को नियमानुसार न मिलने लगेगी तब तक शायद ही कोई प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता पैदा होंगे। और यदि होंगे भी तो गणितशास्त्र या सृष्टिशास्त्र ही में वे प्रसिद्धि पावेंगे। नास्ति-पद्धति के अनुसार विवेचना करना न सीखने से बुद्धि का विशेष विकास कभी न होगा। वह कभी तीव्र न होगी। गणितशास्त्र और सृष्टिशास्त्र में वाद-विवाद के द्वारा मन के भावों को विशेष उन्नत करने की जरूरत नहीं रहती। पर और शास्त्रों की बात जुदी है। यदि विपक्षी के साथ खूब वाद-विवाद करने से मन के भाव विशेष उन्नत और संस्कृत न हो जायं तो और शास्त्रों के सम्बन्ध में जानी गई बातें ज्ञान में नहीं दाखिल हो सकतीं। उनको ज्ञान-संज्ञा नहीं मिल सकती। हां, यदि ज्ञान में गिनी जानेवाली सभी बातों को कोई आदमी किसी के मग्ज में जबरदस्ती भर दे, या कोई वैसी ही मानसिक उन्नति करले जैसी कि प्रतिपक्षियों के साथ उत्साहपूर्वक सतत वाद-विवाद करने से होती है, तो बात ही दूसरी है परन्तु यह प्रायः असम्भव है। अतएव नास्ति-पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ करने की रीति बहुत ही जरूरी है। जहां यह रीति नहीं होती वहां इसका प्रचार बड़ी मुशकिल से होता है। इसके प्रचार में बड़ी बड़ी कठिनाइयां आती हैं। यदि यह पद्धति आप ही आप प्रचार में आने लगे और कोई इसे रोके—इसका प्रचार न होने दे—तो इससे बढ़कर बेवकूफी का काम और क्या होगा? दलीलें पेश करते हैं, अथवा कानून या समाज का डर न होने से जो वैसा करते हैं, उनका हमें उलटा अनुगृहीत होना चाहिए। हमको मुनासिब है, कि जो कुछ वे कहें उसे हमें सुने; उस सुनने के लिए हमेशा तैयार रहें। यदि

हमारी यह इच्छा है कि हमारा जो मत हो वह ठीक हो और वह जानदार बना रहे तो हमको चाहिए कि हम खुद किसी को प्रतिपक्षी बनावें और परिश्रमपूर्वक उससे वाद-विवाद करें। इस दशा में यदि कोई आप ही आप बिना प्रार्थना के विपक्षी बन कर विवाद-द्वारा विवेचना करने के लिए कमर कसे तो हमें उलटा खुश होना चाहिए, नाखुश क्यों ?

एक राय न होनेसे बड़े फायदे हैं। मत की विभिन्नता से कभी हानि नहीं होती, लाभ ही होता है। परन्तु जिन प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है उनमें से एक के विषयमें लिखना अभी बाकी है। बुद्धि की पूरी परिपक्वता होने—उसे परिपूर्णता को पहुंचाने में मनुष्यको अनन्त समय लगेगा। जब तक बुद्धि को पूरी परिपक्वता और परिपूर्णता न प्राप्त हो जाय तब तक मतभिन्नता से लाभ होता ही रहेगा। भिन्न मत होने की उपयोगिता तब तक कदापि कम न होगी। अभी तक सिर्फ दो बातोंका विचार हुआ है। कोई भी रूढ़ मत या तो गलत होगा, अतएव उसकी जगह कोई और मत सही होगा; या, यदि वह सही होगा, तो उसके अच्छी तरह समझ में आने और उसकी सत्यताका दिल पर खूब गहरा असर पड़ने के लिए जो भ्रांतिमूलक मत उसके प्रतिकूल होगा, विवेचना के द्वारा, उसके खण्डन की जरूरत होगी। परन्तु, एक बात और भी है। वह इन दोनों बातों से अधिक सामान्य है। वह यह कि कभी कभी दो सिद्धान्तों का मेल नहीं मिलता, अर्थात् न तो दोनों बिलकुल ही भ्रान्तिपूर्ण होते हैं न बिलकुल ही ठीक—कुछ अंश एक का सही होता है, कुछ दूसरे का। इस हालत में रूढ़ मत में जितना अंश भ्रमपूर्ण होगा उतना अंश विरुद्ध मत से लाकर रूढ़, अर्थात् प्रचलित, मत को पूरा करना होगा। मतलब यह कि रूढ़ मत की सत्यता की पूर्ति करनी होगी—जितनी बात उसमें झूठ होगी उतनी को निकाल डालना पड़ेगा। जो बातें इन्द्रियोंसे नहीं जानी जातीं, अर्थात् जो इन्द्रियातीत हैं, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले रूढ़ मतोंमें सत्यता का अंश बहुधा कम ही रहता है। शायद ही कभी उसमें सब अंश सत्य होता हो। बहुधा तो यही देखा गया है कि सर्वांश-सत्यता उनमें कभी नहीं रहती; सत्यता का अंश मात्र रहता है। वह कभी थोड़ा होता है, कभी बहुत। पर वह खूब बढ़ाकर बतलाया जाता है अर्थात् अतिशयोक्ति से थोड़े सत्य को बहुत का रूप दिया जाता है। जिन दूसरे निर्भ्रान्त सिद्धान्तों के साथ

उसका योग होना चाहिए, अतएव उसके साथ ही जिन दूसरे सिद्धान्तों का भी स्वीकार होना चाहिए, उनसे वह अंश अलग रहता है। इसी अलग अवस्था में वह आदमियों के मन में स्थान पाता है। इस प्रकार जो सत्यांश भूल से नहीं स्वीकार किया जाता, या जिसका प्रतिबन्ध कर दिया जाता है, उसके आधार पर बने हुए सिद्धान्तों में से कुछ सिद्धान्त विरुद्ध-पक्षवाले स्वीकार कर लेते हैं और उनके द्वारा रूढ़ि के बन्धनों को वे तोड़ डालते हैं। दूसरे पक्षवाले कभी कभी इन सिद्धान्तों की सत्यता से रूढ़ मत की सत्यता का सादृश्य दिखलाने की कोशिश करते हैं—अर्थात् वे यह साबित करना चाहते हैं कि दोनों में किसी तरह का विरोध नहीं और कभी कभी वे अपने विरोधी से इस बुनियाद पर विवाद करने लगते हैं कि सत्य का सब अंश हमारे ही सिद्धान्त में है, तुम्हारे में नहीं। पिछले तरीके ने आदमियों के दिल में अधिक जगह पाई है; आदमियों ने उसे अधिक स्वीकार किया है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह बहुत करके किसी एक ही पक्ष को स्वीकार करता है। एक से अधिक पक्षों को शायद ही कोई स्वीकार करता हो। अतएव जिस समय मतक्रान्ति होती है—जिस समय प्रचलित मतों में बहुत व्यापक फेरफार होते हैं—उस समय भी सत्य का एक अंश स्वीकार कर लिया जाता है और दूसरा छोड़ दिया जाता है। जो कुछ ज्ञात है उससे अधिक जानने, अर्थात् पहले प्राप्त हुए ज्ञान की वृद्धि करने, का नाम उन्नति या सुधार है। पर उन्नति में भी आदमी अकसर सत्य के एक ही अंश को ले लेते हैं। दूसरे को वे छोड़ देते हैं। विशेषता इतनी ही होती है कि सत्य के जिस अंश का स्वीकार किया जाता है उसकी, छोड़े गये सत्यांश की अपेक्षा, अधिक जरूरत रहती है और वह समय के अधिकतर अनुकूल भी होता है। इससे इतना ही फायदा होता है। यही उन्नति है और यही सुधार। जितने रूढ़ मत हैं पूर्णता किसीमें नहीं। वे चाहे सत्य के ही आधार पर निश्चित हुए हों, पर सत्यता का अंशमात्र उनमें रहता है। अतएव उन रूढ़ मतों में सत्य के जिस अंश की कमी है वह अंश जिन विरोधी मतों में हो उन सब को कीमती समझना चाहिए—चाहे उनमें जितनी भूलें हों और चाहे उनमें जितनी गड़बड़ हो। जो लोग ऐसे तत्त्व या सिद्धान्त प्रकट करते हैं जिसको शायद हम अपने आप कभी न जान सकते, उनपर इसलिए क्रोध करना कि उनको वे तत्त्व या सिद्धान्त नहीं

मालूम जो हमको मालूम हैं, बड़ा अन्याय है। शान्तचित्त होकर जो आदमी सांसारिक व्यवहार की बातों पर विचार करेगा वह इसे कभी उचित न समझेगा। उसे उलटा यह समझना चाहिए कि जब तक रूढ़ या प्रचलित बातों की एकपक्षीय विवेचना होती है—उन पर लोग एकतरफी विचार करते हैं—तब तक विरोधी विचारकों का होना बहुत ही जरूरी है। अर्थात् विरुद्ध-तत्त्वों का प्रतिपादन करनेवाले प्रतिपक्षी दल के न होने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि रूढ़ मतवालों के ध्यान को ऐसे ही प्रतिपक्षी अधिक उत्साह और अधिक परिश्रम से अपनी तरफ खींचते हैं। ऐसे ही प्रतिपक्षियों के द्वारा रूढ़ मत के अनुयायी उस सत्यांश के जानने में समर्थ होते हैं जिसकी, उनके मत में, कमी होती है और जिसे उनके प्रतिपक्षी सत्य का सर्वांश समझते हैं।

अठारवें शतक में प्रायः सारे शिक्षित और उनको अगुवा माननेवाले सारे अशिक्षित आदमी, नई विस्मयजनक सभ्यता और नये विस्मयजनक विज्ञान, साहित्य और तत्त्वशास्त्र को अचम्भे की दृष्टि से देखने में डूब से गये थे। वे लोग बढ़ बढ़कर बातें करते थे और कहते थे कि नये और पुराने जमाने के आदमियों में बड़ा अन्तर है। सब विषयों में वे पुराने जमाने के आदमियों की अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ समझते थे। ऐसे समय में रूसो * के असत्याभासरूपी (सच होकर बाहर से झूठ मालूम होनेवाले) बम के गोलों ने गिरकर एकतरफी मतों के बने बनाये ढेर को अस्तव्यस्त कर दिया और उनके तत्त्वों के टुकड़ों को दूसरे तत्त्वों के टुकड़ों के जोड़से अपना आकार पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा बना लेने में सहायता पहुंचाई। कहिए, इससे कितना फायदा हुआ? जितने मत उस समय रूढ़ थे वे सब रूसो के मतों की अपेक्षा सत्य से अधिक दूर न थे। उलटा वे उसके अधिक निकट थे। अर्थात् रूसो के मतों में सत्य का जितना अंश था प्रचलित मतोंमें उससे अधिक

---

* रूसो, स्विटजरलेण्डके जनीवा नगर में, १७१२ ई० में, पैदा हुआ। इसकी राय थी कि समाज की अनुमति से गवर्नमेंट की स्थापना होनी चाहिए। इससे कई देश इसके खिलाफ हो गये—विशेष करके फ्रांस। इसने नीतिविषयक कई ग्रन्थ लिखे हैं। फ्रांस में जो घोर राजविप्लव हुआ उसके कारणों में से इसके ग्रन्थों का प्रचार भी एक कारण था।

था। और रूसो के मतों में जितना भ्रम था प्रचलित मतों में उससे बहुत कम था। पर बात यह थी कि रूढ़ मतों में सत्य के जिस अंश की कमी थी वही अंश रूसो के मतों में खूब अधिक था और उसी अंश की जरूरत भी लोगों को खूब अधिक थी। इसीसे मतप्रवाह में पड़कर वह बह चला और धीरे धीरे सब लोगों तक पहुंच गया। जब रूसो के मतरूपी महानद की बाढ़ उतर गई तब सत्य का अंश नीचे रह गया। बाकी जो कुछ था वह सब बह गया। रूसो का मत था कि सीधा सादा, अर्थात् सरल, वर्ताव सब से अच्छा होता है और समाज के बनावटी बन्धन और दाम्भिक आचारविचारों से नीति नष्ट या क्षीण हो जाती है। इन बातों को उसने लोगों के मन में इतना ठांस ठांस कर भर दिया कि उनका प्रभाव आज तक सुशिक्षित आदमियों के हृदय में पहले ही की तरह जागृत है। तब से वह संस्कार पूर्ववत् वैसा ही बना हुआ है। उसका नाश नहीं हुआ। इन कल्पनाओं का नतीजा बहुत अच्छा होगा और किसी समय वह देख भी पड़ेगा। परन्तु अब वह समय नहीं है कि सिर्फ बातूनी जमाखर्च से काम निकल सके। इस समय इन कल्पनाओं का—इन बातों का—प्रतिपादन भी करना चाहिए और इनके अनुसार काम भी करना चाहिए। अर्थात् सिर्फ मुँह से कहना ही न चाहिए, करके दिखलाना भी चाहिए।

राजनैतिक विषयों में भी यह बात पाई जाती है। राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाले जो लोग हैं उन्होंने एक सामान्य सिद्धान्त यह निश्चय किया है कि राजसत्ता को अच्छी हालत में रखने के लिए दो पक्षों की जरूरत है—एक रक्षक या स्थिर पक्ष, दूसरा सुधारक या संशोधक पक्ष। अर्थात् एक ऐसा पक्ष होना चाहिए जिसकी राय यह हो कि जो कुछ है उसे ही बना रखना चाहिए; और दूसरा पक्ष ऐसा होना चाहिए जिसकी राय यह हो कि जो कुछ है उससे आगे बढ़ना चाहिए—उसकी उन्नति करना चाहिए। इन दोनों पक्षों की तब तक जरूरत रहती है जब तक इनमें से कोई एक पक्ष इतना प्रबल न हो जाय कि स्थिरता और सुधार, इन दोनों, के गुण उसमें आजांय। अर्थात् उसे यह मालूम होने लगे कि उस समय उसकी हालत है उसके खयाल से कौनसी बातें छोड़ देने और कौनसी वैसे ही बनी रखने के लायक हैं। इस हालत को पहुँचने तक दो पक्षों का होना बहुत ही जरूरी है। क्योंकि दोनों में कोई न कोई दोष जरूर होते हैं। अतएव हर-

एक पक्ष अपने विपक्षी के दोषों को दिखाकर समाज को लाभ पहुँचा सकत
है। विपक्षी की प्रतिकूलता ही हर पक्ष को औचित्य की सीमा के बाह
नहीं जाने देती—उसे अनुचित बातें करने से रोकती है। सर्वसाधारण
जनसत्ता और प्रधानजनसत्ताके, सम्पदा और समताके, सहयोगिता औ
प्रतिस्पर्धाके, सामाजिकता और व्यक्तिताके, स्वाधीनता और शासन
या व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली और भी ऐसी ही परस्पर विरू
बातों के अनुकूल या प्रतिकूल मत प्रकट करने के लिए सब लोगों व
पूरी पूरी स्वाधीनता देना चाहिए—सब को बिना किसी रोक टोक के अ
जादी मिलना चाहिए—और खूब उत्साह से समभाव रखकर इन विरोध
जोड़ों की विवेचना होनी चाहिए। उपयोगिता और अनुपयोगिता पर खू
विचार होना चाहिए। जब तक ऐसा न होगा तब तक दोनों पक्षोंके गुण
दोष समझ में न आवेंगे और एक पक्ष का पल्ला ऊंचा और दूसरेका जरू
नीचा बना रहेगा। व्यवहारसम्बन्धी जितने बड़े बड़े काम हैं उनमें से सत
को खोज निकालना विरोध बातों का मेल मिलाने—उनकी एकवाक्यत
करने—पर ही अधिक अवलम्बित रहता है। पर विरोधी बातों की, यथ
संभव, ठीक ठीक एकवाक्यता करने के लिए बहुत कम आदमियों का म
यथेच्छ न्यायी, उदार और प्रशस्त होता है। अतएव बेजोड़ बातों का जो
मिलाने, अर्थात् बेमेल विषयों की एकवाक्यता करने के लिए दो विरोध
झण्डे खड़े करके खूब लड़ना झगड़ना पड़ता है—खूब वादविवाद करन
पड़ता है। जिन विरोधी मतों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनमें से यदि किस
को मदद या उत्साह देना चाहिए तो जिस मत के अनुयायियों का दल
उस समय निर्बल हो उसे ही देना चाहिए। क्योंकि, उस समय, आदमियं
के फायदे की जिन बातों की लोग कम परवा करते हैं उन्हीं के लिए व
दल कोशिश करता है। अतएव यदि वह पक्ष इस तरह की कोशिश न क
तो उन बातों पर यथोचित विचार न होने का डर रहता है। मैं जानता
कि इस देशमें, इस समय, पूर्वोक्त बहुतसी बातों के विषय में अपने मत
भिन्न मत रखनेवालों की बातों और दलीलों को लोग सुनते हैं। उन
प्रकाशन में वे किसी तरह के अटकाव नहीं पैदा करते। भिन्न मतों क
असहिष्णुता उनमें नहीं है। अनेक सर्वमान्य दृष्टान्तों और उदाहरणों
द्वारा इस व्यापक सिद्धान्त की मजबूती की जा सकती है कि, आदमियों क

आज कल जिस तरह की बुद्धि और जिस तरह की विवेचनाशक्ति है उसके रहते, सत्यता के सब अंशों से जानकारी होने के लिए सिर्फ एक ही मार्ग है। वह मार्ग मतभिन्नता है। किसी भी विषय में दुनिया भरकी प्रायः एक राय होने पर भी यदि उसके प्रतिकूल कोई कुछ कहना चाहे, फिर चाहे सारी दुनिया का पक्ष ठीक ही क्यों न हो, तो भी उसे बोलने देना चाहिए। क्योंकि यह बहुत मुमकिन है कि अपने पक्ष के समर्थन में वह कोई ऐसी बात कहे जिससे दूसरे पक्षवालों का फायदा हो और जिसे न करने देने से सत्यका थोड़ा बहुत नुकसान हो जाय।

इस पर कोई यह आक्षेप कर सकता है कि—"कुछ रूढ़, अर्थात् प्रचलित, बातें—विशेष करके बड़े बड़े और आवश्यक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली—ऐसी हैं जिनमें सत्यता पूरे तौरपर पाई जाती है। यह नहीं कि उनका कुछ अंश सच हो और कुछ झूठ। उदाहरण के किए क्रिश्चियन-धर्म की नीति को देखिए। नीतिसम्बन्धिनी सत्यता की उसमें जरा भी कमी नहीं है। उस सत्यता का पूरा अंश उसमें विद्यमान है। यदि कोई आदमी उस नीति के विरुद्ध किसी तरह की नीति सिखलाने लगा, या उसके विरुद्ध किसी तरह का उपदेश देने लगा, तो वह बहुत बड़ी गलती करेगा। उसकी नीति बिलकुल ही भ्रामक होगी।" यह एक ऐसी बात है जो प्रतिदिन के व्यवहार से बहुत ही अधिक सम्बन्ध रखती है। इस लिए यह दृष्टान्त सब से अधिक महत्त्वका है। जिस सिद्धान्त का वर्णन मैंने किया है उसकी कसौटी में कसकर, योग्यता या अयोग्यता की जांच करनेके लिए, इससे अधिक अच्छा दृष्टान्त और नहीं मिल सकता। इसलिए मैं इसे अपनी सिद्धान्त-रूपिणी कसौटी पर कसना चाहता हूं। परंतु क्रिश्चियननीति की जांच करने के पहले, इस बात का फैसला बहुत जरूरी है कि क्रिश्चियन-नीति से मतलब क्या है—क्रिश्चियन नीति कहते किसे हैं? क्रिश्चियन-नीति से यदि नई धर्म्मपुस्तक (New Testment) में कही गई नीति से मतलब है तो जो आदमी उस पुस्तक को पढ़ कर उस नीति का ज्ञान प्राप्त करेगा उसे शायद ही इस बात की कल्पना होगी कि नीति से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें या जितने तत्त्व हैं वे सभी उस पुस्तक में हैं; अथवा यह कि नीतिविषयक सब सिद्धान्तों को पूरे तौर पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से सिखलाने के लिए ही उसकी उत्पत्ति हुई है।

यदि कदाचित् उसकी कल्पना ऐसी हो जाय तो अचम्भे की बात होगी। इस नई पुस्तक में पुरानी नीति का जिक्र जगह जगह पर है जहां कहीं उसमें नीति की बात है वहां उसका सम्बन्ध पुराने जमाने से है। उसमें नीति-विषयक जो नियम हैं वे या तो पुराने नीतिशास्त्र की भूलें दिखलाने के लिए हैं या पुराने नियमोंको अधिक व्यापक और अधिक ऊंचे बनाने के लिए हैं। इसके सिवा और कोई अभिप्राय उनका नहीं है। फिर इस नई धर्म्म-पुस्तक में जो नीति–नियम हैं वे इतने साधारण हैं कि उनका ठीक ठीक शब्दार्थ समझना बहुधा असम्भव है। काव्य की भाषा जैसी सरस, धारावाही और आलङ्कारिक होती है वैसी ही इसकी भी है। धर्म्मशास्त्र, कानून, की सी निश्चित और नियमित भाषा इसकी नहीं है। यह नहीं कि जिस शब्द या वाक्य का प्रयोग जिस अर्थ के लिए किया गया हो वही उससे निकले। यह इसमें बहुत बड़ा दोष है। बिना पुरानी धर्म्म-पुस्तक की मदद के नई पुस्तक से नीतिसम्बन्धी नियमों को अलग करने में आज तक किसी को कामयाबी नहीं हुई। पुरानी पुस्तक परिष्कृत अवश्य है—उसकी नियमावली विस्तृत अवश्य है—पर अनेक विषयों में उसके नियम सभ्यता की हद के बाहर चले गये हैं। सच तो यह है कि ये नियम सिर्फ असभ्य, अर्थात् अनार्य्य जंगली, लोगों ही के लिए हैं। क्रिश्चियन लोगों में सेंट पाल एक महात्मा हो गया है। वह पुरानी धर्म्म-पुस्तक की सहायता से क्राइस्ट के नीति-नियमों का कभी अर्थ न करता था—कभी उनका समर्थन न करता था। इस तरह के समर्थन—इस तरह की व्याख्या—का वह पूरा दुश्मन था। परन्तु वह अपने मालिक की उक्तियों की व्याख्या एक और ही तरकीब से करता था। वह क्राइस्ट, अर्थात् ईसा, की कही हुई नीति के पहले भी नीति-शास्त्र का होना कबूल करता था। ग्रीक और रोमन लोगों के नीतिशास्त्र ईसा के बहुत पहले बन चुके थे। सेंट पाल इन शास्त्रों को मानता था। उसने क्रिश्चियनों को जो उपदेश दिया वह बहुत करके इन्हीं नीतिशास्त्रों के आधार पर दिया—यहां तक कि लोगों को गुलाम बनाना तक उसने सशास्त्र बतलाया। यह बात उसके उपदेशों से साफ मालूम होती है। जिसे लोग क्रिश्चियन नीति कहते हैं उसे यदि वे आध्यात्मिक या पारमार्थिक नीति कहें तो उनका कहना अधिक सयौक्तिक हो। क्योंकि उस नीति की रचना न तो क्राइस्ट ने की और न उसके प्रेरित दूतों या चेलों

ही ने की। वह उनके बहुत दिन बाद तैयार हुई है। पहले पांच सौ वर्षों में कैथलिक सम्प्रदाय के अनुयायियोंने धीरे धीरे उसकी रचना की । आज कल के आदमियों और प्राटेस्टेंट-सम्प्रदाय के अनुयायियों ने यद्यपि इस नीति को आंख बन्द करके नहीं स्वीकार करलिया, तथापि, उन्होंने आशानुरूप विशेष फेरफार भी उसमें नहीं किये। मध्ययुग में जितनी नई नई बातें इस नीति में शामिल हो गई थीं उन्हींको निकाल कर इन लोगों ने अपने अपने पन्थ या समुदाय के अनुकूल उनकी जगह और बातें रखदीं। बस इतने ही में उन्होंने सन्तोष किया। मैं इस बात को खुशी से मानता हूं कि इस क्रिश्चियन-नीति और उपदेशकों ने बहुत बड़े उपकार का काम किया है। इसके लिए सारी दुनिया उनकी ऋणी है। पर यह कहते मुझे संकोच नहीं कि बहुतसे महत्त्व के विषयों में यह नीति अपूर्ण और एकपक्षीय है। और यदि ऐसे बहुतसे विचार और व्यवहार, जिनकी मंजूरी इस नीति में नहीं है, योरपवालों के काम-काज, रीति-रस्म और चाल-चलन में स्थान न पाते तो उनकी कभी इतनी उन्नति न होती। उनकी इस समय जो हालत है उससे कहीं बदतर होती। क्रिश्चियन-नीति में विप्रतिकार ही की अधिकता है; उसके सब नियम बहुत करके निषेधरूपी ही हैं। जो कुछ उसमें है उसका अधिक अंश मूर्तिपूजा ही के विरुद्ध है। उसकी झोंक आज्ञा देने की अपेक्षा मना करने की तरफ अधिक है; काम करने की अपेक्षा बेकार रहने की तरफ अधिक है; सज्जनता की अपेक्षा भोलेपन की तरफ अधिक है। वह यह नहीं कहती कि खूब उत्साह के साथ सत्कार्य करो; वह कहती है कि पापात्मा मत बनो—पाप से दूर रहो। उस नीति में इस तरह के वचन बहुत कम हैं कि—"तू यह काम कर।" पर इस तरह के वचन बहुत हैं कि—"तू यह काम मत कर।" लोगों में विषयासक्ति की अधिकता देख बेहद घबरा कर उसने बैराग्य की महिमा बहुत ही बढ़ा दी—यहां तक कि विरक्त होना धीरे धीरे न्यायसङ्गत और धर्म्मानुसार माना जाने लगा। वह कहती है कि सदाचरण का एक मात्र फल स्वर्ग की प्राप्ति और नरक से बचना है। इस विषय में यह नीति पुराने जमाने के कुछ उत्तमोत्तम धार्मिकों की नीति की अपेक्षा बहुत ही कम योग्यता की है। क्योंकि इससे स्वार्थ-साधन की इच्छा विशेष बढ़ गई है और लोगों के मन से यह बात उतरती चली जारही है कि परोपकार करना भी

हमारा परम धर्म्म है। परोपकारसम्बन्धी विचारों को इसने आदमियों के दिल से दूर कर दिया है। दूसरों के फायदे का लोग वहीं तक खयाल करते हैं जहां तक उनके स्वार्थ की हानि नहीं होती। क्रिश्चियन-नीति केवल आज्ञावाहक नीति है, और कुछ नहीं। अर्थात् उसका सिद्धान्त सिर्फ यह है कि आंख बन्द करके लोग उसके नियमों का चुपचाप पालन करें। उसकी आज्ञा है कि जितने अधिकारी हैं, जितने सत्ताधारी हैं, उनका कहना, बिना जरा भी जबान हिलाये, सब को मानना चाहिए। हां, यदि वे धर्म्मविरुद्ध कोई दुराचार करना चाहें तो उनकी आज्ञा मानना मुनासिब नहीं; पर वे चाहे हम पर जितना जुल्म करें, चाहे हमको जितनी तकलीफ पहुंचावें, हमारा यह कर्तव्य नहीं कि हम उनकी आज्ञा को भङ्ग करें। ऐसी हालत में उनके खिलाफ विद्रोह खड़ा करने, अर्थात् बलवा करने का, तो जिक्र ही नहीं। वह तो बहुत दूर की बात है। उसका तो नाम ही न लेना चाहिए। अब यदि आप पुराने मूर्ति-पूजक देशों की नीति पर ध्यान दीजिएगा तो आपको मालूम हो जायगा कि उसमें स्वदेशप्रीति की बहुत अधिक महिमा गाई गई है—यहां तक कि व्यक्तिविशेष के स्वार्थ की अपेक्षा देश और समाज के स्वार्थ की तरफ अधिक ध्यान दिया गया है। अर्थात् पुराने मूर्तिपूजक देशों में जो देश अधिक समझदार थे उन्होंने स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ को ही विशेष महत्त्व दिया है। पर क्रिश्चियनों की नीति में, मनुष्य के इस बहुत बड़े कर्तव्य का उपदेश तो दूर रहा, नाम तक नहीं है; उल्लेख तक नहीं है; जिक्र तक नहीं है। उदाहरण के लिए, यहां पर मैं एक विशेष महत्त्व का वचन उद्धृत करता हूं। यह वचन क्रिश्चियन लोगों की नई धर्म्म-पुस्तक का नहीं है; मुसल्मानों के कुरान का है। वह वचन यह है:—" अपने राज्य में अधिक योग्य आदमी होने पर भी जो राजा कम योग्यता के आदमी को कोई अधिकार देता है वह केवल ईश्वर ही की दृष्टि में अपराधी नहीं होता, किन्तु देश की दृष्टि में भी अपराधी होता है—वह दोनों की दृष्टि में पाप करता है।" स्वदेश-सेवा या स्वदेश-कर्तव्य के सम्बन्ध में जो थोड़ा बहुत महत्त्व आज कल की नीति में पाया जाता है वह क्रिश्चियन नीतिशास्त्र की बदौलत नहीं है; उसके लिए हम लोग ग्रीस और रोम के पुराने नीतिशास्त्र के ऋणी हैं। उसीके प्रसाद से इस तरह की कल्पना हम लोगों के मन में पैदा हुई है। घर-

गृहस्थी के कामों, अर्थात् खानगी बातों, तक में जो थोड़ा बहुत मनोमहत्त्व, उदारभाव और आत्मगौरव देख पड़ता है वह धार्म्मिक शिक्षा से नहीं, किन्तु मानुषिक शिक्षा से हमें मिला है । वह भी ग्रीक और रोमन नीतिशास्त्र ने ही हमें उधार दिया है । जिस क्रिश्चियन-नीति में सिर्फ आज्ञापालन पर ही इतना जोर दिया गया है उससे ये गुण हमको कदापि मिल भी न सकते ।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि जिन दोषों का मैंने ऊपर जिक्र किया—जिन अभावों का मैंने ऊपर उल्लेख किया—वे सब आदि से लेकर अन्त तक क्रिश्चियन नीतिशास्त्र में भरे हुए हैं । उनको मैं सब कहीं अन्तर्वर्ती नहीं मानता । उनको मैं सब कहीं स्वाभाविक नहीं कहता । मेरा यह तात्पर्य नहीं कि चाहे जिस तरह से विचार किया जाय इन दोषों से इस नीति का पीछा नहीं छूट सकता । और न मेरे कहने का यही तात्पर्य्य है कि नीतिसम्बन्धी जो बातें इसमें नहीं हैं उनका मेल इसमें कही हुई बातों से नहीं हो सकता । खुद क्राइस्ट के सिद्धान्तों और उपदेशों पर तो मैं परोक्ष रीति से भी इस तरह का दोषारोप नहीं कर सकता—पर्य्याय से भी दोष दिखलाने की चेष्टा नहीं कर सकता । मेरी राय यह है कि जो कुछ जिस मतलब से क्राइष्ट ने कहा है वह बहुत ठीक कहा है; उसके सच होने में कोई सन्देह नहीं । नीतिशास्त्र में जितनी बातें अच्छी अच्छी होनी चाहिए वे सब, बिना खैंचातानी के, क्राइस्ट के उपदेशों में पाई जाती हैं । उनमें कोई बात ऐसी नहीं जो नीति के नियमों के प्रतिकूल हो । यह नहीं कि उसके कोई वचन सार्वजनिक नीति के किसी अंश से मेल न खाते हों । तथापि जो कुछ क्राइस्ट मे कहा है, जो उपदेश क्राइस्ट ने दिया है, उस सब में सत्य का अंश-मात्र है । अर्थात् सत्य उसमें सर्वतोभाव से नहीं है; सत्य का सर्वांश उसमें नहीं आगया । और, क्राइस्ट का उद्देश भी ऐसा ही था । क्रिश्चियन-धर्म्म की नीव डालनेवाले इस आचार्य के जो वचन, या जो उपदेश, लिख रक्खे गये हैं उनमें उत्तमोत्तम नीति के बहुत से प्रधान प्रधान तत्त्व नहीं पाये जाते । क्राइस्ट का उद्देश भी उन तत्त्वों के बतलाने का न था । इसीसे क्राइस्ट की डाली हुई नीव पर क्रिश्चियन नीति की जो इमारत तैयार कीगई है उसमें उन तत्त्वों को जगह नहीं मिली । वे उसमें कहीं नहीं देख पड़ते । इस दशा में संसार के सारे व्यवहारों से

सम्बन्ध रखनेवाले नीतितत्त्वों को क्राइस्ट की नीतिमाला से ढूंढ़ निकालने का जो लोग हठ और दुराग्रह करते हैं वे भूलते हैं। जो लोग यह कहते हैं, कि यद्यपि क्राइस्ट ने नीति के सब नियमों की योजना अपने वचनों में नहीं की तथापि वे सब उस धर्म्मस्थापक को मंजूर जरूर थे, वे सरासर गलती करते हैं। मेरी यह भी राय है कि इस तरह की अनुदार बुद्धि—इस तरह की संकुचित कल्पना—धीरे धीरे अधिकाधिक हानिकारक होती जाती है और जिस नीति को सिखलाने और उत्तेजित करने के लिए इस समय समाज के अनेक हितचिन्तक परिश्रमपूर्वक प्रयत्न कर रहे हैं उसकी कीमत को वह बेतरह घटा रही है। मुझे इस बात के खयाल से बहुत डर लगता है कि इस प्रकार की खालिस धर्म्मशिक्षा के जोर से लोगों के मन और आचार-विचार को परिमार्जित बनाने, और दूसरे प्रकार की नीति की कुछ भी परवा न करने, से लोगों का स्वभाव नीच, कमीना और पराधीन होता जाता है। दूसरे प्रकार की नीति, अभी तक क्रिश्चियन-नीति के साथ साथ सिखाई जाती रही है; उसने क्रिश्चियन-नीति की उन्नति तक की है। अब तक क्रिश्चियन-नीति की बदौलत अनेक अच्छे अच्छे तत्त्व दूसरे प्रकार की लौकिक नीतियों को मिले हैं और क्रिश्चियन-नीति ने भी दूसरी नीतियों से बहुतसी अच्छी अच्छी बातें पाई हैं। पर अब यह बात बन्द होती जाती है। यह अच्छा नहीं। इससे बड़ी हानि है। क्योंकि आदमियों के मनमें अब यह भावना जोर पकड़ती जाती है कि ईश्वर की इच्छा अनिवार्य है; उसे कोई रोक नहीं सकता; वह जो कुछ चाहता है करता है। यह कल्पना लोगों के मन में अब बहुत कम पैदा होती है कि ईश्वर परम दयालु है; ईश्वर की नेकी में कोई सन्देह नहीं; खूबी में ईश्वर अपना सानी नहीं रखता। मनुष्य की नैतिक उन्नति के लिए—मनुष्य की सदाचारवृद्धि के लिए—क्रिश्चियन नीति के साथ साथ और और नीतियों का होना भी बहुत जरूरी है। अर्थात् जो लोग क्रिश्चियन धर्म्मके अनुयायी हैं उनको चाहिए कि वे सिर्फ अपनी ही धर्म्मनीति के भरोसे न बैठे रहें, औरों की नीति से भी मदद लें। जब तक मनुष्यके मानसिक विचार पूर्णता को नहीं पहुंचते—जब तक मनुष्य का मन खूब उन्नत नहीं हो जाता—तब तक मतभिन्नता का होना बहुत जरूरी है। इस दशामें बिना मतवैचित्र्य के सत्य मत का—सत्य बात का—पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इसका मुझे पूरा विश्वास है।

और और नीतिशास्त्रों के नियमों की पाबन्दी करने में क्रिश्चियन नीतिशास्त्र के नियमों को भुला देने, या उनके अनुसार व्यवहार न करने की सलाहें नहीं देता। मैं यह नहीं कहता कि जो तत्त्व क्रिश्चियननीति में नहीं हैं उन तत्त्वों को और लोगों की नीति से ले लेने में जो तत्त्व क्रिश्चियन-नीति में हैं उनको भूल जाय। ऐसा करने की कोई जरूरत नहीं। ऐसा करना अच्छा भी नहीं। तथापि इस तरह की भूल होना सम्भव भी नहीं। मिथ्या विश्वास रखनेवाले पाखण्डी आदमियों से ऐसी भूल हो सकती है। दूसरे नीतिशास्त्र के तत्त्व वे भूल सकते हैं। ऐसी भूल का होना बुरा है, अनुचित है, अहितकर है। इसमें सन्देह नहीं। औरों की नीति से अच्छी अच्छी बातें ले लेने में फायदा है; और बहुत फायदा है। इससे उस फायदे के खयाल से इस तरह की भूलों की परवा न करना चाहिए। किसी नई चीज के पाने में कुछ खर्च भी करना पड़ता है। इस बातको ध्यान में रखना चाहिए और इस तरह की भूलों को, होनेवाले उस बहुत बड़े फायदे की कीमत समझना चाहिए। हमारे नीतिशास्त्र में सत्य का सर्वांश नहीं है; सिर्फ उसका कुछ अंश भर है। अर्थात् उसमें थोड़ा ही सत्य है। ऐसा होने पर भी जो इस बात का दावा करते हैं कि थोड़ा नहीं, पूरा सत्य, उसमें विद्यमान है उनका यह बहुत बड़ा फर्ज है—बहुत बड़ा कर्तव्य है—कि उनके इस दावे के विरुद्ध जो आक्षेप हों उनको वे सुनें। यदि आक्षेप करनेवाले, अर्थात् विरोधी दल के लोग, भी यह कहने लगें कि हमारे ही मत में सत्य का सर्वांश है; उसमें सत्य की जरा भी कमी नहीं; है तो उनका भी यह दावा सर्वथा अनुचित है। वह कभी न्यायसङ्गत नहीं कहा जा सकता। ऐसे दावे को सुन कर हम अफसोस कर सकते हैं; पर उसे रोक देना हमें उचित नहीं। उचित हमें यह है कि हम इस तरह के दावे का युक्तिपूर्ण खण्डन करें और यथारीति उसे झूठ साबित कर दें। क्रिश्चियन लोग जिन पर-धर्म्मवालों को नास्तिक, धर्म्मनिन्दक या अविश्वासी कहते हैं उनको यदि वे यह सिखलाना चाहें कि वे क्रिश्चियन धर्म के विषय में पक्षपात छोड़कर जो कुछ कहना हो कहें, तो क्रिश्चियनों को चाहिए कि वे भी परधर्मवालों के धर्म्मसम्बन्ध में पक्षपात छोड़ दें। जिन लोगों का इतिहास से थोड़ा भी परिचय है वे भी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि नीति के जितने तत्त्व हैं बहुत ही उदार और बहुत ही अनमोल हैं उनका सब से अधिक भाग क्रिश्चियन धर्म के अनुया-

यियों की कृपा का फल नहीं है। वह सिर्फ उन्हीं लोगों का प्रसाद नहीं है जो क्रिश्चियन मत के सिद्धान्तों को नहीं जानते थे; किन्तु उनका भी है जो इस मत के सिद्धान्तों को अच्छी तरह जानकर भी उन्होंने उनको कबूल नहीं किया। इस बात पर धूल डालने की कोशिश करना गोया सत्य को छिपाना है। इस तरह की अनुचित काररवाई से सत्य की सेवा नहीं हो सकती—सत्य की उन्नति नहीं हो सकती—सत्य की प्रीति नहीं बढ़ सकती।

मेरा यह मतलब नहीं है कि जितने मत हैं उन सब को प्रकट करने के लिये बेहद व बेहिसाब स्वतन्त्रता देने से जितने धार्म्मिक सम्प्रदाय हैं और जितने तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी पन्थ हैं उनकी सारी बुराइयों का एकदम संहार हो जायगा। जो अल्पज्ञ हैं वे जब अपने मत की योग्यता की विवेचना करेंगे; वे जब अपने सिद्धान्तों के विषय में उपदेश देंगे; वे जब अपनी समझ के अनुसार बर्ताव करेंगे; तब उनको जरूर खयाल होगा कि उनके मत से अच्छा और कोई भी मत दुनिया में नहीं है; और यदि है भी तो उसमें कोई बात उनके स्वीकार करने लायक नहीं है। लोगों को वादविवाद और विवेचना की चाहे जितनी अधिक स्वतन्त्रता दीजाय, जुदा जुदा पन्थों का बनना बन्द न होगा। यह मैं अच्छी तरह जानता हूं। जो बात अपनी दृष्टि में नहीं आई उसे जब अपने विरोधी बतलावेंगे तब लोग और भी अधिक चिढ़ जायंगे; और भी अधिक उससे द्वेष करने लगेंगे; और पहले से भी अधिक दृढ़ता से उसका त्याग करेंगे। यह सब सच है। परन्तु हठपूर्वक वादविवाद करनेवाले परस्पर विरोधी-दलों पर इस विवेचना का यद्यपि कुछ भी अच्छा असर न होगा, तथापि जो लोग तटस्थ रहकर शान्तिपूर्वक इस विवाद को सुनेंगे उनके चित्त पर इसका जो असर होगा वह बहुत ही हितकर होगा। सत्य के किसी अंश का बिलकुल ही लोप कर देने से जितना अहित होता है उतना अहित उसके कुछ अंशों में परस्पर विरोध पैदा होजाने से नहीं होता; फिर चाहे वह विरोध जितना प्रबल हो। जब लोगों के मन में यह बात जम जाती है कि दोनों पक्षवालों की दलीलें सुनना ही चाहिए तब भलाई की जरूर आशा होती है। पर जब आदमी हठधर्म्मी करके किसी एक पक्ष की तरफ झुक पड़ते हैं तब जरूर अधिक भूलें होती हैं; और तभी मिथ्याविश्वास को अधिक मजबूती आती है। इस दशा में सच बात झूठ होजाती है। इससे उसका परिणाम भी बुरा होता है। जब किसी विषय में

वाद-विवाद होता है तब दोनों पक्षों को अपना अपना वकील करने देना चाहिए। ऐसा होना बहुत जरूरी है। क्योंकि एक ही पक्ष के वकील की बहस सुनने से दोनों पक्षों का निष्पक्षपातपूर्वक विचार करने की सद्बुद्धि विरले ही जज को होती है। इससे जज को उचित है कि वह दोनों पक्षों को अपने अपने वकील मुकर्रर करने दे; उनमें से हर एक को अपने अपने पक्ष को सच साबित करने के लिए यथासाध्य चेष्टा करने दे। यही नहीं, किन्तु जो कुछ वे कहें उसे वह ध्यान से सुने भी। जब तक यह बात न होगी—जब तक इस तरह की स्वतंत्रता न दी जायगी तब तक सत्य की जीत न होगी। जितनी अधिक इस तरह की स्वतंत्रता लोगों को मिलेगी उतनी ही अधिक सत्य की जीत होगी; उतनी ही अधिक सत्य की वृद्धि होगी; उतनी ही अधिक सत्य की उन्नति होगी।

संसार में जितने सुख हैं वे सब मनुष्य के मानसिक सुखों पर ही अवलम्बित हैं। वे उन्हीं पर मुनहसिर हैं। मनोविषयक सुखों की प्राप्ति से ही सब तरह के सुख प्राप्त होते हैं। इसीसे सब को अपनी अपनी राय कायम करने और उसे जाहिर करने की आजादी का मिलना बहुत जरूरी बात है—अपना अपना मत स्थिर करने और उसे प्रकट करने की स्वतन्त्रता का मिलना बहुत आवश्यक है। इस बात का विचार, इस बात का निरूपण, यहां तक चार प्रकार से किया गया। चार बातों, या चार तत्त्वों, को प्रधान मान कर इस स्वतंत्रता की—इस आजादी की—विवेचना हुई। उनको अब मैं संक्षेप से दोहराता हूं।

पहला—यदि किसी मत का प्रकाशित किया जाना रोक दिया जाय तो बहुत हानि होने की सम्भावना है। क्योंकि यह कोई नहीं कह सकता कि जिस मत का प्रकाशन रोका गया है वह सच नहीं है। सम्भव है वह सच हो। दृढ़ता के साथ यह कहना कि वह सच नहीं है मानो सर्वज्ञ होने का दावा करना है।

दूसरा—जो बात जाहिर की जाने से रोकी गई है वह यदि भ्रान्तिमूलक भी हो तो भी उसमें थोड़ी बहुत सत्यता का होना सम्भव है। बहुधा उसमें सत्यता का थोड़ा बहुत अंश होता भी है। जितनी प्रचलित बातें हैं, जितने प्रचलित मत हैं, जितने प्रचलित रीति-रवाज हैं, उनमें सत्य का सर्वांश बहुत कम रहता है। अर्थात् बहुत कम यह देखा जाता है कि वे

सर्वतोभाव से सच हैं—पूरे तौर से सही हैं। अथवा यों कहिए कि सत्य का सर्वांश उनमें कभी ही नहीं। इससे विरोधी मतों की परस्पर रोंकझोंक होने से ही सत्य के शेष अंश के मिलने की आशा रहती है।

तीसरा—मान लीजिए कि रूढ़ मत, अर्थात् प्रचलित राय या बात, ठीक है। यही नहीं, किन्तु यह भी मान लीजिए कि वह सब तरह से सच है; उसका सर्वांश सत्य है उसका कोई अंश भ्रान्तिमूलक नहीं। तोभी यदि वह मत प्रकट न किया जायगा और उसके विपक्षी, दिल खोल कर, खूब उत्साह के साथ उसका विरोध न करेंगे तो वह मत एक दुराग्रह की तरह एक हठवाद की तरह—लोगों के मन में लीन रह जायगा। उसकी उपयोगिता, उसकी सयौक्तिकता, उसकी सत्यता का कभी अनुभव न होगा। वह बात कभी उनकी समझमें अच्छी तरह न आवेगी।

चौथा—यही नहीं, किन्तु वाद-विवाद और विवेचना न होने से किसी भी मत, राय या बात के असली अर्थ के कमजोर होजाने या उसके बिलकुल ही भूलजाने का डर रहता है और आदमियों के आचार, विचार और व्यवहार पर उसका जो परिणाम होना चाहिए वह धीरे धीरे जाता रहता है। इस दशा में उस मत की जो मोटी मोटी बातें होती हैं—जो विशेष विशेष वचन होते हैं—सिर्फ वही याद रह जाते हैं। उनसे कोई फायदा नहीं होता; उनकी हितकारिणी शक्ति जाती रहती है; परिणाम में अच्छा फल देने की उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। उस मत की नियमावली का—उसके वचनों का—मन के ऊपर सिर्फ बोझ मात्र लदा रह जाता है। और, तजरुबा और समझ के बल से सच्चे और मनोनीत विश्वास के जमने में बहुत अधिक बाधा आती है।

कुछ आदमियों की राय है कि जिसका जो मत हो उसे प्रकाशित करने के लिए उसको पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए; परन्तु उसके प्रकाशन का प्रकार—उसके जाहिर करने का तरीका—परिमित होना चाहिए। उसमें तीव्रता का होना अच्छा नहीं। उसमें वाद-विवाद करने की सीमा का उल्लंघन होना अच्छा नहीं। अतएव विचार और विवेचना की स्वाधीनता का विषय समाप्त करने के पहले इन लोगों के मत की भी मैं समालोचना करना चाहता हूं। अब यह देखना है कि विवाद की सीमा कहां पर और कैसे नियत करना चाहिए। किस जगह तक न जाने से सीमा का उल्लंघन

होगा और किस जगह तक न जाने से सीमा का उल्लंघन न होगा? पर इस तरह की सीमा नियत करना असम्भव है—नामुमकिन है। यह बात अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध की जा सकती है। क्योंकि जिसके मत के विरुद्ध विवेचना की जाती है—जिसकी बात का खंडन किया जाता है—उसको क्रोध आना या बुरा मालूम होना ही यदि सीमोल्लंघन का प्रमाण या चिह्न माना जाय तो तजरुबा इस बात की गवाही दे रहा है कि जब जब प्रतिकूल समालोचना, विरुद्ध वाद या दूसरे के मत का खंडन खूब प्रबल और खूब प्रभाव से भरा हुआ होगा तब तब जिन लोगों के मत के प्रतिकूल विवेचना होगी उनको जरूर ही बुरा लगेगा। विरोधी पक्ष का जो जो आदमी उनकी दलीलों को विशेष सबल प्रमाणों द्वारा काटेगा और खूब जी जान लड़ाकर उनको निरुत्तर कर देगा उस उस पर मर्य्यादा के बाहर जाने का जरूर ही इलजाम लगाया जायगा। इस दशा में विरोधियों को यह जरूर ही मालूम होगा कि उसने विवेचना की सीमा का उल्लंघन किया। व्यवहार की दृष्टि से देखने में यह बात यद्यपि महत्त्व की मालूम होती है तथापि यह एक ऐसी प्रधान आपत्ति है—एक ऐसा खास उज्र है—कि उसके सामने यह बात कोई चीज ही नहीं। कोई मत सच होने पर भी यदि उसके विवेचन की रीति सदोष है तो उसके प्रतिकूल आपत्ति हो सकती है और वैसी विवेचना करनेवाले की निर्भर्त्सना भी की जा सकती है। ऐसी हालत में उसकी मलामत करना, उसकी निन्दा करना, उसे दोषी ठहराना बहुत उचित होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इस तरह के मुख्य दोष ऐसे होते हैं कि दोषी आदमी, भूल से, या और किसी अचानक घटना के पेंच में पड़कर, यदि उनको खुद ही कबूल न करले, तो उनके सदोष होने के विषय में उसे कायल करना—उसे अपना दोष मान लेने के लिये विवश करना—प्रायः असम्भव होता है। अनुचित या धोखेसे भरी हुई दलीलें पेश करना; प्रमाणों या प्रत्यक्ष बातों को छिपाना; जिस विषय की विवेचना हो रही है उसके कुछ अंशोंका अन्यथा वर्णन करना; और विरोधी पक्ष के मत को और ही रूप देना—इत्यादि इस विषय के बहुत बड़े बड़े दोष हैं। तथापि ये सब महा दोष आदमियों के हाथ से हमेशा ही हुआ करते हैं; और ऐसे वैसे आदमियों के हाथ से। फिर, ये लोग इन बातों को दोष ही नहीं समझते। इस प्रकार की रीति का अवलम्बन वे बुद्धिपुरःसर करते हैं। अतएव

सप्रमाण और अन्तः-करणपूर्वक यह कहना बहुत कठिन जाता है कि वे लोग जान बूझ कर ऐसा अपराध करते हैं—जान बूझ कर वे किसी बात को अन्यथा सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। इस कारण वाद-विवाद और विवेचना से सम्बन्ध रखनेवाले इस बुरे व्यवहार का—इस बुरी काररवाई का—कानून के द्वारा प्रतिबन्ध करना कभी उचित, योग्य और न्यायसङ्गत नहीं हो सकता। जिस वाद-विवाद को लोग अपरिमित, संयसहीन या कोपगर्भित कहते हैं उसमें कुचेष्टा, उपहास, गाली, व्यङ्ग और व्यक्ति-विशेष सम्बन्धी नोक झोंक आदिका अन्तर्भाव होता है। यदि कोई यह सलाह दे कि वाद-विवाद के इन तेज हथियारोंसे दोनों पक्षवालों में से कोई भी काम न ले तो उसका कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। पर उसकी बात सुनेगा कौन? क्योंकि लोगों का खयाल यह हो रहा है कि सिर्फ रूढ़, अर्थात् प्रचलित, मत के विरुद्ध बोलनेवालों को इन शस्त्रों से काम लेने की मनाई होनी चाहिए। पर जो मत रूढ़ नहीं हैं—जो बातें प्रचलित नहीं हैं–उनके विरुद्ध यदि कोई इनसे काट करने लगे तो कोई उनको कुछ न कहे। यही नहीं, किन्तु, बहुत सम्भव है, लोग उसकी तारीफ भी करें और कहें कि इसे जो क्रोध आया वह बहुत ठीक आया और इसने आवेश में आकर जो कुछ कहा वह बहुत ठीक कहा। परन्तु, सच बात यह है कि इन शस्त्रों के उपयोग से सब से अधिक हानि हीन पक्षवालों ही की होती है। जो पक्ष निराश्रय है—जो पक्ष निर्बल है–उसीको अधिक क्षति पहुंचती है। और, यदि इन शस्त्रों का उपयोग बन्द कर दिया जाय, अर्थात् यदि इनके चलाने की मनाई हो जाय, तो जो मत रूढ़, अतएव प्रबल, होगा उसीको विशेष लाभ होगा। इस प्रकार का सबसे बड़ा अपराध अपने विपक्षी को दुःशील, दुर्जन या दुराचारी कह कर उसे कलङ्कित करना है। जो लोग अप्रचलित मत का पक्ष लेते हैं, अर्थात् जो मत रूढ़ नहीं है उसे जो स्वीकार करते हैं, उन पर ऐसे कलङ्क अधिक लगाये जाते हैं। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होती है। सब आदमी उनका दबाव नहीं मानते। इस बात की कोई परवा भी नहीं करता कि उनके साथ लोग बुरा बर्ताव कर रहे हैं या भला। यदि इस बात की परवा किसीको होती है तो सिर्फ उन्हींको होती है जिन पर ऐसे कलङ्क लगाये जाते हैं। पर जो किसी प्रचलित रीति या किसी प्रचलित मत पर आक्रमण करते हैं उनको लोग ये वचनशस्त्र नहीं उठाने देते। वे इन शस्त्रों को अच्छी

तरह काम में ला भी नहीं सकते। और, यदि वे इनसे काम लें भी तो उलटी उन्हींकी हानि हो—अर्थात् दूसरों की व्यर्थ निन्दा करने से उनका निर्वाह न हो सके। इसलिए, मामूली तौर पर जो मत प्रचलित मतों के विरुद्ध हैं उन्हींके अनुयायियों को वाद-विवाद की सीमा के भीतर रहना चाहिए—उन्हींको नियमित और परिमित विवेचना का अभ्यास करना चाहिए। तभी लोग उनकी बातों को शान्तिपूर्वक सुनेंगे। तभी लोग उनकी दलीलों पर गौर करेंगे। उनको इस बात की हमेशा खबरदारी रखना चाहिए कि उनके मुंह से कोई ऐसा शब्द या वाक्य न निकल जाय जो किसीको नागवार हो। इस विषय में जरा भी बेपरवाही उनसे हुई—जरा भी असावधानी उन्होंने की—कि उनकी हानि हुई। इस हालत में वे हानि से कभी नहीं बच सकते। इधर प्रचलित मत के अनुयायियों ने यदि बेहिसाब गाली गलौज से काम लिया तो लोग नया मत स्वीकार करने से डरते हैं और उस मत के पक्षपातियों की बातें और विवेचना सुनने का साहस भी नहीं करते। इससे यदि लोगोंकी यह इच्छा हो कि जो बात सत्य और न्याय्य है उसीकी जीत हो तो दुर्बल पक्ष का प्रतिबन्ध करने की अपेक्षा प्रबल पक्ष का प्रतिबन्ध करने की ही बहुत अधिक जरूरत है। दुर्बल दलवालों को गालियों और व्यर्थ कलङ्कों से बचाने के लिए प्रबल दलवालों ही को रोकना अधिक न्यायसङ्गत है। उदाहरण के लिए धार्म्मिकता की अपेक्षा अधार्म्मिकता पर ही होनेवाले व्यर्थ आक्रमणों का रोकना अधिक जरूरी है। पर, यह निर्विवाद है कि इस विषय में दोनों में से किसी पक्ष को भी अपने विरोधी पक्ष का अटकाव करने के लिए कानून या हुकूमत की शरण जाना अनुचित है। अर्थात् अधिकार और कानून के जोर से किसी तरह का अटकाव या प्रतिबन्ध करना मुनासिब नहीं है। जो मामला जैसा हो—जो बात जैसी हो—उसकी सब हालतों का अच्छी तरह खयाल करके समाज को उसका फैसला करना चाहिए। जिसकी विवेचना में—जिसके वादविवाद में—फिर चाहे वह जिस पक्ष का हो, अप्रामाणिकता, द्वेष, दुराग्रह, हठ और दूसरे के मत के विषय में असहनशीलता देख पड़े समाज को उसे ही दोषी ठहराना चाहिए। इस तरह किसीको अपराधी ठहराने के लिए समाज को इस बात पर ध्यान न देना चाहिए कि अपराध करनेवाला आदमी किस पक्ष का है। चाहे वह अनुकूल पक्ष का हो चाहे

वह प्रतिकूल पक्ष का, उसके पक्ष या दल की तरफ नजर न रखकर सिर्फ उसके काम की तरफ नजर रखना चाहिए। जो मनुष्य अपने प्रतिपक्षियों को अच्छी तरह पहचानता है; जो उनकी बातों को शान्तिपूर्वक सुनता है; जो उनके कहने को सचाई के साथ बयान करता है; जो उनका अपमान करने के इरादे से किसी बात को बढ़कर नहीं कहता; और जो उनके अनुकूल, या अनुकूलसी मालूम होनेवाली, बातों को नहीं छिपाता, वह चाहे जिस पक्षका हो, उसका उचित आदर करना मनुष्य का कर्तव्य है। सार्वजनिक वाद-विवाद और विवेचना की यही सच्ची नीति है—यही सच्ची रीति है। यह सही है कि इस नीतिका लोग बहुधा उलंघन करते हैं। पर खुशीकी बात है, कि ऐसे भी बहुत आदमी हैं जो इसके अनुसार बर्ताव करते हैं; और ऐसे तो और भी अधिक हैं जो इसके अनुसार बर्ताव करने की अन्तःकरण-पूर्वक चेष्टा करते हैं।

तीसरा अध्याय।

व्यक्तिविशेषता भी सुख का एक साधन है।

अपना अपना मत स्थिर करने के लिए—अपनी अपनी राय कायम करने के लिए सब आदमियों को स्वतन्त्रता का मिलना बहुत जरूरी है। हर आदमी को इस बात की आजादी मिलना चाहिए कि जो राय उसे पसन्द हो—जो मत उसे अच्छा लगे—उसे ही वह कबूल करे। इतना ही नहीं, किन्तु उसे अपने मत को बिनां किसी अटकाव के स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने की भी आजादी मिलनी चाहिए। क्यों? इसके कारण दूसरे अध्याय में बयान किये जा चुके हैं। इस तरह की आजादी यदि नहीं मिलती; अथवा मना किए जाने पर भी मनाई की परवा न करके यदि लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत प्रकट नहीं करते; तो नतीजा बहुत ही बुरा होता है। कहां तक बुरा? यह भी ऊपर बतलाया जा चुका है। इस विषय में लोगों की स्वतंत्रता छिन जाने से उनकी बुद्धि और विचार-शक्ति ही नहीं कुण्ठित हो जाती है; इससे उनके सदाचरण को भी धक्का लगता है। अब मैं इस बात का विचार करना चाहता हूं कि जिसका जो मत हो उसके अनुसार काम करने की भी उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिए या नहीं। और जिन कारणों से उसे अपना मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता का मिलना जरूरी है वही कारण यहां भी काम दे सकते हैं या नहीं। हर आदमी को अपने मत के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता से मेरा मतलब यह है कि दूसरे लोग उसे किसी तरह का, शारीरिक या मानसिक, प्रतिबन्ध न पहुंचावें; और अपना मनमाना काम करने में यदि वह किसी विपदा में पड़जाय तो उससे उसीकी हानि हो औरों की नहीं। यह पिछली, अर्थात् विपदावाली, शर्त

बहुत जरूरी है। क्योंकि जिस तरह हर आदमी को अपना अपना मत प्रकाशित करने के लिए स्वतन्त्रता दी जा सकती है उसी तरह जिसका जो मत हो उसके अनुसार काम करने के लिए उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। यह मैं नहीं कहता कि जो जैसा करना चाहे उसे वैसा ही करने देना चाहिए। उलटा मैं यह कहता हूं कि जिस राय के जाहिर करने से—दूसरे आदमियों को कोई हानिकारक या बुरा काम करने के लिए उत्तेजन या प्रोत्साहन मिलता हो; अर्थात् जिसके कारण कोई नामुनासिब बात करने के लिए औरों के बहक जाने का डर हो; उसे जरूर रोकना चाहिए; उसे हरगिज जाहिर न होने देना चाहिए; उसका अवश्य प्रतिबन्ध करना चाहिए। यदि कोई अखबारों में यह छाप दे कि गल्ले के व्यापारी गरीब आदमियों को भूखों मारे डालते हैं या अमीर आदमियों के पास जो धन-दौलत है वह लूट का माल है, तो कोई हर्ज की बात नहीं। इसलिए उसके प्रतिबन्ध की जरूरत नहीं। परन्तु यदि किसी बनिये की दुकान के सामने इकट्ठे हुए और आवेश में आये हुए गरीब आदमियों के जमाव में घुसकर कोई वही बात कहने लगे, या उसे छपाकर कोई बांटने लगे, तो उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए। इस हालत में उसे सजा देना बहुत मुनासिब होगा। यदि किसी काम के किये जाने से बिना किसी वजह के किसीको तकलीफ पहुंचे तो उसे बुरा कहना ही चाहिए; और यदि जरूरत समझी जाय तो उसे तुरन्त रोक भी देना चाहिए। हर आदमी की स्वाधीनता का इतना प्रतिबन्ध जरूर होना चाहिए। आदमी को इस बात का अधिकार नहीं कि अपने बर्ताव से वह दूसरों को तकलीफ पहुंचावे। पर यदि वह दूसरों को किसी तरह की तकलीफ या असुविधा न पहुंचाता हो, अर्थात् उनके कामकाज में वह किसी तरह की बाधा न डालता हो; और जिन बातों से सिर्फ उसीका सम्बन्ध है उन्हींको यदि वह अपनी समझ और इच्छा के अनुसार करता हो तो उसे वैसा करने देना चाहिए। इसके पहले अन्याय में जिन प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि हर आदमी को अपना मत प्रकाशित करने के लिए स्वतन्त्रता का दिया जाना बहुत जरूरी है उन्हीं प्रमाणों से उसे अपनी समझ या अपने मत, के अनुसार काम करने के लिए स्वतन्त्रता का दिया जाना भी सिद्ध है। पर अपने काम की जिम्मेदारी उसी पर रहेगी। अर्थात् अपने काम से यदि उसकी कुछ हानि होगी तो उसे ही सहन करनी पड़ेगी।

आदमी सर्वज्ञ नहीं है। उससे गलती हो सकती है। वह जिस बात को जैसा समझता है उसमें सत्य का सर्वांश बहुधा नहीं रहता, अर्थात् उसमें सत्य का कुछ ही अंश रहता है। बिना पूरे तौर पर, और बिना किसी प्रतिबन्ध के, परस्पर विरोधी मतों की तुलना किये किसी बात में एकता का होना अच्छा नहीं। और जब तक आदमी सत्य को सब तरह से जानने के—उसके सब अंशों को पहचानने के—योग्य, इस समय की अपेक्षा अधिक न हो जायँ, तब तक जुदा जुदा मतों का होना बुरा नहीं, अच्छा ही है। ये ऐसे प्रमाण हैं, ये ऐसे सिद्धान्त हैं कि इनके आधार पर जिस तरह मत प्रकट करना युक्तिसंगत सिद्ध हो चुका है उसी तरह अपने अपने मत के अनुरूप बर्ताव करना भी सिद्ध है। जब तक आदमी पूर्णता को नहीं पहुंचता—जब तक आदमी कमालियत को नहीं हासिल कर लेता—तब तक जैसे हर आदमी को अपना अपना मत जुदा जुदा प्रकाशित करने दने में लाभ है वैसे ही हर आदमी को अपनी अपनी समझ के अनुसार जुदा जुदा काम करने देने में भी लाभ है। हर आदमी को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि जो काम उसे पसन्द हो करे; दूसरों को तकलीफ न पहुंचाकर जिस तरह का आचरण वह करना चाहे करे; और जिस तरह के व्यवहार या बर्ताव में उसे अपना लाभ जान पड़े उसे करे। यदि किसीको इस बात की जांच करने की इच्छा हो कि जुदा जुदा तरीके से रहने में क्या हानि और क्या लाभ है तो वह खुशी से उन सब तरीकों की जांच करे और तजुरबे से उन बातों को जाने। मतलब यह कि जिन बातों से दूसरों का सम्बन्ध नहीं है उन्हें करने के लिए हर आदमी स्वतन्त्र है। जहां आदमी अपने इच्छानुसार बर्ताव नहीं कर सकता, किन्तु और लोगों की चालढाल और रूढ़ि के अनुसार उसे बर्ताव करना पड़ता है, वहां समझना चाहिए कि मनुष्य के सुख की एक बहुत बड़ी चीज कम है। यह चीज समाज अर्थात् सब आदमी, और व्यक्ति अर्थात् जुदा जुदा हर आदमी—दोनों के—सुख-साधन का प्रधान तत्त्व है। पर ऐसी जगह उसीकी कमी रहती है।

इस तत्त्व को संभालने में—इस बात का प्रतिपादन करने में—एक बहुत बड़ी कठिनाई आती है। वह यह कि लोग व्यक्ति-विशेष की योग्यता और उसके महत्त्व की बहुत ही कम परवा करते हैं। यदि वे परवा करें तो उस योग्यता या महत्त्व को पाने के उपाय भी सहज ही में हो सकें। उपाय ढूंढ़

निकालने में फिर बहुतसा मतभेद भी न हो। व्यक्ति-विशेष की उन्नति होना—हर आदमी की तरक्की होना सुख का मूल कारण है। जिसे हम सुधार, सभ्यता, शिक्षा, संस्कार और ज्ञानवृद्धि कहते हैं उस सब की बराबरी ही की वह उन्नति नहीं है: किन्तु उसका वह प्रधान अङ्ग और मूल हेतु भी है। यदि यह बात लोगों के ध्यान में आजाय तो वे उसकी तरफ कभी बेपरवाही न करें और उसके महत्त्व को वे कभी कम न समझें। हर आदमी की स्वतन्त्रता और समाज के बन्धन की हद बाधने में भी फिर कोई कठिनाई न आवे। परन्तु दुःख इस बात का है कि साधारण आदमियों के ध्यान में यह नहीं आता कि हर आदमी की स्वच्छन्दता या स्वेच्छा की भी कुछ कीमत है; या वह भी कोई ऐसी चीज है जिसका आदर होना चाहिए। जो बातें या जो रीतियां आजकल प्रचलित हैं वे बहुत आदमियों की चलाई हुई हैं। बहुत आदमियों ने मिलकर उन्हें जारी किया है। इससे उन्हें वही पसन्द हैं; वही उन्हें हितकर जान पड़ती हैं। क्योंकि उनके जन्मदाता वही हैं। इस कारण यह बात उनकी समझ ही में नहीं आती कि वे रीति-रवाज हर आदमी के लिए क्यों हितकर नहीं? क्यों सब लोग उनसे लाभ नहीं उठा सकते? जो लोग नीति और समाज का सुधार करने का बीड़ा उठाते हैं उनमें भी अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की होती है जिनको व्यक्ति-स्वातंत्र्य, अर्थात् हर आदमी की स्वतन्त्रता, अच्छी नहीं लगती। वे समझते हैं कि यदि हर आदमी को मनमाना काम करने की स्वतन्त्रता दी जायगी तो सारे समाज के सुधार में विघ्न पड़ेगा—अटकाव होगा—देर लगेगी। वे डरते हैं कि यदि हर आदमी को मनमानी स्वतन्त्रता मिल जायगी तो जिन बातों को वे अपनी बुद्धि के अनुसार मनुष्यमात्र के लिए सब से अच्छी समझते हैं उनके प्रचार में जरूर प्रतिबन्ध आ जायगा। जर्मनी में हम्बोल्ट नाम का एक बहुत बड़ा पंडित और बहुत बड़ा राजनीति-कुशल विद्वान् हो गया है। उसने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से एक पुस्तक में, एक जगह, वह लिखता है:—"अनिश्चित, अनित्य और नश्यमान वासनाओं की प्रेरणा की परवा न करके निश्चित, अविनाशी और पूरी विवेक-शक्ति की सहायतासे विचार करने पर जान पड़ता है कि संसारमें मनुष्य का सबसे बड़ा उद्देश यह है कि—बिना परस्पर विरोध के अपनी सब शक्तियों का पूरा पूरा विकास, अर्थात्

विस्तार या फैलाव, हो। इसलिए हर आदमी को जिस बात की तरफ हमेशा ध्यान रखना चाहिए, और विशेष करके समाज का सुधार करनेवालों को जिस बात को अधिक महत्त्व देना चाहिए, वह अपनी अपनी विवेक-शक्ति का बन्धनहीन विकास है। अर्थात् हर आदमी को यह देखते रहना चाहिए कि उसकी विचारशक्ति में किसी तरह की रुकावट या प्रतिबन्धकता तो नहीं आती। विवेक-शक्ति की बढ़ती के लिए दो बातें दरकार हैं। एक स्वतन्त्रता, दूसरी कई तरह की अवस्थायें अर्थात् स्थिति-वैचित्र्य। इन्हीं दोनों के योग अर्थात् मेल से व्यक्ति-बल और स्थिति-वैचित्र्य पैदा होते हैं। अर्थात् इन्हींके होने से हर आदमी में एक विशेष तरह की शक्ति उत्पन्न होती है और हर आदमी मनमाना काम करने में, मनमाना बर्ताव करने में, मनमानी चाल चलने में समर्थ होता है। इसीसे नवीनता आती है—इसीसे नयापन पैदा होता है"। हम्बोल्ट के अनुसार व्यवहार करना तो दूर की बात है उसके मत का मतलब, जर्मनी को छोड़कर, और देशवालों की समझ तक में नहीं आया।

हम्बोल्ट के इस सिद्धान्त को इस देश में, आज तक किसीने नहीं सुना था। इससे अब यह सुनकर कि हर आदमी की स्वतंत्रता को वह इतना कीमती समझता है, लोगों को जरूर आश्चर्य होगा। तथापि मुझे भरोसा है कि वे इस बात पर वाद-विवाद न करेंगे कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य होना चाहिए या नहीं—हर आदमी को आजादी मिलनी चाहिए या नहीं। विवाद इस बात पर वे करेंगे कि स्वतन्त्रता कितनी मिलनी चाहिए। क्योंकि लोगों का यह हरगिज खयाल नहीं कि दूसरों की नकल करना ही बर्ताव, व्यवहार या चालचलन का सब से अच्छा तरीका है। अर्थात् भले बुरे का विचार न करके दूसरों के बर्ताव को देखकर खुद भी वैसा ही करने लगना कभी लोग अच्छा नहीं समझेंगे। यह कोई न कहेगा कि आदमी को अपनी समझ या अपने स्वभाव के अनुसार बर्ताव न करना चाहिए; अथवा अपनी विवेक-शक्ति को काम में न लाना चाहिए; अथवा जिसे जो बात अपने फायदे की जान पड़े उसे न करना चाहिए यह समझना बिलकुल ही असङ्गत होगा कि जिस समय हम पैदा हुए उस समय के पहले सब लोग निरे मूर्ख थे—उनको जरा भी ज्ञान न था—और इस बात का तजरुबा लोगों को बिलकुल न था कि किसी एक

तरह के बर्ताव की अपेक्षा दूसरी तरह का बर्ताव अच्छा है । अतएव मुझे विश्वास है कि इस तरह की दलीलें पेश करके कोई किसी से यह न कहेगा कि जैसा बर्ताव या जैसा व्यवहार और लोग कर रहे हैं वैसा ही तुम भी आंख मूंद कर करो । क्योंकि यदि कोई किसीको इस तरह का उपदेश देगा तो उस पर विचारशून्यता का आरोप जरूर आवेगा—उस पर यह इलजाम जरूर लगाया जायगा कि वह कुछ नहीं समझता; उसे भले बुरे का बिलकुल ज्ञान नहीं है । ऐसा एक भी आदमी नहीं है जो इस बात को न मानता हो कि लड़कपन में सब को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए—ऐसी विद्या सीखनी चाहिए—जिसकी सहायता से, आदमियों के आज तक के तजरुबे से निश्चित हुए सिद्धान्तों को, वे अच्छी तरह समझ सकें और उनके अनुसार वर्ताव करके अपना कल्याण भी कर सकें । जब आदमी की मानसिक शक्ति खूब परिपक्व हो जाय—जब उसकी विवेक-बुद्धि कमाल दरजे को पहुंचजाय—तब उसे इस बात का पूरा अधिकार होना चाहिए कि उस तजरुबे का अर्थ, जैसा उसे समझ पड़े, करे और उसे जिस तरह वह लाना चाहे, काम में लावे । इस तरह के अधिकार का वह पूरा हकदार है; इसे पाने का वह दावा कर सकता है । इस बात का फैसला वही कर सकता है—इसका निश्चय उसीके हाथ में है—कि इतिहास में जो तजरुबे—जो अनुभव—लोगों ने लिख रक्खे हैं उनमें से कौन उसके स्वभाव और उसकी अवस्था के अनुकूल हैं और कौन नहीं हैं। दूसरे लोगों के रीति-रवाज, व्यवहार और आचरण उनके तजुरबे की थोड़ी बहुत गवाही जरूर देते हैं—वे उनके अनुभव-ज्ञान के, किसी अंश में, प्रमाण अवश्य हैं । इसलिए उनको जरूर महत्त्व देना चाहिए और उनका जरूर आदर करना चाहिए । पर इस बात को भी न भूलना चाहिए कि, सम्भव है, उन लोगों का तजरुबा कम रहा हो; अथवा उस तजुरबे का ठीक मतलब ही उन्होंने न समझा हो । अथवा, मान लीजिए, कि उन लोगों ने अपने तजुरबे का मतलब बहुत ठीक समझा, पर वह हमारे सुभीते का नहीं। जितने रीति-रस्म हैं—जितने व्यवहार हैं—सब व्यावहारिक अवस्थओं और व्यावहारिक स्वभाव के आदमियों के लिए बनाये जाते हैं । पर, सम्भव है, किसीकी अवस्था, दशा, हालत और स्वभाव व्यवहारविरुद्ध हो । तो वह क्यों उन रीति-रस्मों को माने ? क्यों वह वैसा व्यवहार करे ? अच्छा, थोड़ी देर के लिये कल्पना कर लीजिए कि

कोई प्रचलित रीति या रूढ़ि अच्छी भी है और काम की भी है। पर रूढ़ि समझ कर ही, बिना विचार किये, उसके अनुसार काम करने से, ईश्वर ने मनुष्यता का चिह्न जो बुद्धि या विवेक-शक्ति मनुष्य को दी है उसकी उन्नति न होगी और न उसको, इस तरह के व्यवहार से, कोई शिक्षा ही मिलेगी। भले-बुरे की जांच करने में जब तक कोई प्रवृत्त नहीं होता तब तक निश्चय, विवेक, तारतम्य ज्ञान, नैतिक विचार, बुद्धि की तीक्ष्णता और इन्द्रियों की ग्रहणशीलता आदि शक्तियों की कभी यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती। जो लोग सिर्फ रूढ़ि के दास बन बैठते हैं वे कभी भले-बुरे की जाँच नहीं करते; वे हमेशा रूढ़ि की पूंछ पकड़ कर ही चलते हैं; और जहां वह लेजाती है वहां चुपचाप चले जाते हैं। न वे यही पहचान सकते हैं कि कौन रीति अच्छी है और न वे उसे प्राप्त करने की इच्छा ही करते हैं। बुद्धि से काम लेने का इन बेचारों को अभ्यास ही नहीं रहता। जिस तरह काम लेने ही से हाथ, पैर आदि अंग सबल और मजबूत होते हैं उसी तरह उपयोग में लाने ही से मानसिक और नैतिक शक्तियों की भी उन्नति होती है। दूसरों को किसी बात पर विश्वास करते या किसीको मानते देख खुद भी उनकी नकल करने में जैसे मन को जरा भी मेहनत नहीं पड़ती वैसे ही दूसरों को किसी रूढ़ि के अनुसार व्यवहार करते देख खुद भी उसीका अनुसरण करने से मनको मेहनत नहीं पड़ती। किसी मत के कारण यदि अपने मत को प्रामाणिक न मालूम हुए, अर्थात् यदि उनको सुन कर मन में यह बात दृढ़ न हुई कि वे सही हैं, तो उस मत को मान लेने से आदमी की मानसिक शक्ति बढ़ती तो नहीं, पर घट जरूर जाती है। जिन कारणों से आदमी किसी काम में प्रवृत्त होता है वे कारण यदि उसके मन और स्वभावके अनुकूल नहीं हैं तो उस काम को आदमी कभी मन लगाकर उत्साहपूर्वक नहीं कर सकता। इस तरह बेमन काम करने से लाभ तो कुछ होता नहीं पर हानि यह होती है कि बुद्धि शिथिल मन्द और अकर्मण्य जरूर होजाती है। हां, इस तरह का कोई काम, यदि प्रीति-परवश होकर किया जाय, अथवा यदि किसी और को उसे करने का अधिकार ही न हो, तो बात दूसरी है।

हमें किस तरह रहना चाहिए? हमें कैसा बर्ताव करना चाहिए? हमारा आचरण कैसा होना चाहिए? इन बातोंका निश्चय करनेका काम जो आदमी

दुनिया या समाज के ऊपर छोड़ देता है उसके लिये फिर रह क्या जाता है? उसके लिए फिर किसी शक्ति या कर्तव्य की क्या जरूरत? बन्दर की तरह औरों की चेष्टाओं की नकल करने भर की उसे जरूरत रहती है। और किसी चीज की जरूरत नहीं। पर जो आदमी खुद इस बात का निश्चय करता है कि, उसका आचरण कैसा होना चाहिए उसे अपनी सभी मानसिक शक्तियों को काम में लाना पड़ता है। देखने के लिए उसे मनोयोग देना, अर्थात् मन लगाना पड़ता है। आगे का खयाल रखकर उसे तर्कशक्ति और विवेक-बुद्धि से काम लेना पड़ता है, अर्थात् होनहार बातों को ध्यान में रख कर बहुत सोच-विचार के साथ उसे काम करना पड़ता है। निर्णय के लिए जो सामग्री दरकार होती है उसे इकट्ठा करने के लिए उसे चालाक बनना पड़ता है। निश्चय के लिये उसे न्याय-बुद्धि, विवेचना या भले-बुरे की तमीज दरकार होती है। और, अन्त में, निश्चय कर लेने पर उसके अनुसार काम करने के लिए उसे दृढ़ता और आत्मसंयम, अर्थात् अपने को काबू में रखने, की जरूरत पड़ती है। जिस काम को करने या न करने के विषय में आदमी अपनी समझ और अपने मनोविकारों का उपयोग करता है वह काम जितना ही अधिक महत्त्वका होता है उतना ही अधिक उसे इन शक्तियों की जरूरत होती है और उतना ही अधिक उसे इनसे काम भी लेना पड़ता है। स्वभाव ही से प्राप्त हुई इन शक्तियों से जो लोग काम नहीं लेते वे बहुत कम सुमार्गगामी होते हैं और बहुत कम आपदाओं से बचते हैं। परन्तु यदि वे कुमार्गगामी न भी हुए और यदि वे आपदाओं में न भी फंसे तो भी ऐसे आदमियों की कीमत कितनी? जो लोग अपनी मानसिक शक्तियों से काम लेते हैं उनमें और इनमें आकाश-पाताल का अन्तर समझना चाहिए। जिस तरह इस बात का जानना बहुत जरूरी है कि कौन लोग क्या कर रहे हैं—अर्थात् किस तरह के आदमी किस तरह के काम में लगे हैं। जिन बातों को संवारना और पूर्णता को पहुंचाना आदमी का काम है उन बातों में से खुद अपनी उन्नति करके अपनी ही आत्माको परिपूर्ण करना उसका सब से पहला काम है। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि आदमी के आकार के अनन्त यंत्र किसीने बना डाले। ये मानवी यंत्र आप ही आप घर बनाने लगे, अनाज पैदा करने लगे, लड़ाइयां लड़ने लगे, मुकद्दमों का फ़ैसला सुनाने लगे—इतना ही नहीं किन्तु मन्दिर बनाकर उनमें प्रार्थना

और पूजा-पाठ भी करने लगे । इस कारण यदि सभ्य देशों के अर्द्ध-शिक्षित स्त्री-पुरुष कहीं चले जांय—उनका यकायक लोप होजाय—तो भी, मेरी समझ में इन मानवी यंत्रों को पाने से संसार की बहुत बड़ी हानि होगी । मनुष्य यंत्र नहीं है । आदमी का स्वभाव कल नहीं है कि जिस नमूने का काम करने के लिए वह बनाया गया है उसे ही वह विना सोचे समझे, चुपचाप करता रहे । वह एक प्रकार का पेड़ है । अतएव उसका काम है कि जिन भीतरी शक्तियों ने उसे जानदार बनाया है उनकी प्रवृत्ति, उनकी प्रेरणा, उनके झुकाव के अनुसार वह बढ़े और अपने सब अङ्गों की उन्नति करे ।

आदमी इस बात को बहुधा मानते हैं कि अपनी बुद्धि के अनुसार काम करना अच्छा होता है । वे इस बात को भी मानते हैं कि किसी कल या यंत्र की तरह किसी बात को आंख बन्द करके करने की अपेक्षा समझ बूझ कर उसे करना और बुद्धिपुरःसर कभी कभी उसका अतिक्रमण तक कर जाना अच्छा होता है । वे इस बात को भी थोड़ा बहुत मान लेते हैं कि अपनी बुद्धि में जो बात अच्छी जँचे उसे वही करना चाहिए । परन्तु इस बात को मानने में वे उतनी सानुरागता या खुशी नहीं जाहिर करते कि अपनी मनोवृत्तियों पर, अपने मन की अभिलाषाओं पर, अपने मन के झुकावों या वेगों पर भी अपना ही अधिकार होना चाहिए । उनकी यह समझ है कि मनोविकारों पर अधिकार होना विशेषकरके प्रबल मनोविकारों पर—धोखे का काम है; उनके वशीभूत होकर लोग अकसर आपदाओं में फंस जाते हैं । पर यह खयाल गलत है । जो लोग ऐसा समझते हैं वे भूलते हैं । पूर्णता, अर्थात् कमालियत, को पहुंचे हुए आदमी के लिए जैसे विश्वास और बन्धन की जरूरत है वैसे ही उसके लिए मनोविकार (कामना, अभिलाषा, इच्छा आदि) और प्रेरणा की भी जरूरत है । जो प्रेरणायें, जो कामनायें, जो खाहिशें बहुत प्रबल हैं वे यदि काबू के बाहर होजाँय—अर्थात् यदि उनका प्रतिबन्ध न किया जाय यदि उनका नियमन न किया जाय, यदि उनकी बाढ़ न रोक दीजाय—तो आपदाओं में फंसने का डर जरूर रहता है । नहीं तो कोई डरने की बात नहीं । जब एक तरह की प्रेरणायें, वासनायें या खाहिशें प्रबल हो उठीं; और उनके साथ दूसरी तरह की जिन प्रेरणाओं, वासनाओं, या खाहिशों को प्रबल होना चाहिए वे मन्द, ढीली या कमजोर पड़ गईं, तभी हानि होती है । अन्यथा नहीं । कामनाओं के

प्रबल होजाने से आदमी दुराचार नहीं करते, किन्तु अन्तःकरण के निर्बल होजाने से—मनोदेवता के कमजोर पड़ जाने से—वे वैसा करते हैं। प्रबल वासनाओं और निर्बल अन्तःकरण में कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नहीं कि जिनकी वासनायें खूब प्रबल हों—जिसकी खाहिशें खूब जोरावर हों–उसकी विवेकबुद्धि, उसकी समझ, उसकी मनोदेवता भी निर्बल हो। यह कोई नियम नहीं है। नियम ठीक इसका उलटा है। जब हम यह कहते हैं कि एक आदमी की वासनायें और उसके मनोविकार दूसरे आदमी की वासनाओं और उसके मनोविकारों से प्रबल हैं और अधिक भी हैं तब उसका सिर्फ इतना ही मतलब समझना चाहिए कि उसके पास मनुष्यता, आदमियत, या मानवी स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली कच्ची सामग्री अधिक है। इस कारण यदि वह अधिक बुरे काम कर सकता है तो वह अधिक अच्छे भी काम कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं; प्रबल मनोविकार कहते किसे हैं? वह उत्साह का दूसरा नाम है। प्रबल मनोविकार सिर्फ बढ़ा हुआ उत्साह है। जिस आदमी में उत्साह की अधिकता है उसके हाथ से खराब काम हो सकते हैं; पर काम काज से डरनेवाले आलसी आदमी की अपेक्षा उस से अधिक अच्छे काम होने की भी हमेशा उम्मेद रहती है। जिनके मनोविकार स्वाभाविक हैं; अर्थात् जन्म से ही प्रबल हो जाते हैं। जिस ग्राहिकाशक्ति, जिस ज्ञान, जिस समझ के कारण आदमी के मनोविकार खूब तेज, खूब प्रबल, खूब सचेतन हो जाते हैं उसीसे सद्गुणों को प्राप्त करने की प्रबल प्रीति और अपने आपको काबू में रखने—अर्थात् आत्म-संयम करने—की प्रबल इच्छा भी पैदा होती है। इन्हीं शक्तियों को उत्साह देने—इन्हीं शक्तियों को बढ़ाने—से समाज अपना कर्तव्य कर सकता है और अपने हित, स्वार्थ या गौरव की रक्षा भी कर सकता है। सब तरह के प्रसिद्ध पुरुषों, महात्माओं या वीरशिरोमणियों की उत्पत्ति के लिए इन्हींकी जरूरत रहती है। इनके न होने या इनका उपयोग न करने से उत्साही पुरुषों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो आदमी अपने मनोवेगों और अपने विकारों का मालिक है—अर्थात् अपने ही शिक्षण या अभ्यास से जिसने उनको बढ़ाया या परिमार्जित किया है—उसीके स्वभाव की लोग प्रशंसा करते हैं। उसीके विषय में लोग कहते हैं कि इसका स्वभाव एक खास तरह का है; इसके आचरण का ढंग औरों से बिलकुल जुदा है। जो अपने मनोवेगों का मालिक नहीं है;

जो अपने ईप्सित विकारों पर अधिकार नहीं रखता, उसके विषय में यह कहना कि उसके भी स्वभाव का कोई ढंग है, मानों यह कहना है कि भाफ के जोर से चलनेवाले यञ्जिन के स्वभाव का भी कोई ढंग है। अर्थात् जैसे किसी कल में स्वभाव की कोई विलक्षणता नहीं होती वैसे ही इस तरह के आदमी में भी कोई विलक्षणता या विशेषता नहीं होती। जिसके मनोवेग स्वाभाविक और प्रबल हैं और जो अपनी बलवती इच्छा के योग से उनको अपने काबू में रखता है वही सच्चा उत्साही है; उसीको सच्चा तेजस्वी कहना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि मनोवेग और वासनाओं को उत्तेजन देकर उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक न बढ़ने देना चाहिए वे मानों यह कहते हैं कि समाज को प्रबल स्वभाव के, अर्थात् उत्साही, आदमियों की जरूरत ही नहीं है, स्वभाव की अधिकता रखनेवाले बहुत आदमियों से कुछ भी लाभ नहीं है; और मनोवृत्तियों का साधारण तौर पर उन्नत होना भी अच्छा नहीं है।

जिस समय समाज की बाल्यावस्था थी, अर्थात् जिस समय समाज अज्ञान-दशा में था, उस समय ये शक्तियाँ इतनी प्रबल थीं कि इनको रास्ते पर लाना और इन्हें काबू में रखना समाज को बहुत कठिन जाता था। एक समय ऐसा था जब स्वेच्छाचार और व्यक्ति-स्वातंत्र्य खूब बढ़े हुए थे। उनका प्रतिबन्ध करने के लिए—उनको वश में रखने के लिए—समाज का नाकों दम था। जिन लोगों की शक्ति खूब तेज थी या जिन लोगों के मनोविकार खूब प्रबल थे, उनका नियमन करने के लिए—उनको एक बतलाई हुई हद के भीतर रखने के लिए—उस समाज को जो नियम बनाने पड़ते थे उन नियमों की पावन्दी उन लोगों से कराने में बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता था। इस कठिनता को दूर करने के लिए कानून बनानेवालों, और लोगों के आचरण को एक उचित सीमा के भीतर रखने की कोशिश करनेवालों, ने एक युक्ति निकाली; जैसे रोम के सबसे बड़े धर्म्माचार्य, पोप, योरप के बादशाहों के सर्वस्व पर अपनी सत्ता चलाने की चेष्टा करते थे वैसे ही समाज के मुखिया भी यह कहने लगे कि लोगों के सर्वस्व पर—उनकी सब बातों पर—समाज की सत्ता है। कोई बात ऐसी नहीं जिस पर समाज की सत्ता न हो—जिसका नियमन समाज न कर सके। ऐसा कहने से आदमी का स्वभाव—आदमी का आचरण—भी उसमें आ गया। क्योंकि आदमी का स्वभाव उसके सर्वस्व के बाहर नहीं है। जिस बात को अपने

वश में रखने के लिए, जिस बात का नियमन करने के लिए, जिस बात पर सत्ता चलाने के लिए, समाज को और कोई युक्ति नहीं सूझी उसे उसने सर्वस्व के अन्तर्गत करके अपने अधीन कर लिया। इसका फल यह हुआ कि व्यक्ति-विशेषता धीरे धीरे कोई चीज ही न रह गई; वह समाज के बनाये हुए कानून, अर्थात् नियमों, की गुलाम बन गई। अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने के लिए पहले हर आदमी स्वतन्त्र था। पर वह बात अब न रही। उसकी स्वाधीनता छिन गई। वह समाज की आज्ञा के अनुसार आचरण करने के लिए विवश किया गया। पहले हर आदमी के मनोवेग और इच्छा-स्वातन्त्र्य के बढ़ जाने से हानि होने का डर था। पर अब उन्हींके बहुत कम हो जाने से हानि होने के निशान देख पड़ने लगे। अर्थात् स्थिति अब बिलकुल ही उलटी हो गई; बात अब बिलकुल ही बदल गई। पहले जो लोग अपने अधिकार या स्वाभाविक गुणों के कारण बहुत प्रबल थे उन्हींके मनोविकार समाज के बनाये हुए नियमों और रीति-रवाजों का उलंघन करते थे। अतएव उनके पेंच में आये हुए दुर्बल आदमियों को हानि से बचाने ही के लिए कठिन नियमों के द्वारा समाज को उनके मनोविकार नियंत्रित करने पड़ते थे; अर्थात् कानून बनाकर ऐसे अनुचित मनोविकारों की बाढ़ रोक दी जाने की जरूरत पड़ती थी। पर आज कल की दशा बहुत ही शोचनीय हो गई है। अब तो समाज के ऊंचे से ऊंचे दरजे के आदमियों से लेकर नीचे से नीचे दरजे के आदमियों तक, हर आदमी, जो कुछ करता है, इस तरह डरकर करता है मानो उसके आचरण की उलटी आलोचना करने और उसे सजा देने के लिए कोई तैयार ही बैठा हो। आज कल जिन बातों का दूसरों से सम्बन्ध है उन्हींके विषय में नहीं, किन्तु ऐसी बातों के भी विषय में जिनका सम्बन्ध सिर्फ अपने ही से है कोई आदमी या कोई कुटुम्ब अपने आपसे इस तरह के प्रश्न नहीं करता कि—मुझे पसन्द क्या है? या मेरे मत या स्वभाव के अनुकूल क्या है? या मुझमें जो चीज सबसे अधिक अच्छी या सबसे अधिक ऊंची है वह मुनासिब तौर पर काम में किस तरह लाई जा सकती है? उसकी उन्नति किस तरह हो सकती है? वह अच्छी दशा में किस तरह बनी रह सकती है? वह इस तरह के प्रश्न करता है कि—मेरी स्थिति के योग्य क्या है; मेरी पदवी को शोभा क्या देगा या जो लोग मेरी स्थिति के हैं और जिनके पास उतनी ही सम्पत्ति है जितनी मेरे पास है

उनका वर्ताव कैसा है ? या जिनकी स्थिति मेरी स्थिति से अच्छी है और जिनके पास सम्पत्ति भी मुझसे अधिक है वे क्या करते हैं ? यह पिछला प्रश्न औरों की अपेक्षा और भी बुरा है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि अपनी पसन्द की बिलकुल ही परवा न करके लोग रूढ़, अर्थात् प्रचलित, रीति-रवाज की नकल करते हैं। मेरा मतलब यह है कि रूढ़ बातों को छोड़ कर और बातों की तरफ उनका मन ही नहीं जाता। अर्थात् लोगोंका मन रूढ़ि का दास हो गया है; रूढ़ि के जुये में मन को जोत देने की उन्हें आदत पड़ गई है; । जो बातें लोग शौक से करते हैं उनमें भी वे अनुरूपता, सादृश्य या मुआफिकत ढूंढ़ते हैं। अर्थात् जो काम वे सुख-चैन के लिए करते हैं उसके विषय में भी वे पहले यह देख लेते हैं कि और लोग भी वैसा ही करते हैं या नहीं। जिसे बहुत आदमी पसन्द करेंगे उसे ही वे पसन्द करेंगे। साधारण रीति पर अपनी तरफ से यदि वे कुछ पसन्द करेंगे तो जो बातें और लोग करते हैं उन्हीं में से एक आध को वे पसन्द करेंगे। कभी किसी नई बात को ढूंढ़ कर वे उसे पसन्द न करेंगे। जिस तरह किसी महापातक या दुष्कर्म से लोग दूर भागते हैं उसी तरह वे रुचि-विशेष या आचरण विशेष से दूर भागते हैं। अर्थात् किसी विशेष प्रकार की रुचि या किसी विलक्षणता से भरे हुए आचरण से वे दूर रहते हैं। नवीनता से वे डरते हैं; वे उसके पास तक खड़े नहीं होते। इस तरह अपनी तबीयत के मुताबिक काम न करने से—अपने स्वभाव का अनुसरण न करने से—आदमियों के स्वभाव ही का नाश हो जाता है। उनमें स्वभाव की विशेषता ही नहीं रह जाती। अतएव उनकी आदमियत—उनकी मानवी शक्ति—धीरे धीरे निर्जीव हो जाती है। उसकी पुष्टि के लिए जिन चीजों की जरूरत रहती है वे उसे मिलती ही नहीं; उनकी वह भूखी ही बनी रहती है। जिसे पेट भर खाने को नहीं मिलता वह क्योंकर जिन्दा रह सकता है ? इस दशा में मनुष्य की स्वाभाविक शक्ति इच्छानुकूल बर्ताव की अभिलाषा और वेगवती वासनाओं की प्रेरणा को उत्पन्न करने के योग्य ही नहीं रह जाती। जिनकी स्वाभाविक शक्ति का यह हाल है उनकी निज की कोई राय ही नहीं होती—उनके निज के कोई मनोविकार ही नहीं होते। उनके मनमें इनकी उत्पत्ति ही नहीं होती। अब बतलाइए, आदमी के स्वभाव की यह दशा, यह अवस्था; यह गति, इष्ट है या अनिष्ट ?

कालविन * की राय है कि मनुष्य के स्वभाव की ऐसी ही दशा इष्ट है। उसके स्वभाव का नाश होजाना ही—उसकी इच्छाशक्ति का दुर्बल हो जाना ही—मनुष्य के लिए हितकर है। कालविन के मत में स्वेच्छा का होना ही, अर्थात् किसी बात की इच्छा रखना ही, आदमी का सब से बड़ा अपराध है। आदमी यदि अपना कुछ हित कर सकता है तो वह आज्ञा-पालन से ही कर सकता है। अर्थात् जिन आज्ञाओं को मानने के लिए धर्म्म-शास्त्र में वचन हैं उनको मानने से ही उसका भला हो सकता है। आदमी को अपनी इच्छानुसार काम करने का अधिकार नहीं। जिस काम को जिस तरह करने की उसे आज्ञा है उसे उसी तरह करना चाहिए, दूसरी तरह नहीं। जिस काम को करने के लिए आदमी को आज्ञा नहीं, उसे करना ही पाप है। अर्थात् जितना बर्ताव धर्म्मशास्त्र की रूसे कर्तव्यरहित है उतना सब पापमूलक है। आदमी का स्वभाव शुरू से ही सदोष है; मूल से ही वह पापपूर्ण है। अतएव ऐसे स्वभाव का, भीतर ही भीतर जब तक समूल नाश न हो जायगा तब तक उद्धार की आशा करना व्यर्थ है। जो लोग इस सिद्धान्त को पसन्द करते हैं—जो लोग इसके कायल हैं—उनके मत में मनुष्य की ग्रहण-शक्ति और परिज्ञान-शक्ति आदि मानसिक गुणों का नाश होजाने से कोई हानि नहीं; कोई अनर्थ नहीं; कोई बुराई नहीं। उनके अनुसार आदमी को चाहिए कि वह अपने को ईश्वर की मरजी पर छोड़ दे। उसे और कुछ करने की जरूरत नहीं;। उसे और किसी तरह की योग्यता दरकार नहीं। उसके लिए और किसी इच्छा या वासना का होना इष्ट नहीं। जो बातें ईश्वर की कल्पित मानी गई हैं उनको पूरे तौर पर न करके, और कुछ करने में अपनी शक्तियों को उपयोग में लाने की अपेक्षा उन शक्तियों

* क्रिश्चियनों के धर्मशास्त्र में लिखा है कि आदमी की सृष्टि एडम और ईव से हुई है। परन्तु ईश्वर की आज्ञा के बिना ज्ञानवृक्ष के फल खाने से एडम और ईव के शरीरका रुधिर दूषित हो गया—उसमें पापात्मक विकार आगया। अतएव उनकी संतति भी पापात्मक पैदा हुई। माता-पिता के विकार सन्तान में आ ही जाते हैं। ऐसी विकृत अर्थात् पापी सन्तति के मन, बुद्धि और शरीर की वृद्धि करना मानो पाप को बढ़ाना है। उनका नाश होने ही में कुशलता है। कालविन साहब इसी मत के पृष्टपोषक थे।

का नाश होजाना ही अच्छा है। यह कालविन का सिद्धान्त है। जो लोग कालविने के अनुयायी हैं वे तो इस सिद्धान्तों को मानते ही हैं। जो लोग उसके अनुयायी नहीं हैं वे भी इसे मानते हैं; पर कुछ कम। वह कमी इस बात में हैं कि वे ईश्वर की मरजी--ईश्वर की इच्छा--का उतना कड़ा अर्थ नहीं करते। वे उसका यह अर्थ करते हैं कि आदमी को इस बात की आज्ञा है कि वह अपनी कुछ विशेष विशेष इच्छाओं को पूरा करे। अर्थात् उसके मन में जो वासनायें पैदा हों उनमें से यदि वह दो चार खास खास वासनाओं को तृप्त करने की चेष्टा करे तो उस पर यह इलजाम नहीं लगाया जायगा कि उसने ईश्वर की आज्ञा भंग की। पर इसके साथ ही वे यह भी समझते हैं कि इस तरह की तृप्ति आदमी अपने मन माने तरीके से नहीं कर सकता; आज्ञापालन के तौर पर ही वह उसे कर सकता है। धर्मशास्त्र में जो नियम हैं उन्हीं नियमों के अनुसार आदमी को अपनी विशेष विशेष कामनाओंको तृप्त करना चाहिए और वे नियम सब के लिए बराबर होने चाहिए। मतलब यह है कि जो नियम एक आदमी के लिए हैं वही सब के लिए होने चाहिए।

आज कल लोग इस खयाल की तरफ बेहद झुके हुए हैं कि आदमी के जीवन का क्रम संकुचित होना चाहिए; और जिस बड़े सिद्धान्त का वर्णन ऊपर हुआ उसी तरह के किसी सिद्धान्त के अनुसार आदमी को अपना स्वभाव खूब संकीर्ण और कसा हुआ बनाना चाहिए अर्थात् उसे एक कल्पित मर्य्यादा या हद के भीतर रखना चाहिए। बहुत लोग तो सचमुच ही यह समझते हैं कि ईश्वर की इच्छा यही है—ईश्वरका संकेत यही है—कि बहुत ही क्षुद्र संकुचित और मर्य्यादाबद्ध अर्थात् महदूद, हालत में रहे। यह खयाल ऐसा ही है जैसा आज कल लोग पेड़ों को मनमाने तौर पर बढ़ने देने की अपेक्षा छांट कर उनको ठूंठ कर देना या काट कूट कर उनको जानवरों की शकल का बना देना ही अधिक शोभा और अधिक सुन्दरता का कारण समझते हैं। जिसने आदमी को बनाया है वह न्यायी है; उसके संकल्प—उसके खयालात—अच्छे हैं; उनसे अच्छे ही इरादे से आदमी की सृष्टि की है। यदि इस तरह की समझ भी धर्म्म का कोई अंश हो; यदि यह भी धर्म्मसे कोई सम्बन्ध रखती हो; यदि यह भी धर्म्म को मान्य हो; तो यह स्वीकार करना अधिक शोभा देगा कि स्रष्टा ने आदमी को जो मान-

सिक शक्तियां दी हैं वे इस लिए नहीं दीं कि वे उखाड़ कर नष्ट कर दी जांय; किन्तु इस लिए दी हैं कि वे बढ़ाई जांय—उनका खूब विकास और विस्तार किया जाय। इसी तरह इस बात पर विश्वास करना भी अधिक सयौक्तिक और अधिक शोभादायक होगा कि स्रष्टा की दी हुई इन शक्तियों की पूरी पूरी उन्नति करने के लिए जैसे जैसे आदमी अधिक कोशिश करेगा, और जैसे जैसे वह उन्हें उन्नति की हद के अधिक पास पहुंचावेगा—अर्थात् जैसे जैसे वह अपनी ग्रहण-शक्ति; क्रिया-शक्ति और उपयोग-शक्ति को बढ़ावेगा तैसे ही तैसे स्रष्टा को अधिक प्रसन्नता भी होगी। आदमी की उत्तमत्ता का जो नमूना कालविन ने बतलाया है वह कोई नमूना नहीं। सच्ची उत्तमता का नमूना और ही तरह का है। वह यह है:—आदमी में जो आदमियत् इनसानियत् या मनुष्यता है वह नाश की जाने के लिये नहीं है; उसके और ही उद्देश हैं; वह और ही मतलब से दी गई है। क्रिश्चियन लोग आत्मनिरोध का उपदेश देते हैं और मूर्तिपूजक लोग आत्मस्थापना, या आत्मरक्षा, का उपदेश देते हैं। जिन बातों से आदमी की योग्यता का महत्त्व है, अर्थात् जो बातें उसकी योग्यता को अच्छी तरह कायम रखने के लिये दरकार हैं आत्मनिरोध और आत्मस्थापना उन्हींमें से हैं। ग्रीक लोगों का यह सिद्धान्त था कि हर आदमी को यथासम्भव आत्मोन्नति अर्थात् अपनी तरक्की करना चाहिए। इस सिद्धान्त से, प्लेटो का और क्रिश्चियन-धर्म्मशास्त्र का आत्मशासन नामक सिद्धान्त मेल खाता है; अर्थात् उसके अन्तर्गत आ जाता है; पर उससे अधिक उत्तमता नहीं रखता। तथापि इन दोनों सिद्धान्तों में विरोध नहीं है। आलसिबियाडिस * होने की अपेक्षा

* आलसिबियाडिस ग्रीस के एथन्स शहरमें ईसाके ४५० वर्ष पहले पैदा हुआ। वह बहुत रूपवान् और धनी था। वह बड़ा शौकीन भी था। सुकरात का वह चेला हो गया था। सुकरात ने उसके दुर्गुणों को दूर करने की बहुत कोशिश की, पर विशेष लाभ नहीं हुआ। एक दफे एथन्स में देवताओं की कुछ मूर्तियां तोड़ डाली गईं। इससे लोगों ने आलसिबियाडिस पर मूर्ति तोड़ने का इलजाम लगाया। पर पीछेसे उन्होंने उसका अपराध क्षमा कर दिया। जब स्पार्टावालों ने एथन्स पर चढ़ाई की तब आलसिबियाडिस ने एथन्सवालों का सेनापति होकर स्पार्टन लोगों को बहुत बड़ी हार दी। पर, उस पर फिर एक बार राजद्रोह का आरोप आया और ईसा के ४०४ वर्ष पहले वह मार डाला गया।

जॉन नॉक्स होना शायद अधिक अच्छा होगा; पर इन दोनों की अपेक्षा पेरिक्लिश † होना जरूर अच्छा है। यदि इस समय पेरिक्लिस पैदा होता तो यह सम्भव न था कि उसमें जॉन नॉक्स के सब सद्गुण न होते।

आदमी में जो कुछ व्यक्ति-विषयक विषमत्व हो, अर्थात् उसमें जो बातें बेडौल और समानता-रहित हो, उन्हें रगड़ कर सरल, डौलदार और बराबर बना देने से आदमी में देखने के लायक उदारता और सुन्दरता नहीं आती। दूसरों के हित और अधिकार रक्षित रखकर, अर्थात् उनका अतिक्रमण न करके, उस विषमत्व—उस बेडौलपन—को दुरुस्त करने और उसका विकास होने देने से वह बात आती है। जो लोग जिस काम को करते हैं उनके गुण उस काम में जरूर आजाते हैं। अर्थात् जैसा कर्ता होता है वैसी ही क्रिया भी होती है। अतएव कर्तव्य कर्म होता है वैसी ही क्रिया भी होती है। अतएव कर्तव्य कर्म्म में लगे रहने से मनुष्य मात्र का जीवन भी वैभवशाली, विविध प्रकार का, और उत्साही हो जाता है। ऐसा होने से आदमी के खयालत खूब ऊंचे हो जाते हैं और उसके मनोविकार भी खूब तरक्की पाते हैं। यही नहीं, किन्तु, हर आदमी जिस सूत्र द्वारा मनुष्यजाति से बँधा हुआ है वह सूत्र खूब मजबूत हो जाता है और मनुष्य-जाति की योग्यता की इतनी बढ़ती हो जाती है कि उस बढ़ती के साथ ही हर आदमी की भक्ति भी उसके विषय में बढ़ जाती है। जैसे जैसे हर आदमी की विशेषता, अर्थात् व्यक्तिविलक्षणता, बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे उसका मोल भी बढ़ता जाता है। उसे यह मालूम होने लगता

---

† पेरिक्लिस का जन्म एथन्स में ईसा के पहले पांचवे शतक में हुआ। उसने राजकीय कामों में बड़ी प्रसिद्धि पाई। धीरे धीरे वह प्रजा-पक्ष का मुखिया होगया। उसने एथन्स के किले को खूब मजबूत बनाया। बहुतसी अच्छी अच्छी इमारतें भी बनवाईं। एथन्स का यह वैभव स्पार्टावालों से न देखा गया। इस लिये उन्होंने उस पर चढ़ाई की। दो वर्ष तक लड़ाई जारी रही। पर एथन्सवाले नहीं हारे। इतने में अचानक ऐसी सख्त महामारी आई कि एथन्स के अनन्त आदमी मरगये। इस आपदा का मूल कारण लोगों ने पेरिक्लिस को ठहराया और उसे सजा दी। अन्त में, ईसा के ४२९ वर्ष पहले, ज्वर से उसका प्राणान्त हुआ।

है कि मेरी योग्यता बढ़ गई है; मैं अपने लिए अधिक मूल्यवान् हो गया हूं; मैं अपने निज के काम काज पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता हूं। अतएव व्यक्ति-विशेषता के बढ़ जाने से—आदमी के अधिक मूल्यवान हो जाने से—दूसरों के हित करने की योग्यता भी उसमें बढ़ जाती है। उसके अस्तित्व में, उसके व्यवहारों में पहले से अधिक जान आ जाती है। आदमियों ही के समूह का नाम समाज है। व्यक्तियों ही से समाज बना है। इससे यदि व्यक्ति में—यदि हर आदमी में—अधिक जान आजायगी तो समाज में भी अधिक जान आ जायगी। व्यक्तियों के अधिक जानदार और तेजस्वी होते ही समाज भी अधिक जानदार और तेजस्वी हो जायगा। जिनमें मानवी स्वभाव की बहुत अधिकता है, अर्थात् जिनकी तबीयत या प्रकृति में जोर अधिक है—तेजी जियादह है—वे अपने से कमजोर आदमियों के हक छीन लेने या उन्हें सताने की अकसर कोशिश करते हैं। इसलिए उनका शासन जरूर करना चाहिए; उन्हें एक बंधी हुई हद के बाहर न जाने देना चाहिए। मतलब यह कि जहां तक हो सके, प्रतिबन्ध द्वारा उनकी शक्ति का नियमन कर देना चाहिए। विना यह किये काम नहीं चल सकता। परन्तु इससे मनुष्य की उन्नति में कमी नहीं आ सकती। इस तरह के प्रतिबन्ध से आदमी के सुधार में बाधा नहीं उत्पन्न हो सकती। यदि एक आदमी की मानसिक उन्नति में कुछ कमी भी आ जायगी तो दूसरे की उन्नति में विशेषता होने से वह कमी पूरी हो जायगी। अर्थात् इस तरह के प्रतिबन्ध से समाज की कोई हानि न होगी। क्योंकि बलवान् आदमी अपनी वासनाओं की जो तृप्ति करता है वह निर्बल आदमियों की वासनाओं का नियंत्रण करके करता है। अर्थात् उसकी वासनायें जितनी अधिक तृप्त होंगी औरों की वासनायें उतनी ही अधिक तृप्त होने से रह जायंगी। परन्तु सामाजिक प्रतिबन्ध या नियंत्रण से बलवान् का भी फायदा ही होता है। क्योंकि उसकी स्वार्थपरायणता कम हो जाती है और परार्थ-परायणता बढ़ती है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, व्यक्तियों ही के समूह से समाज बना है। अतएव हर आदमी के दो अंश होते हैं—एक व्यक्ति-अंश, दूसरा समाज-अंश। इससे जब किसी बलवान् आदमी की वासनाओं की बाढ़ रोकी जाती है तब उसके व्यक्ति-अंश की जितनी हानि होती है, उसके समाज-अंश का उतना ही लाभ होता है। दूसरों के हित के लिए—दूसरों को अन्याय से

बचाने के लिए—बलवान् आदमी से कठोर नियमों का पालन कराने से, उसकी वे मनोवृत्तियां और वे शक्तियां बढ़ती हैं जिनसे पदार्थ की सिद्धि होती है—जिनसे पर-हित की वृद्धि होती है। यह उन कामों की बात हुई जिनसे दूसरों का सम्बन्ध है। परन्तु जिन बातों से दूसरों का बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं है उन्हें करने से किसी को सिर्फ इसलिए रोकना, कि वे दूसरों को पसन्द नहीं हैं, कदापि न्याय-संगत नहीं। इस तरह की रोक से कुछ लाभ नहीं होता। यदि कुछ होता भी है तो यह होता है कि जिसकी वासना, या इच्छा, रोकी जाती है वह उस रुकावट का मुकाबला करके उसे तोड़ने की कोशिश करता है। इससे उसके स्वभाव की प्रबलता यदि कुछ बढ़ जाय तो बढ़ सकती है। और अधिक कुछ नहीं हो सकता। यदि उस रुकावट से वह रुक जायगा—यदि उस बलात्कार, अर्थात् जबरदस्ती को वह सहन कर लेगा—तो उसका सारा स्वभाव ही पलट जायगा। उसमें मन्दता आ जायगी; उसकी तेजी जाती रहेगी। हर आदमी की प्रकृति को यथेच्छ उन्नत होने के लिए, हर आदमी को अपनी तरक्की करने के लिए, इस बात की बहुत बड़ी जरूरत है कि जितने आदमी हैं सब अपनी अपनी इच्छा के अनुसार मनमाना व्यवहार करें। अतएव यथेच्छ व्यवहार करने के लिए सब को मुनासिब तौर पर मौका देना चाहिये। जिस युग, अर्थात् पीढ़ी में इस तरह का सुभीता जितना ही अधिक था, उतना ही अधिक परिणाम में वह युग लाभदायक हुआ है। इस समय उसने उतनी ही अधिक प्रसिद्धि भी पाई है। जहां अनिर्बन्ध राज्य है; जहां प्रजा का सर्वस्व राजा ही के हाथ में है; जहां प्रजा कुछ नहीं, राजा ही सब कुछ है; वहां पर ऐसे राज्य-शासन से भी तब तक बहुत बुरे अनर्थ नहीं होते जब तक व्यक्ति-विशेषत्व सजीव बना रहता है, अर्थात् जब तक हर आदमी के उचित मनोविकारों की वृद्धि नहीं रोकी जाती। जिस सत्ता से व्यक्ति-विशेषता पिस जाती है उसी का नाम अनिर्बन्ध राज्य है। ऐसी सत्ता को चाहे कोई जिस नाम से पुकारे; और चाहे उसका उद्देश ईश्वर की इच्छा के अनुसार लोगों से बलपूर्वक काम कराना हो, चाहे उससे आदमी के हुकमों की तालीम करानी हो; उसकी अनिर्बन्धता कहीं जाने की नहीं। बाढ़, वृद्धि, या उन्नति ही का नाम व्यक्तिता या व्यक्तिविशेषता है। दोनों एक ही चीज है। व्यक्ति-विशेषता की बढ़ती होने ही से आदमी की बढ़ती होती है और हो सकती है। अर्थात्

उसकी उन्नति होने ही से आदमी सब तरह की उन्नतियां कर सकता है। इन बातों का मैंने यहां तक विचार किया। यहीं पर इस विवेचना को समाप्त कर देने से काम चल जाता। क्योंकि इसकी अपेक्षा और अधिक क्या प्रशंसा हो सकती है कि, अमुक तरह का बर्ताव करने से आदमी यथाशक्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है—यथासम्भव सर्वोत्तम स्थिति को पहुंच सकता है? अथवा इससे अधिक और क्या निन्दा हो सकती है कि, अमुक तरह का बर्ताव करने से उस स्थिति—उस पूर्णता—तक पहुंचने में विघ्न आता है? तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि, इस विषय में, जिन लोगों को कायल करने की जरूरत है वे इतनी ही विवेचना से कायल न होंगे। इतनी ही से उन लोगों का विश्वास इस सिद्धान्त पर न जमेगा। इस सिद्धान्त को उनके मनोनीत करने के लिए—उनके गले उतार देने के लिए—उनको इस बात के भी बतलाने की जरूरत है कि इस तरह पूर्णता को पहुंचे हुए आदमी अपनी अपेक्षा अपूर्ण आदमियों के काम भी आवेंगे। उनको इस बात की याद दिलाने की भी जरूरत है कि यदि दूसरों को विना किसी प्रतिबन्ध के स्वाधीनता को काम में लाने की अनुमति दे दी जायगी तो, जो लोग स्वाधीनता की परवा नहीं करते और स्वाधीनता मिल जाने पर भी जो उससे लाभ नहीं उठाते, उनका भी हित ही होगा।

उनका पहला हित यह होगा कि उन अपूर्ण, अथवा अल्पज्ञ आदमियों से उन्हें कुछ शिक्षा मिलेगी—कुछ ज्ञान प्राप्त होगा। इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि आदमी के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं उनका एक अङ्ग—और ऐसा वैसा नहीं, महत्त्व का अङ्ग कल्पना-शक्ति है। कल्पना, अर्थात् नई नई बातों के आविष्कार का बड़ा महात्म्य है। नये नये सिद्धान्तों का पता लगानेवालों की, और जो सिद्धान्त पहले सच समझे गये थे उनको भ्रामक सिद्ध करनेवालों की ही हमेशा जरूरत नहीं रहती। नये नये व्यवहारों अर्थात् रीति-रवाजों के शुरू करनेवालों की, और अधिक उन्नत बर्ताव अधिक उन्नत बुद्धिमानी और अधिक उन्नत अभिरुचि का नमूना सब के सामने रखनेवालों की भी बहुत बड़ी जरूरत रहती है। जो आदमी यह नहीं समझता, अर्थात् जिसको इस बात पर विश्वास नहीं है, कि संसार में जितने आचार, विचार और व्यवहार हैं सब सम्पूर्णता को पहुँच गये हैं वह मेरे इस कथन का खण्डन नहीं कर सकेगा। यह जरूर सच है कि इस तरह

का फायदा सब आदमियों के हाथ से बराबर होनेका नहीं। संसार में जितने आदमी हैं उन सबका हिसाब लगाकर देखने से मालूम होगा कि ऐसे आदमी दो ही चार मिलेंगे जिनके तजरुबे की नकल करने से, अर्थात् जिनके अनुभवस्थापित बर्ताव के अनुसार चलने से, प्रचलित व्यवहार में कुछ सुधार होने की सम्भावना होगी। परन्तु इन दो चार आदमियों को कम महत्त्व न देना चाहिए। जिस तरह बिना नमक के भोजन फीका लगता है उसी तरह बिना इन अल्पसंख्यक आदमियों के सांसारिक समाज फीका रहता है। दुनियामें यही आदमी नमक का काम देते हैं। यदि ये न हों तो आदमी की जिन्दगी सब तरफ से बन्द कर दिये गये पानी के एक छोटे से गढ़े सी हो जाय। ये लोग नई और अच्छी अच्छी बातों का ही प्रचार नहीं करते; किन्तु जो बातें पहले ही से प्रचलित हैं उनको भी यही सजीव रखते हैं। इन्हींकी बदौलत उनमें जान बनी रहती है। यदि कोई नई बात करने को न हो तो क्या आदमी के लिए अपनी बुद्धि से काम लेने की जरूरत न रहे? क्या इसको भी कोई अच्छा समझेगा कि जो लोग पुरानी प्रचलित बातों का अनुकरण करते हैं वे उस अनुकरण का कारण भी भूल जांय और आदमियों की तरह नहीं, किन्तु हैवानों की तरह, आंख बन्द करके उसे करते रहें? बिना विचार किये पुरानी लकीर के फकीर होना आदमी को शोभा नहीं देता। यह बात बहुधा देखी जाती है कि जो विश्वास और जो व्यवहार उत्तम हैं वे भी क्षीण होते होते निर्जीव यंत्रों की तरह हो जाते हैं। ऐसे विश्वासों और ऐसे व्यवहारों का मूल हेतु सजीव, बनाये रखने के लिए यदि प्रबल कल्पना-शक्ति के आदमी, एक के बाद एक, बराबर न पैदा होंगे तो वे जरूर निर्जीव हो जांयगे। परम्परा से चली आनेवाली इस तरह की निर्जीव रूढ़ियां—इस तरह की मुर्दा बातें—किसी सजीव विश्वास का थोड़ा सा भी धक्का लगने से. चूर हो जायँगी। वे उसे कभी बरदाश्त न कर सकेंगी। मुझे कोई कारण नहीं देख पड़ता कि बायजण्टाइन * की बादशाहत की तरह पुरानी शिक्षा और सभ्यता क्यों न नष्ट हो जाय? नई और जिन्दा

---

* ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग रोम की बादशाहत के दो भाग होगये—एक पूर्वी, दूसरा पश्चिमी। इनमें से पूर्वी भाग का नाम बायजण्टाइन था। १४५३ ईसवी में तुर्क लोगों ने उनका नाश करदिया।

बातों के धक्के को पुरानी मुर्दा बातें किस तरह बर्दाश्त कर सकती हैं? तेज प्रतिभावाले—विलक्षण बुद्धिवाले—आदमी बहुत कम पैदा होते हैं और वे बहुत कम पैदा होवेंहीगे। यह बहुत सही है। परन्तु जिस खेत में वे पैदा होते हैं उसकी रखवाली खूब खबरदारी से करनी चाहिए, जिसमें इस तरह के जो थोड़े से आदमी उसमें पैदा होते हैं वे तो होते रहें। प्रतिभा, अर्थात् विलक्षण बुद्धि, को सिर्फ स्वाधीनतारूपी वायुमंडल में ही अच्छी तरह स्वासोच्छ्वास लेने का—आराम से दम मारने का—मौका मिलता है। प्रतिभा शब्द के अर्थ के अनुसार प्रतिभावान् आदमी, और आदमियों की अपेक्षा विलक्षण होते ही हैं। इसीसे ऐसे आदमी अपने बदन को सिकोड़ कर, बिना चोट लगे, उन छोटे छोटे बर्तावरूपी सांचों में से किसी एक सांचे के भीतर अपने को नहीं ढाल सकते, जिनको समाज इसलिये बनाता है कि हर आदमी को अपने अपने बर्ताव का सांचा बनाने की तकलीफ न उठानी पड़े। यदि डर, या और किसी कारण, से किसी सांचे में अपने स्वभाव को ढालने के लिए लाचार होकर वे राजी भी होते हैं, तो दबाव के कारण उनके जिस अङ्ग की पुष्टि औरों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए वह नहीं होती। अतएव उनकी प्रतिभा से—उनकी विलक्षण बुद्धि से—समाज का जो हित होना चाहिए वह नहीं होता। यदि ऐसे आदमी निर्भय और दृढ़ स्वभाव के हुए और समाज की डाली हुई बेड़ियों को उन्हों ने तोड़ डाला तो उनकी विलक्षणता का नाश करने में कामयाब न होनेवाले लोग फौरन ही उनकी तरफ उँगली उठाकर कहने लगते हैं कि—"ये अजब पागल आदमी हैं; ये कुछ बहक से गये हैं।" उनका यह कहना गोया इस बात की शिकायत करना है कि बेतरह तेजी से बहनेवाले अमेरिका की नियागरा नदी, हालंड के नहरों की तरह अपने दोनों किनारों के भीतर ही भीतर क्यों नहीं धीरे धीरे बहती?

मेरी समझ में प्रतिभा अर्थात् अद्भुत बुद्धि, बहुत बड़े महत्त्व की चीज है। इस बातको मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूं—बलपूर्वक करता हूं। मैं इस बात पर भी जोर देता हूं कि विचार और व्यवहार, दोनों, में प्रतिभा को यथेच्छ अपना काम करने देने की बड़ी जरूरत है। उसका जरा भी प्रतिबन्ध करना अच्छा नहीं। मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि जिस सिद्धान्त या जिस नियम का वर्णन मैंने यहां पर किया है उसके प्रतिकूल कोई कुछ न कहेगा। उसे सभी मानेंगे। तिस पर भी मैं जो इस सिद्धान्त पर इतना

जोर दे रहा हूं उसका कारण यह है कि व्यवहार में लोग इस सिद्धान्त से बहुत कम काम लेते हैं। जब इसके अनुसार काम करने का मौका आता है तब वे इसकी तरफ ध्यान नहीं देते। अर्थात् इस सिद्धान्त की योग्यता और इसके अनुसार बर्ताव होने की आवश्यकता को तो वे मानते हैं; परन्तु मानते ही भर हैं; प्रत्यक्ष में उसके अनुसार वे बहुत कम कारवाई करते हैं। प्रतिभा के बल से यदि किसी ने कोई मनोहारिणी कविता लिखी या कोई अद्भुत तसबीर बनाई, तो लोग उसकी जरूर तारीफ करते हैं। परन्तु मन में प्रायः सभी यह समझते हैं कि उसके बिना भी उनका काम निकल सकता है। प्रतिभा के योग से विचार और व्यवहार में नयापन आजाता है। प्रतिभा के इस गुण को वे आश्चर्य की नजर से देखते जरूर हैं; पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि प्रतिभा न हो तो भी उनका कोई काम रुका न रहेगा। यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। लोगों को ऐसा मालूम होना ही चाहिए। प्रतिभा वह चीज है जिसे प्रतिभाहीन आदमी उपयोग में नहीं ला सकते। यह बात उनकी समझ ही में ही नहीं आ सकती कि उससे उनका लाभ क्या होगा? और यह उनकी समझ में आवे कैसे? यदि साधारण बुद्धि के आदमियों के ध्यान में यह बात आजाय कि प्रतिभा से उनका क्या लाभ होगा तो उसे प्रतिभा ही न कहना चाहिए। यदि कदाचित् ऐसा होजाय तो वह अद्भुत कल्पना-शक्ति ही नहीं। प्रतिभा का सब से पहला काम यह होगा कि वह मामूली आदमियों की आँखें खोल देगी। जब उनकी आँखें एक वार अच्छी तरह खुल जायँगी तब कहीं उसे पाने की योग्यता उनमें आवेगी। उस समय वे खुद ही उसे पाने की चेष्टा करेंगे। तब तक उनको यह बात याद रखनी चाहिए कि जितनी बातें आज तक हुई हैं उनका प्रचार किसी न किसी आदमी ने पहले पहल जरूर किया है। यदि शुरू शुरू में कोई उनका प्रचार न करता तो वे कभी अस्तित्व में न आतीं। जितने सुख-साधन इस समय प्रचलित हैं, जितनी अच्छी अच्छी बातें इस समय देख पड़ती हैं, वे सब अद्भुत कल्पना-शक्ति का ही फल है। यदि प्रतिभा से काम न लिया जाता तो कदापि उनकी उत्पत्ति न होती। इससे सब लोगों को अहङ्कार छोड़ कर यह बात मान लेनी चाहिए कि अब भी प्रतिभा के लिए कुछ काम बाकी है, अर्थात् उसकी सहायता से अब भी बहुत सी नई नई बातें हो सकती हैं। उनको यह बात भी विश्वासपूर्वक

याद रखनी चाहिए कि प्रतिभा अर्थात् अद्भुत बुद्धि या अद्भुत कल्पना-शक्ति की कमी का उनको जितना कम खयाल है उतनी ही अधिक उनको उसकी आवश्यकता है ।

कल्पित या सच्ची मानसिक श्रेष्ठता को लोग चाहे जितना मान दें, अथवा उसे चाहे जितना आदरणीय समझें, सच बात तो यह है; कि दुनिया में आदमियों की प्रवृत्ति औसत दरजे की लियाकत रखनेवालों ही को प्रभुता देने की तरफ अधिक है । पुराने जमाने में जो बीच का समय था उसमें (और आज तक के बहुकाल-व्यापी परिवर्तन-शील समय में भी) हर आद म थोड़ी बहुत शक्ति अवश्य थी—अर्थात् व्यक्ति-विशेष की महिमा को लोग थोड़ा बहुत जरूर मानते थे । और जिस व्यक्ति में बुद्धि की विशेषता देख पड़ती थी, या समाज में जिसका स्थान अधिक ऊंचा होता था, उसे लोग और भी अधिक महत्त्व देते थे । परन्तु समाज से व्यक्तिविशेषता आज कल बिलकुल ही चली गई है । राजकीय कामों में नाम लेने लायक सत्ता इस समय यदि किसी की है तो जन-समुदाय की है । और जबतक जनसमुदायकी समझ, भावना और प्रवृत्ति के अनुसार सत्ताधारी राज्यशासक काम करते हैं तब तक उनकी भी है । यह दशा सिर्फ सार्वजनिक कामों ही की नहीं है; खानगी बातों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने नैतिक और सामाजिक व्यवहार हैं उनकी भी है । जिन लोगों की राय सार्वजनिक या जन-साधारण की राय कहलाती है वे लोग सब एक ही तरह के नहीं होते । अर्थात् जन-साधारण में भी भेद होता है । अमेरिका में जितने गोरे चमड़े के आदमी हैं उन सब की गिनती जन-साधारण में है । इँग्लेण्ड में विशेष करके मध्यस्थिति के ही आदमी जन-साधारण में गिने जाते हैं । परन्तु वे लोग सब कहीं समुदाय, या जन-समूह, के रूप में हैं । इस समुदाय से मेरा मतलब मध्यम-शक्ति के जनसमूह से है । यह आश्चर्य्य की बात है । इससे भी अधिक आश्चर्य्य की बात यह है कि यह जन-समुदाय, पहले की तरह, अब धर्म्माधिकारियों से, राज्याधिकारियों से, प्रजा के प्रसिद्ध मुखिया लोगों से और अच्छी अच्छी पुस्तकों से अपने मत नहीं प्राप्त करता । यह समुदाय खुद विचार या विवेचना भी नहीं करता । उसके लिए विचार और विवेचना का काम और ही लोग करते हैं । पर वे भी बहुत करके उस समुदाय के आदमियों ही की तरह के आदमी होते हैं । उत्तेजना मिलने

पर जब जब उनको अपने समुदाय की तरफ से बोलने या उससे कुछ कहने की जरूरत पड़ती है तब तब वे अखबारों की शरण लेते हैं। ये बातें मैं शिकायत के तौर पर नहीं कहता। मेरा यह मतलब नहीं कि इस तरह की कारखाई से अनिष्ट होने की सम्भावना है। और, न मैं यही कहता हूं कि इस समय विचार और विवेचना का इससे भी अच्छा और कोई तरीका है। आदमियों की मानसिकवृत्ति इस समय बहुत निकृष्ट अवस्था में है। अतएव, इस दशा में, साधारण रीति पर जो स्थिति इस समय है, उसकी अपेक्षा अधिक उत्तम स्थिति साध्य नहीं। परन्तु मध्यम-शक्ति की सत्ता मध्यम शक्तिकी ही सत्ता है। उसमें जो गुण-दोष हैं वे बने ही हुए हैं। आज तक जितनी राजसत्तायें हुई हैं—चाहे उनका सूत्र जन-समूह के हाथ में रहा हो चाहे सिर्फ प्रधान प्रधान आदमियों के हाथ में रहा हो—उनमें से प्रायः एक भी राजसत्ता, राजकीय कामों में, सद्गुणों में और मानसिक स्थिति में भी मध्यमावस्था से अधिक ऊपर नहीं गई और यदि जाना चाहती तो जा भी न सकती। जहां कहीं एक आध जगह किसी विषय में मध्यमावस्था से अधिक उन्नत अवस्था देख पड़ती है वहां उसका यह कारण है कि उस विशेष उन्नतिशाली विषय के सम्बन्ध में सत्ताधारी आदमियों ने अपने से अधिक बुद्धिवान्, तजरुबेकार और शिक्षित लोगों की सलाह या प्रेरणा से काम किया है। जितनी बातें हितकर, उदार या बुद्धिमानी की हैं उन सब की उत्पत्ति व्यक्ति-विशेष से ही होती है; अर्थात् व्यक्ति-विशेष ही पहले पहल उन्हें शुरू करते हैं और उन्हींको शुरू करना भी चाहिए। ऐसी बातों की उत्पत्ति बहुत करके एक ही व्यक्ति—एक ही आदमी—से होती है। व्यक्ति-विशेष की चलाई हुई बातों के अनुसार बर्ताव करने की योग्यता रखना ही औसत दरजे के आदमियों का भूषण है। उसीमें उनकी कीर्ति और भलाई है। लाभदायक और बुद्धिमानी की बातों को कबूल कर लेना और अच्छी तरह समझ बूझकर उनके अनुसार बर्ताव करना ही मामूली बुद्धि के आदमियों को उचित है। दुनिया भर की सत्ता को जबरदस्ती छीन कर मनुष्य-मात्र को अपना आज्ञाकारी बनानेवाले प्रबल और अद्भुत प्रतिभाशाली आदमियों की लोग खूब तारीफ करते हैं; उनकी वे पूजा करने लगते हैं। पर यहां इस प्रकार की "वीर-पूजा" से मेरा मतलब नहीं है। मैं उसके खिलाफ हूं। मेरा मतलब यह है कि विलक्षण प्रतिभावाले आदमी को सिर्फ रास्ता बतला देने की

सत्ता चाहिए; वह सिर्फ इतनी ही सत्ता पाने का हकदार है; इससे अधिक स्वतन्त्रता पाने का वह दावा नहीं कर सकता। जो रास्ता वह बतलावे उस पर चलने के लिये लोगों को लाचार करने का उसे अधिकार न होना चाहिए; क्योंकि यदि उसे ऐसा अधिकार मिलेगा तो दूसरे आदमियों के स्वातन्त्र्य और सुधार में बाधा आवेगी। इतना ही नहीं, किन्तु खुद उस प्रतिभावान् पुरुष की भी हानि होगी। परन्तु एक बात यह जरूर है कि यदि औसत दरजे के आदमियों के समूह के मत खूब प्रबल हो जांय या होने लगें, अर्थात् यदि ऐसे लोगों की सत्ता बेतरह बढ़ जाय, तो उनको ठीक रास्ते पर लाने के लिए समझदार और विशेष बुद्धिमान् आदमियों को अपने अपने मत पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और अधिक दृढ़तापूर्वक प्रकट करने चाहिए। इस दशा में, जो विलक्षण बुद्धिमान् आदमी अपने मतों को प्रकाशित करने की कोशिश करें उनका प्रतिबन्ध न करके उलटा उन्हें वैसा करने के लिए उत्तेजन देना चाहिए; अर्थात् मामूली आदमियों के बर्ताव से जुदा तरह का बर्ताव करने के लिये उन्हें उलटा उकसाना चाहिए। और, किसी दशा में यदि ऐसे प्रतिभाशाली आदमी इस तरह का बर्ताव करेंगे तो उससे कोई लाभ न होगा। हां, यदि वे किसी तरह की कोई भिन्न रीति निकालें और वह रीति प्रचलित रीति से अच्छी हो तो बात ही दूसरी है। इस समय तो किसी बात का विरोध करके लोगों को विरोध का एक उदाहरण दिखलाना या किसी रूढ़ि के सामने घुटना टेकने से इनकार करना ही संसार की सेवा करना है। आज कल जन-समुदाय का मत इतना प्रबल हो उठा है और उसकी सख्ती इतनी बढ़ गई है कि हर तरह की विलक्षणता को लोग हँसने लगे हैं। अर्थात् लोगों की आंखों में नयापन नहीं खपता; उसे देखते ही वे कुचेष्टायें करने लगते हैं। अतएव इस सख्ती को दूर करने ही के लिए—इस जुल्म से बचने ही के लिए—विलक्षणता की जरूरत है। अर्थात् लोगों को चाहिए कि वे जरूर नई नई और विलक्षण बातें करें। जिस आदमी में स्वभाव की प्रखरता होती है उसमें बुद्धि की विलक्षणता भी जरूर होती है। समाज में भी यही बात पाई जाती है। अर्थात् प्रतिभा, मानसिक शक्ति और नैतिक धीरता समाज में जितनी अधिक होती है, उतनी ही अधिक विलक्षणता भी उसमें बहुत करके होती है। पर आज कल बहुत कम आदमी विलक्षणता दिखलाने का साहस करते हैं। यही बहुत बड़े खटके की बात है। इसीमें खतरा है।

मैं यह कह चुका हूं कि जो बातें प्रचलित अर्थात् रूढ़ नहीं हैं उनका, जहां तक मुमकिन हो, खूब निर्बन्धरहित विवेचन होना चाहिए; अर्थात् उनको खूब उत्तेजित करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से यथासमय यह बात मालूम हो जायगी कि उनमें से कितनी बातें प्रचलित होने लायक हैं। परन्तु अच्छी अच्छी बातों को प्रचलित करने और उनके प्रचार के लिये अच्छे अच्छे तरीके निकालने ही के इरादे से मनमाना व्यवहार करनेवालों और रूढ़ि के बन्धन से न बँधनेवालों को उत्तेजन न देना चाहिए। और, न इस तरह मनमाना व्यवहार करने का स्वातंत्र्य सिर्फ विलक्षण बुद्धि के प्रतिभाशाली आदमियों ही को मिलना चाहिए। यह कोई नियम नहीं—इसके लिए कोई प्रमाण या आधार नहीं—कि दुनिया में जितने आदमी हैं सब के जीवन का क्रम एक ही नमूनेका हो; या यदि एक से अधिक नमूने का हो तो थोड़े ही का हो, बहुत का न हो। जिसमें मतलब भर के लिये बुद्धि, समझ या तजरुबा है उसे जैसा व्यवहार पसन्द हो वैसा ही करने देनेकी स्वतंत्रता होनी चाहिए। यह इस लिये नहीं कि उसका पसन्द किया हुआ व्यवहार या जीवन-क्रम सब से अच्छा होगा; किन्तु इस लिए कि वह उसीका निश्चय किया हुआ है—उसीने उसे ढूंढ़ निकाला है। यह दूसरा कारण पहले से सबल, सयौक्तिक और महत्त्व का है। आदमी भेड़ नहीं है; और सब भेड़ें भी एक तरह की नहीं होतीं; उनमें भी फरक होता है। यदि किसी को कोट या बूट की जरूरत होती है, और उसके घर में इन चीजों की कोठी नहीं होती कि उसमें से वह अपनी पसन्द का कोट या बूट चुन ले, तो जब तक उसकी माप के मुताबिक ये चीजें नहीं बनाई जातीं तब तक बदन में ठीक होनेवाला कोट और पैर में ठीक आनेवाला बूट नहीं मिलता। तो क्या कोट की अपेक्षा अपनी पसन्द का जीवन-क्रम प्राप्त कर लेना अधिक सहज है? अथवा क्या दुनिया भर के आदमियों के शरीर और मन के स्वरूप उनके पैरों की शकल से भी अधिक समता रखते हैं? जब एक माप के बूट सब लोगों के पैर में नहीं आ सकते तब एक ही प्रकार के आचार, व्यवहार या जीवन-क्रम सब को किस तरह पसन्द आ सकते हैं? सब आदमियों की रुचि एक सी नहीं होती। रुचि की विचित्रता परम्परा से प्रसिद्ध है। यदि यह मान लिया जाय तो इतना ही कारण इस बात के सिद्ध करने को बस है कि सब आदमियों की रुचि एक सांचे में नहीं ढाली जा सकती। हर

आदमी की रुचि जुदा जुदा होती है। इतना ही नहीं, किन्तु आत्मिक उन्नति के लिए हर आदमी को जुदा जुदा स्थिति भी दरकार होती है। जैसे जुदा जुदा तरह के पौधे एक ही प्रकार की जमीन और आबोहवा में नहीं हो सकते वैसे ही सब तरह के आदमियों की उन्नति भी एक ही प्रकार की नैतिक आबोहवा में नहीं हो सकती। उन्नति तो दूर रही उनकी आत्मिक अवस्था ही, इस दशा में, यथास्थित नहीं रह सकती। जो बातें एक आदमी के स्वभाव को उन्नत बनाने में मदद देती हैं वही बातें दूसरे आदमी के स्वभाव को बिगाड़ती हैं। जीवन का जो क्रम एक आदमी के लिए अच्छे उत्साह का बढ़ानेवाला होता है, और जिन शक्तियों की प्रेरणा से वह आदमी काम भी करता है और उससे फायदा भी उठाता है उन्हें जो क्रम खूब अच्छी हालत में रखता है, वही क्रम दूसरे को बोझ मालूम होता है और उसकी आन्तरिक शक्तियों को बेकाम कर देता है, या उन्हें बिलकुल ही पीस डालता है। इस तरह, दुनिया में आदमियों के सुख के साधन, दुःखों के अनुभव करने की शक्तियां और नैतिक नियमों के अनुसार उन पर होनेवाली घटनाओं का असर—ये सब बातें इतनी जुदा जुदा हैं कि यदि इनके अनुरूप आदमियों के जीवन में विचित्रता या भिन्नता न आने दी जाय तो सांसारिक सुख का उचित अंश उन्हें न मिले और न उनकी मानसिक, नैतिक और आन्तरिक वृत्ति की उचित उन्नति ही हो। तो फिर क्यों लोग सिर्फ उन बातों को, सिर्फ उन रुचियों को, सिर्फ उन व्यावहारिक रीतियों को, चुपचाप सहन करते हैं जिनका अनुकरण वे बहुत आदमियों को करते देखते हैं? अर्थात् अनुयायिबाहुल्य के बल पर जो बातें अधिक आदमियों को मान्य हो जाती हैं उन्हींके विषय में सार्वजनिक मत क्यों इतनी सहनशीलता दिखलाता है? धार्मिक लोगों के कुछ मठों को छोड़ कर और कोई भी जगह ऐसी नहीं है जहां लोग रुचि-विचित्रता को बिलकुल ही न मानते हों। जिसका जी चाहे वह तैरे, तम्बाकू पिये, गावे, कसरत करे, शतरंज खेले और किताबें देखे; और जिसका जी न चाहे वह ये काम न करे। यह बात हर आदमी की पसन्द पर छोड़ दी गई है। इसके लिए वह दोषी नहीं ठहराया जाता। अर्थात् जो लोग इन बातों को करते हैं न उन्हींको कोई दोष देता है और जो लोग नहीं करते न उन्हीं को कोई कुछ कहता है। इसका कारण यह

कि इन बातों को पसन्द करनेवालों की भी संख्या बहुत अधिक है और न पसन्द करनेवालों की भी बहुत अधिक है—इतनी अधिक कि उन सबका प्रतिबन्ध ही नहीं हो सकता। परन्तु जिस बात को सब लोग करते हैं उसे न करने का, अथवा जिस बात को सब लोग नहीं करते उसे करने का, इलजाम यदि किसी पर लगता है और विशेष करके यदि ऐसा इलजाम किसी स्त्री पर लगता है तो उसकी इतनी छी थू होती है गोया उसने कोई बहुत ही बड़ा नैतिक अपराध किया हो। कोई कोई आदमी किसी विशेष प्रकार की पदवी, या उच्चपदसूचक चिह्न या प्रतिष्ठित आदमियों से प्रतिष्ठा की प्राप्ति सिर्फ इसलिए चाहते हैं जिसमें उनको मनमाना काम करने का थोड़ा बहुत आनंद भी मिले और उनकी मानमर्यादा को भी हानि न पहुंचे। 'थोड़ा बहुत' मैं जान बुझकर कहता हूं। इसी लिए मैं उसे दोहराता हूं। क्योंकि जो लोग इस तरह के आनन्द में अधिक मग्न होते हैं उन्हें अपमान-कारक बातें कहने की भी अपेक्षा अधिक विपदा के पात्र होना पड़ता है। उन्हें बहुत बड़े खतरे में पड़ने का डर रहता है। कभी कभी ऐसे आदमियों पर पागल हो जाने का आरोप लगाया गया है और उनकी सम्पत्ति तक उनके सम्बन्धियों को दे डाली गई है।

आज कल जनसमुदाय के मत की जो धारा बह रही है उस में यह विलक्षणता है कि यदि कोई अपने स्वभाव की विचित्रता कुछ अधिक साफ तौर पर दिखाने लगता है, अर्थात् यदि कोई अपनी व्यक्ति-विशेषता का वैलक्षण्य कुछ अधिक खुले तौर पर प्रकट करने लगता है, तो उसका यह काम लोगों को बिलकुल ही सहन नहीं होता। औसत दरजे के जितने आदमी हैं उनकी सिर्फ बुद्धि ही औसत दरजे की नहीं होती; उनकी वासनायें, उनकी इच्छायें, उनकी ख्वाहिशें भी औसत दरजे की होती हैं। उनकी अभिलाषा और अभिरुचि इतनी प्रबल ही नहीं होती कि रूढ़ि के प्रतिकूल कोई बात करने के लिए उनका मन चले। यही कारण है जो विलक्षण बातें करनेवालों का मर्म ही उनकी समझ में नहीं आता—अर्थात् जो लोग रूढ़ि की परवा न करके मनमाने काम करते हैं उनकी बातें ही ऐसे आदमियों के ध्यान में नहीं आतीं; वे उनका मतलब ही नहीं समझ सकते। इसीसे वे ऐसे लोगों की गिनती जंगली और पागल आदमियों में करते हैं; और उनको बहुत ही बुरी नजर से देखते हैं। उनका स्वभाव ही इस तरह का

हो गया है । एक बात और भी है । आज कल लोगों ने नैतिक उन्नति करने के लिए कमर कसी है । इस विषय की आज कल खूब चर्चा हो रही है । इसका फल भी प्रत्यक्ष है । सब लोगों का व्यवहार और बर्ताव एकसा करने और सब तरह की जियादती को रोकने में कामयाबी भी बहुत कुछ हुई है । आज कल लोगों के मन में यह बात जम गई है कि सब आदमियों से स्नेह रखना चाहिए । जितने मनुष्य हैं उन सब की नीति और बुद्धि की उन्नति के काम को छोड़ कर इस समय आदमियों के लिए और कोई काम ही नहीं रहगया । समय के इस झुकाव के अनुसार—काल की इस महिमा के अनुसार—सब के बर्ताव के लिए एकसे नियम बनाने की तरफ लोगों की प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा अधिक हो चली है । और, ऐसे नियम-रूपी नमूने के अनुसार सब लोगों से बर्ताव कराने की कोशिश भी हो रही है । वह नमूना—चाहे वह साफ साफ हो, चाहे ध्वनि से सूचित होता हो—यह है कि किसी चीज के पानेके लिए प्रबल इच्छा न रखनी चाहिए । उत्तम स्वभाव वह कहलाता है जिसकी उत्तमता का कोई चिह्न ही न हो—जिस में कोई विशेषता ही न हो । स्वभाव के वे सब भाग जो अधिक बाहर निकले हुए, अर्थात् अधिक उन्नत, देख पड़ते हों; और जिनके कारण किसी का स्वभाव दूसरे आदमियों के स्वभाव से जुदा तरह का जान पड़ता हो, उन सबको, चीन की स्त्रियों के पैरों की तरह, खूब दबाकर कुरूप कर डालने ही को लोग, आज कल, स्वभाव की उत्तमत्ता समझते हैं । उसी को वे नमूनेदार स्वभाव कहते हैं । उसीकी नकल करने के लिए वे सब लोगों को लाचार करना चाहते हैं ।

यह एक साधारण नियम है कि जिस नमूने की नकल उतारना है उसका आधा हिस्सा यदि छोड़ दिया जाय तो बाकी बचे हुए की भी नकल अच्छी तरह नहीं उतारी जा सकती । आज कल लोग जिस नीति का अवलम्बन कर रहे हैं उसका भी नमूना इसी तरह का है । खूब प्रबल विवेचना से प्रबल उत्साहों का नियमन होना चाहिए; और, अन्तःकरण को गवाह बनाने के बाद, उत्पन्न हुई इच्छा से प्रबल मनोविकारों को काबू में रखना चाहिए । पर ऐसा नहीं होता । इसका फल यह हुआ है कि दुर्बल मनोविकार और दुर्बल ही उत्साहवाले आदमी अब पैदा होते हैं । ऐसों की कमजोर मनो-वृत्तियों को बाहर से प्रतिबन्ध में रखने अर्थात् बतलाये गये नमूने की उनसे

नकल कराने में न तो प्रबल इच्छा ही की बड़ी जरूरत रहती है और न प्रबल विचार-शक्ति ही की। अभी से प्रबल उत्साह के आदमी बहुत कम देखे जाते हैं। विशेष करके परम्परा से सुनी हुई बातों में ही प्रबल उत्साह-वालों की अधिकता है। अर्थात् अधिक उत्साही स्वभाव के आदमी नामशेष होते जा रहे हैं। व्यापार की बातों को छोड़ कर और बातों में उत्साह-शक्ति को खर्च करने के लिए, इस देश में, बहुत कम जगह रह गई है। और, जो कुछ रह गई है वह भी कम हो रही है। व्यापार में जो शक्ति खर्च होती है वह अब तक अधिक परिमाण में खर्च होती है। उसमें खर्च होने से देश की जो थोड़ी सी शक्ति बच जाती है वह एक आध पागलपन के काम में खर्च होती है। ऐसे पागलपन या सनक के काम कभी कभी उपयोगी भी होते हैं और कभी कभी लोगों के हित के लिए भी किये जाते हैं। पर ऐसे काम बहुत करके किसी एक ही बात से सम्बन्ध रखते हैं और वह बात भी ऐसी ही वैसी होती है; महत्त्व की नहीं होती। इंगलैण्ड का वर्तमान महत्त्व सञ्चित है, संगृहीत है, समुदित है। उसका ऐश्वर्य्य इकट्ठा किया हुआ है—बहुत आदमियों के योग से वह मिला है। इंगलैण्ड के हर आदमी की शक्ति के हिसाब से यदि उसका ऐश्वर्य्य तौला जाय तो वह बहुत ही थोड़ा निकले। हम लोग जो एक आध महत्त्व के काम करने लायक देख पड़ते हैं उसका कारण मिलकर काम करने की हमारी आदत है। अर्थात् सिर्फ एकता के बल से यदि हम लोग कोई बड़ा काम कर सकते हैं तो कर सकते हैं। नीति और धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले जो लोग इस देश में लोक-वत्सल कहलाते हैं वे इसीसे सन्तुष्ट हैं। वे इतने ही को काफी समझते हैं। परन्तु जिन्होंने इंगलैण्ड को उसकी वर्तमान अवस्था को पहुंचाया—अर्थात् उसकी, आज तक, जिन्होंने इतनी उन्नति की—वे ऐसे आदमी न थे। इस तरह के आदमी न थे। इस तरह के आदमियों से उसकी उन्नति नहीं हुई। और उसके ह्रास को रोकने—उसे क्षीण होने से बचाने—के लिए भी और ही तरह के आदमियों की जरूरत होगी। वर्तमान रीति और नीति के आदमियों से यह बात होने की नहीं।

जिस तरफ आप आंख उठाइयेगा उस तरफ आपको रूढ़ि की प्रबलता—रीति भांति की सख्ती—ही मनुष्यमात्र की उन्नति का बाधक देख पड़ेगी। जो बातें प्रचलित हैं—जो बातें रूढ़ हो गई हैं—उनकी अपेक्षा अधिक

अच्छी बातें करने की इच्छा, और रूढ़ि की प्रबलता में निरन्तर विरोध जारी है। रूढ़ बातों की अपेक्षा अधिक अच्छी बातें करने की वासना कभी तो सुधार, अर्थात् संशोधन, से और कभी स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखती है। सुधार और स्वतंत्रता की वासनायें हमेशा एक नहीं होतीं; अर्थात् यह नहीं कि वे दोनों एक दूसरी से हमेशा अभिन्न रहती हों। क्योंकि समाज-संशोधक लोग बहुधा उन आदमियों से भी जबरदस्ती सुधार स्वीकार कराने की कोशिश करते हैं जो दिल से सुधार नहीं चाहते। अतएव स्वतंत्रता की वासना रखनेवालों को इस प्रकार की कोशिशों को रोकने के लिए कुछ काल तक सुधार न चाहनेवालों से मेल कर लेना पड़ता है। परन्तु सुधार और उन्नति का चिरस्थायी और कभी विफल न होनेवाला साधन सिर्फ स्वाधीनता ही है। क्योंकि स्वाधीनता की सहायता लेने से—स्वाधीनता का आश्रय स्वीकार करने से—जितने आदमी उतने ही दरवाजे भी सुधार के खुल जाते हैं। अर्थात् हर आदमी बिना प्रतिबन्ध के, अपनी अपनी उन्नति—अपना अपना सुधार—कर सकता है। उत्तरोत्तर उत्कर्ष-साधक सिद्धान्त चाहे जिस रूप में हो—अर्थात् चाहे वह स्वाधीनता-प्रेम के रूप में हो, चाहे उन्नति-प्रेम या संशोधन-प्रेम के रूप में हो—उससे और रूढ़ि से कभी मेल नहीं हो सकता। उत्कर्षसाधक-सिद्धान्त और रूढ़ि की सत्ता में परस्पर विरोध बना ही रहेगा; उनका वैर-भाव कभी जाने का नहीं। इस सिद्धान्त से यदि और कुछ न होगा तो इतना तो जरूर ही होगा कि रूढ़ि-की सत्ता की वह कभी परवा न करेगा; उसके बन्धन से वह जरूर छूट जायगा। मनुष्य-जाति के इतिहास में उत्कर्ष-प्रेम और रूढ़ि-प्राबल्य का पारस्परिक विरोध ही सब से अधिक ध्यान में रखने लायक बात है। सच पूछिये तो दुनिया के आधे से अधिक हिस्से का कोई इतिहास ही नहीं है; क्योंकि वहां रूढ़ि के प्राबल्य—रूढ़ि के जुल्मका ही पूरे तौर पर राज्य है। दुनिया क पूर्वी हिस्से में यही दशा है। वहां हर बात में आदमियों को रूढ़ि ही की शरण जाना पड़ता है। रूढ़ि ही उनकी हाईकोर्ट है। इन्साफ और हक का अर्थ भी लोग वहां रूढ़िही को मानते हैं। बल और अधिकार से उन्मत्त हुए एक आध राजाको छोड़ कर और आदमी रूढ़ि की सत्ता को रोकने के लिए कुछ भी कहने का इरादा तक नहीं करते। इसका जो फल हुआ है वह आंख के सामने है। इन देशों में किसी समय प्रतिभा का जरूर वास था।

इनमें अपूर्वकल्पना-शक्ति जरूर ही रही होगी। क्योंकि बड़े बड़े शहरों में रहनेवाले और अनेक प्रकार की विद्याओं और कलाकुशलताओं में प्रवीणता प्राप्त करनेवाले इन देशों के निवासी पाताल से एक दम नहीं निकल आये। इन सब गुणों को उन्होंने खुद ही प्राप्त किया था। इसीसे पुराने जमाने में ये देश, सारी दुनिया में, अत्यन्त प्रबल और अत्यन्त उन्नत थे। परन्तु अब उनकी क्या हालत है? जिस समय उनके पूर्वज बड़े बड़े महलों में रहते और विशाल से भी विशाल मन्दिरों की प्रतिष्ठा करते थे, उस समय जिनके पूर्वज जंगलों में मारे मारे फिरते थे, उन्हींकी वे अब ताबेदारी करते हैं; उन्हींका वे अब आसरा रखते हैं; उन्हींकी वे रिआया बने हैं। यह हुआ, कैसे? यह इस तरह हुआ कि जो लोग आज कल इतने प्रबल और इतने प्रभुताशाली हैं उनके पूर्वज अकेली रूढ़ि के ही दास न थे। सुधार और स्वाधीनता को भी वे कुछ समझते थे। कभी कभी ऐसा होता है कि एक आध देश, कुछ काल तक, बराबर उन्नति करता जाता है और फिर वह एक दम जहां का तहां रह जाता है; अर्थात् उसकी उन्नति वहीं रुक जाती है। यह बात होती कब है? यह तब होती है जब व्यक्ति-विशेषता नहीं रहती; अर्थात् जैसे ही व्यक्ति वैलक्षण्य को लोग भूलते हैं तैसे ही उनकी उन्नति रुक जाती है। यदि योरप के देशों को भी ऐसी ही दशा प्राप्त हो तो वह ठीक उसी तरह की न होगी जिस तरह की पूर्वी देशों को प्राप्त हुई है। उसमें कुछ भेद होगा; क्योंकि रूढ़ि की सत्ता, जिससे योरप के पीड़ित होने का डर है, निश्चल रूप में न होगी। रूढ़ि की सत्ता जैसे पूर्वी देशों में निश्चल रूप से अकण्टक राज्य कर रही है वैसे ही वह योरपके देशों में न कर सकेगी। इसका कारण यह है कि रूढ़ि की प्रबल सत्ता यद्यपि व्यक्ति-विशेषता के प्रतिकूल है तथापि वह अवस्थान्तर करने के प्रतिकूल नहीं। वह एक अवस्था से दूसरी को प्राप्त होनेमें रुकावट नहीं पैदा करती। पर एक बात यह है कि सब आदमियों को एक ही साथ अवस्थान्तर करना चाहिए। हम लोगों ने अपने पूर्वजों की पसन्द की हुई पोशाक पहनना छोड़ दिया; तथापि सब आदमियों को एक ही सी पोशाक पहनना पड़ता है। हां, यदि, साल में दो दफे पोशाक का फैशन—पोशाक का तर्ज—बदला जाय तो कोई हर्ज की बात नहीं समझी जाती। बात यह है कि जब कभी हम कोई अवस्थान्तर करते हैं तब केवल अवस्थान्तर के खयाल से करते हैं; सुभीते या खूबसूरती

के खयाल से कभी नहीं करते। क्योंकि एक ही तरह के सुभीते और एक ही तरह की खूबसूरती के खयाल का एक ही साथ दुनिया भर के मन में आना भी सम्भव नहीं और एक ही साथ उसका चला जाना भी सम्भव नहीं। परन्तु हम लोग अवस्थान्तरशील भी हैं और साथ ही उसके उन्नतिशील भी हैं। अर्थात् जैसे हम लोग फेर फार, परिवर्तन या अवस्थान्तर के लिए उन्मुख रहते हैं वैसे ही उन्नति और सुधार के लिए भी रहते हैं। अनेक तरह की कलों के सम्बन्ध में हम लोग जैसे नई नई बातें, समय समय पर, निकाला करते हैं और जब तक उनसे भी अच्छी बातों का कोई पता नहीं लगता तब तक हम उनको नहीं छोड़ते, वैसे ही राजनीति और शिक्षा में सुधार करने की इच्छा भी हमारे मन में हमेशा बनी रहती है। साधारण नीति और व्यवहार की बातों में भी हम सुधार चाहते हैं; पर भेद इस विषय में इतना ही है कि समझा बुझा कर, या जबरदस्ती करके दूसरों से हम अपनासा व्यवहार कराते हैं। व्यवहारनीति में सुधार की मुख्य कल्पना हम लोगों के दिल में ऐसी ही हो रही है। हम यह नहीं चाहते कि सुधार न हो, उन्नति न हो, तरक्की न हो। उलटा हम इस बात की शेखी मारते हैं कि आज तक दुनिया में जितने समाज-संशोधक हो गये हैं उन सब में हमी सब से बढ़कर हैं। हमारा जितना टण्टा-बखेड़ा है सब व्यक्ति-विलक्षणता के प्रतिकूल है; जितना विरोध है सब व्यक्ति-विशेषता से है; और किसीसे नहीं। यदि सब आदमियों को हम एकसा कर दें; यदि सब को हम एक ही सांचे मे ढालसा दें; तो हमें जरूर यह खयाल हो कि हमने कोई अद्भुत काम कर डाला। पर इस बात को हम भूल गये हैं कि चाल-ढाल और व्यवहार-बर्ताव में यदि एक आदमी दूसरे से भिन्न होगा तभी हम इस बात को जान सकेंगे कि हमारे व्यवहार में किस बात की कमी है और दूसरे के व्यवहार में कौनसी बात सीखने लायक है; अथवा दोनों की अच्छी अच्छी बातें लेकर एक नये ही प्रकार के, उन दोनों से अच्छे बर्ताव का नमूना किस तरह बन सकेगा। बिना इसके इन बातों की तरफ आदमी का ध्यान ही न जायगा। इस विषय में भूल करने का जो परिणाम होता है उसे हम चीन में देख रहे हैं। उसका उदाहरण हमारी आंखों के सामने है। चीन को विलक्षण सौभाग्यवान् समझना चाहिए जो वहां पुराने जमाने में बहुत अच्छी अच्छी अच्छी रीतियां प्रचलित

हो गई । इसीसे उसमें अब तक बहुत कुछ बुद्धिमानी और शक्ति बनी हुई है । जिन लोगों ने ऐसे रीति-रवाज जारी किये वे कुछ को छोड़ कर और सब बातों में, साधु और तत्त्वदर्शी कहलाए जाने के पात्र हैं । अत्यन्त सभ्य योरपवासी तक उनको इस पदवी के योग्य समझते हैं । उन में सब से अधिक ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि जो कुछ वे जानते हैं—जितना ज्ञान उनमें है—उस सब को वे समाज के प्रत्येक आदमी को प्राप्त कराने के लिए यथा-सम्भव प्रयत्न करते हैं। उनका यह प्रयत्न तारीफ के लायक है । जो लोग सब से अधिक विद्वान् होते हैं उन्हींको वे मान और अधिकार के काम देते हैं । जितने लोगों ने यह सब किया उनकी समझ में आदमियों की उन्नति का भेद—उसका मूलमन्त्र—अवश्य ही आजाना चाहिए था और दुनिया में सब तरह की उन्नतियों का उन्हें अगुवा होना चाहिए था । पर बात इसकी उलटी हुई । उलटी उन्नति रुक गई; वह जहां थी वहीं रह गई और हजारों वर्ष से वहीं ठहरी हुई है । और यदि अब कभी उनकी उन्नति होगी तो दूसरे देशवालों के ही हाथ से होगी । जिस काम के लिए इंगलैण्ड के लोकहितवादी इतना परिश्रम उठा रहे हैं उसमें चीनवालों ने उम्मेद से बाहर कामयाबी हासिल कर ली है—आशातिरिक्त सफलता पाई है । उन्हों ने सब आदमियों को एकसा कर दिया है; सब को एक ही सांचे में ढालसा दिया है । सब लोगों के विचार और व्यवहार एक ही प्रकार के नियमों और एक ही प्रकार की शास्त्रीय आज्ञाओं से उन्होंने बांध डाले हैं । उनकी वर्तमान अवस्था इसी का फल है । चीन की शिक्षा और राजनीति ने जिस बात को सुव्यवस्थित रीति पर कर दिखाया है वही बात समाज की राय के जोर पर, इस देश में, आज कल, अव्यवस्थित रीति पर हो रही है। यदि व्यक्ति-विशेष, अर्थात् अलग अलग हर आदमी, सामाजिक राय के इस बन्धन को तोड़ डालने में अच्छी तरह कामयाब न होगा, तो जिस योरप का पुराना इतिहास इतने महत्त्व का है, और जिसमें लोगों को क्रिश्चियन-धर्म्म-सम्बन्धी इतना घमण्ड है, वही योरप दूसरा चीन बनने की तैयारी करेगा ।

किस बात ने योरप को इस दुर्दशा से बचाया ? इसका कारण क्या है कि योरप अब तक चीन नहीं हो गया ? क्या बात है जो योरप के देश उन्नति करते चले गये ? उनकी उन्नति रुक क्यों न गई ? कुछ दूर जाकर वह बन्द

क्यों न हो गई ? योरपवालों में कोई सर्वोत्तम बात नहीं है। क्योंकि सर्वोत्तमता जहां कही होती है कार्य के रूप में होती है, कारण के रूप में नहीं। वह आप ही आप नहीं पैदा होती; प्रयत्न करने से मिलती है। अतएव उनके उन्नतिशील होने का कारण आप ही आप उत्पन्न हुई उत्तमता नहीं है। उसका कारण है उनके स्वभाव और उनकी शिक्षा की विलक्षणता। जितने आदमी हैं, जितने जन-समूह हैं, और जितने देश हैं सब एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। उन्होंने एक दूसरे से भिन्न सैकड़ों नये नये रास्ते निकाले हैं और उन सब से उन्होंने थोड़ा बहुत फायदा भी उठाया है। यद्यपि, हर समय में, अपने निकाले हुए रास्ते से जानेवाले लोग, दूसरों को बिलकुल नहीं देख सकते थे; और यद्यपि हर आदमी यही समझता था कि जो और लोग भी उसीके रास्ते से चलें तो बहुत ही अच्छा हो; तो भी परस्पर एक दूसरे की उन्नति में बाधा डालने के इरादे से किये गये यत्नों में उन लोगों को चिरकाल तक रहनेवाली कामयाबी नहीं हुई; और एक दूसरे के निकाले हुए रास्ते पर चल कर परस्पर फायदा उठाने के लिए सब लोग कुछ समय तक जिन्दा रहे। मेरी राय में सब तरह की वर्द्धमान उन्नति के लिए योरप इसी मार्ग-बहुलता का ऋणी है। अर्थात् नीति और व्यवहार आदि से सम्बन्ध रखनेवाले जुदा जुदा तरीके यदि लोग न निकालते तो उस की कदापि इतनी उन्नति न होती। पर अब ये बातें कम हो चली हैं। नये नये रास्तों का निकलना, नई नई रीतियों का प्रचलित होना, अब बन्द हो चला है। रुचिविचित्रता में तो वह अपना कदम पीछे रख रहा है; पर चीनियों की तरह सब आदमियों को एक ही सांचें में ढालने की तरफ वह अपना कदम खूब आगे बढ़ा रहा है। फ्रांस में डी० टाकेह्वेली * नाम का एक

---

* फ्रांस में डी० टाकेह्वेली का जन्म १८०५ में और मरण १८५९ ईसवी में हुआ। २० वर्ष की उम्र में वह बैरिस्टर हुआ और २१ में न्यायाधीश। एक दफे गवर्नमेण्ट के हुक्म से वह अमेरिका गया। वहां उसने अमेरिका के जेलखानों की व्यवस्था देखी और उस पर एक रिपोर्ट लिखकर गवर्नमेन्ट को दी। इसी लिए वह अमेरिका भेजा गया था। इसके बाद उसने अमेरिका की लोकसत्तात्मक राज्यव्यवस्था पर एक बहुत अच्छी पुस्तक लिखी। १८३९ में वह फ्रांस की प्रतिनिधि-सभा का सभासद हुआ। जब लुई नेपोलियन ने फ्रांस

प्रसिद्ध ग्रन्थकार हो गया है। वह अपनी सब से पिछली और सब से अधिक महत्त्व की पुस्तक में लिखता है कि फ्रांसवालों में परस्पर जितना सादृश्य गत पीढ़ी में था उसकी अपेक्षा वर्तमान पीढ़ी में बहुत बढ़ गया है। वही बात हम लोगों, अर्थात् इंगलैंडवालों, के विषय में भी कही जा सकती है और फ्रांस की अपेक्षा बहुत विशेषता के साथ कही जा सकती है। ऊपर एक जगह पर मैंने हम्बोल्ट की किताब से कुछ लिखा है। उसमें वह कहता है कि मनुष्य मात्र की उन्नति के लिए सब लोगों को एक दूसरे से भिन्न, अर्थात् परस्पर असदृश, होना चाहिए। इसके लिए स्वाधीनता और स्थिति या अवस्था की विचित्रता दरकार है। इनमें से दूसरी बात, स्थिति-विचित्रता, इस देश में दिनों दिन कम होती जाती है। भिन्न भिन्न आदमियों और भिन्न भिन्न समाजों से जो बातें सम्बन्ध रखती हैं, और जो उन सब के स्वभाव को एक खास तरह का कर देती हैं वे, दिनों दिन एक तरह की होती जाती हैं; अर्थात् उनकी भिन्नता—उनकी असदृशता—कम होती जाती है। पहले जुदे जुदे दरजे के आदमी, जुदे जुदे पड़ोस में रहनेवाले पड़ोसी, जुदे जुदे व्यापार करनेवाले व्यापारी मानों जुदी जुदी दुनिया में रहते थे। पर अब वह बात नहीं है। अब वे बहुत करके एक ही तरह की दुनिया में रहते से हैं। पहले और आज कल के जमाने का मुकाबला करने पर यह कहना पड़ता है कि इस समय सब लोग एक ही तरह की किताबें पढ़ते हैं; एक ही तरह की बातें सुनते हैं; एक ही तरह की चीजें देखते हैं; एक ही वस्तु की तरफ अपनी उम्मेद और नाउम्मेदी को ले जाते हैं; एक ही प्रकार के हक और एक ही तरह की आजादी रखते हैं; और एक ही तरीके से उन्हें जाहिर भी करते हैं। जितनी भिन्नता अभी बाकी है उतनी यद्यपि थोड़ी नहीं है तथापि जितनी जाती रही है उसकी अपेक्षा वह बहुत कम है। अर्थात् जिन बातों में भिन्नता रह गई है वे बातें उनकी अपेक्षा कम हैं जिनमें वह नहीं रह गई। फिर यह स्थिति—यह दशा—यह हालत—यहां

की राज-सत्ता अपने हाथ में ली तब टाकेव्हेली जेल में था। कुछ दिनों बाद वह छूटा और अपनी बाकी उम्र उसने ग्रंथ लिखने में बिताई। "फ्रांस की पुरानी राज्य पद्धति और नई राज्यक्रान्ति" नाम का एक बहुत बड़ा ग्रंथ उसने लिखा है। यही उसकी पिछली पुस्तक है।

तक पहुँच कर नहीं रह गई। वह बराबर आगे बढ़ती ही जा रही है; अर्थात् भिन्नता दिनों दिन क्षीण होती जाती है और अनुरूपता दिनों दिन बढ़ती ही जाती है। एक बात और है। वह यह है कि इस समय की राजनीति में जो फेरफार हो रहे हैं वे भी अनुरूपता के बढ़ानेवाले हैं। क्योंकि आज कल की राजनीति का झुकाव ऊंचे दरजे के आदमियों को नीचा और नीचे दरजेवालों को ऊंचा बनाकर परस्पर सदृशता करने ही की तरफ अधिक है। जैसे जैसे शिक्षा की वृद्धि होती जाती है तैसे तैसे आदमियों में सदृशता की भी वृद्धि होती जाती है। भिन्नता का नाश करने में शिक्षा भी खूब मदत दे रही है। क्योंकि शिक्षा का असर सब लोगों पर बराबर पड़ता है और उसके द्वारा सब तरह की बातों और सब तरह के विचारों का भाण्डार भी सब के लिए एकसा खुल जाता है। रेल और धुवांकश आदि, आने जाने के साधनों, में उन्नति होने से भी सदृशता की उन्नति हो रही है। क्योंकि उनके द्वारा दूर दूर देशों के आदमी अधिक आते जाते हैं और आपस में एक दूसरे से अधिक मिलते रहते हैं; यहां तक कि एक देश को छोड़कर दूसरे देशको, वहीं रहने के इरादे से, वे बराबर जा रहे हैं। व्यापार और कारीगरी से भी अनुरूपता की खूब उन्नति हो रही है। क्योंकि सुख—साधन, अर्थात् आराम से रहने, का फायदा सब को बराबर पहुँच रहा है और हर विषय में—चाहे वह जितना बड़ा हो—अपनी अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने के लिए चढ़ा ऊपरी करना सबको एकसा सुलभ हो रहा है। इससे क्या हुआ है कि अपनी उन्नति करने की इच्छा अब किसी एक ही वर्ग सम्प्रदाय या जन-समूह का मनोधर्म्म नहीं है; किन्तु वह सबका एकसा मनोधर्म्म हो रहा है। जितने आदमी हैं सबको एकसा कर डालने; सबको एक सांचे में ढालने, सबकी भिन्नता का नाश करदेने, के ये जितने कारण हैं इन सबसे भी अधिक बलवान् कारण, इसमें और दूसरे स्वाधीन देशों में भी, राजकीय बातों में सार्वजनिक मत की प्रबलता की नीव पर खूब दृढ़ता से स्थापित की हुई राजकीय पद्धति आदमियों के सादृश्य को सबसे अधिक बढ़ाती है। आज कल समाज के वे ऊंचे ऊंचे स्थान, जिनके ऊपर निर्भयता-पूर्वक खड़े होकर समाज के मतों की लोग अवहेलना कर सकते थे, गिर गिर कर चौरस होते जाते हैं। इस समय इस बात के अच्छी तरह मालूम हो जाने पर कि किसी विषय में समाज की क्या राय है, राजनैतिक पुरुषों के

मन से उस राय के खिलाफ बर्ताव करने का खयाल तक दूर होता जाता है। जैसे जैसे ये बातें होती जाती हैं वैसे ही वैसे समाज की राय के खिलाफ बर्ताव करनेवालों का सामाजिक आधार भी कम होता जाता है; अर्थात् जन-समूह को न बढ़ने देने की इच्छा रखनेवाला, और अपनी मति और प्रवृत्ति के प्रतिकूल बर्ताव करनेवालों को आश्रय देनेवाला, प्रभाव या बल, जो अब तक समाज में था, नाश हो रहा है।

ये सब कारण मिलकर व्यक्ति-विशेषता का इतना अधिक विरोध करते हैं—उससे इतनी अधिक प्रतिकूलता करते हैं—कि यह बात समझ ही में नहीं आती कि किस तरह वह अपनी जगह पर कायम रह सकती है या किस तरह वह नष्ट होने से बच सकती है। समाज के समझदार आदमियों को व्यक्ति-विलक्षणता की कीमत जब तक अच्छी तरह न समझा दी जायगी, अर्थात् यदि उनके मन में यह बात न भर दी जायगी कि भिन्नता का होना बहुत अच्छा है—चाहे भिन्नता से कोई लाभ न हो; चाहे उससे उनकी समझ में हानि भी हो—तब तक बेचारी व्यक्ति-विशेषता नाश होने से न बचेगी; तब तक उसे अपनी जगह पर कायम रहने के लिए और भी अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यदि किसी व्यक्ति को, यदि किसी आदमी को, अपना हक या स्वत्त्व स्थापित करना हो तो उसे अभी करना चाहिए। इस काम के लिए यही उचित समय है। क्योंकि सब लोगों को एक ही सांचे में ढालने का प्रयत्न इस समय समाज कर रहा है वह अभी पूरा नहीं हुआ—अभी उसमें दृढ़ता नहीं आई। व्यक्ति-विशेषता पर समाज की जो यह जबरदस्ती हो रही है उससे मल्लयुद्ध करने के लिए शुरू में ही तैयार होना चाहिए। तभी कामयाबी की जा सकती है। आदमियों की यह सख्ती कि जिस तरह का बर्ताव हम करते हैं उसी तरह का सब लोगों को करना चाहिए, जितनी अधिक सहन की जायगी उतनी ही अधिक वह बढ़ेगी। सब लोगों के आचार, विचार और व्यवहार जब प्रायः एक से हो जायँगे तब यदि उस अन्याय का विरोध किया जायगा तो लोगों को वह विरोध अधार्मिक, अनीति-सङ्गत, प्रकृति-विरुद्ध ही नहीं, पैशाचिक तक मालूम होने लगेगा। अर्थात् जब सब के आचार और व्यवहार के नमूने एक से हो जायँगे तब जो लोग उन नमूनों से जरा भी इधर उधर हटेंगे वे धर्म्म-

हीन, नीतिहीन और राक्षस माने जायंगे। क्योंकि किसी रूढ़ि, किसी रीति, के दृढ़ हो जाने पर वह वेद-वाक्य समझी जाने लगती है। भिन्नता या व्यक्तिगत-विलक्षणता को देखने की आदत कुछ समय तक छूट जाने से लोग उसकी कल्पना तक करना भूल जाते हैं; उसका विचार तक उनके मन में नहीं आता; वे उसकी भावना तक करने में बहुत जल्द असमर्थ हो जाते हैं।

चौथा अध्याय ।

व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा ।

अच्छा, तो अपने ऊपर हर आदमीकी—हर व्यक्तिकी—हुकूमत की उचित हद कौनसी है ? समाज की हुकूमत शुरू किस जगह होती है ? आदमी के जीवन का कितना हिस्सा समाज को देना चाहिए और कितना अलग अलग हर आदमी को ? इसका उत्तर यह है कि जिस हिस्से का समाज से अधिक सम्बन्ध है वह समाज को और जिसका व्यक्तिसे अधिक सम्बन्ध है वह व्यक्ति को यदि मिले तो बांट ठीक हो; तो जो जितने का हकदार है उसे उतना मिल जाय। हर आदमी के कब्जे में जीवन का वह हिस्सा रहना चाहिए जिसके हानि-लाभ का वही बहुत करके जिम्मेदार है। और समाज के कब्जे में भी वही हिस्सा रहना चाहिए जो बहुत करके उसी के हित या अनहित से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् जिसकी जिम्मेदारी समाज ही के ऊपर रहती है।

समाज की स्थापना होने के पहले यद्यपि सब आदमियों ने कोई इकरारनामा नहीं लिखा; या सब आदमियों ने किसी दस्तावेज की रजिस्टरी नहीं कराई; और यद्यपि सामाजिक कर्तव्यों का निश्चय करने के इरादे से लिखे गये दस्तावेज से कोई लाभ होता भी नहीं है; तथापि हर आदमी का यह धर्म्म है कि वह समाज के साथ अच्छा बर्ताव करे, क्योंकि समाज उसकी रक्षा करता है। इस रक्षा का बदला अच्छे बर्ताव के रूप में देना हर आदमी का फर्ज है, धर्म्म है, कर्तव्य कर्म्म है। समाज में रह कर व्यक्ति के लिए यह निहायत जरूरी बात है कि वह औरों के साथ उचित व्यवहार करे, अर्थात् व्यवहार की जो मर्य्यादा बाँध दी

जाय उसके बाहर वह कदम न रक्खे। इस तरह के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली सब से पहली बात यह है कि आदमी परस्पर एक दूसरे को हानि न पहुंचावे। अथवा जो बातें कानून के रू या सब लोगों की सम्मति से हर आदमी का हक या सत्व मान ली गई हैं उनमें वह किसी तरह का विघ्न न डाले। व्यक्ति-विशेष के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी मुख्य बात यह है कि समाज या समाज के मेम्बरों को हानि और उपद्रव से बचाने के लिए जो मेहनत और खर्च पड़े उसका उचित हिस्सा हर आदमी अपने ऊपर ले। अर्थात् इस काम के लिए सब लोगों का यह कर्तव्य है कि वे अपने हिस्से की मेहनत और अपने हिस्से का खर्च भी दें। पर यहां इस बात का निश्चय मुनासिब तौर पर और नियमानुसार किया जाय कि हर आदमी से कितनी मेहनत और कितना खर्च लेना चाहिए। जो लोग इन शर्तों को पूरा न करेंगे, या जो इन शर्तों को पूरा करने से बचने की कोशिश करेंगे, उनसे उनको पूरा कराने का अधिकार समाज को होना बहुत मुनासिब है। आदमी की चाहे जितनी हानि हो समाज को उसकी कुछ परवा न करके, हर आदमी से इन शर्तों के अनुसार बर्त्ताव करना ही चाहिए। समाज को और भी अधिकार है। एक आध आदमी के हाथ से ऐसा काम होना भी सम्भव है जिससे दूसरों के उचित हक तो न मारे जायँगे, पर उनको या तो तकलीफ पहुँचेगी या उनके आराम की तरफ बेपरवाही होगी। इस हालत में, ऐसे आदमी को सजा देना यद्यपि कानून के अनुसार ठीक न होगा, तथापि सब आदमी अपनी राय जाहिर करके उसी राय के रूपमें यदि उसे सजा देगें तो वह सजा बहुत मुनासिब होगी। अर्थात् ऐसी हालत में यदि कानून का बस न चले तो समाज को चाहिए कि वह लानत मलामत करके—भला बुरा कहके—दूसरों के आराम में बाधा डालनेवाले को सजा दे। ज्यों ही किसीके बर्ताव, व्यवहार या काम से दूसरों की हानि होने लगे त्योंही समाज अपने अधिकार को काम में लावे। इस तरह हानि शुरू होते ही वह समाज की सत्ता के भीतर आ जाती है। अर्थात् जिसकी हानि हो उस को उस हानि से बचाना समाज का कर्तव्य हो जाता है। इस कारण समाजको फौरन ही उसकी रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। यहां पर यह बात पूछी जा सकती है कि इस तरह का प्रबन्ध करने में, अर्थात् हानि करनेवालों को रोकने में, सारे समाज का कल्याण होगा या नहीं। परन्तु जहां किसी के बर्ताव से दूसरों के कल्याण

की कोई हानि नहीं होती, अथवा यदि होती भी है तो उनकी सम्मति से होती है, वहां इस तरह का प्रश्न ही नहीं हो सकता। पर हां, जिन आदमियों का इस तरह के बर्ताव से सम्बन्ध हो, अर्थात् जो खुद सम्मति दें, या औरों से लें, उनका वयस्क और मामूली तौर पर सज्ञान होना बहुत जरूरी बात है। समाज और कानून दोनों को चाहिए कि इस तरह का बर्ताव करने और उसका जो परिणाम हो उसे भोगने के लिए वे हर आदमी को पूरी आजादी दें।

यदि कोई कहे कि यह सिद्धान्त स्वार्थ से भरा हुआ है; इसमें परोपकार की तरफ बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया गया; इससे यह भासित होता है कि आदमियों को एक दूसरे के बर्ताव से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है; और यदि अपने हित की कोई बात न हो तो परस्पर एक दूसरे के हित और सदाचार की तरफ ध्यान देने की कोई जरूरत नहीं है—तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल है। दूसरों के हित—दूसरों के कल्याण—की वृद्धि करने के लिए निस्वार्थ भाव से यत्न करने की बहुत बड़ी जरूरत है। ऐसे यत्न—ऐसे श्रम—को कम करने की अपेक्षा बढ़ाना चाहिए और खूब बढ़ाना चाहिए। परन्तु सब लोगों के मन को अपने अपने हित की तरफ प्रवृत्त करने की इच्छा यदि किसी उदार और निष्काम बुद्धि के आदमी के हृदय में उत्पन्न हो तो उसे सच्चे अथवा लाक्षणिक चाबुक को छोड़कर और उपायों से काम लेना चाहिए। यह नहीं कि हाथ हिलाने ही से वह इस काम को कर सके। और भी ऐसे साधन हैं जिनसे यह काम अच्छी तरह हो सकेगा। आदमी में खुद अपने हित के लिए जो सद्गुण होने चाहिए उनकी कीमत मैं कम नहीं समझता। दूसरों के हित के लिए जो सद्गुण होने चाहिए उनसे मैं इन व्यक्ति-विषयक गुणों की कीमत थोड़ी ही कम समझता हूं। मैं यह भी दृढ़ता से नहीं कह सकता कि इनकी कीमत थोड़ी भी कम है। मुमकिन है दोनों की कीमत बराबर हो। शिक्षा का काम है कि वह इन दोनों प्रकार के गुणों की उन्नति करे। अर्थात् लोगों को ऐसा शिक्षण मिले कि उनमें स्वार्थ और परार्थ दोनों गुणों की वृद्धि हो। पर शिक्षा भी दो तरीके से दी जाती है:—एक समझा बुझाकर और शिक्षा से जो लाभ होते हैं उन पर लोगों का विश्वास जमाकर; दूसरे जबरदस्ती से। शिक्षा प्राप्त करने की उम्र यदि निकल गई हो तो स्वार्थ और परार्थ से सम्बन्ध रखने-

वाले गुणों का उपदेश देने में पहले ही तरीके को काम में लाना चाहिए। भले-बुरे को पहचानने और बुरे को छोड़ कर भले का स्वीकार करने, के लिए आदमियों का यह कर्तव्य है कि वे परस्पर एक दूसरे की मदद करें। आदमियों का यह धर्म है कि, वे परस्पर एक दूसरे को यह उत्तेजना देते रहें कि अपने उच्च गुणों से अधिक काम लेना चाहिए, अपने विचारों और उद्देशों को बुरे और नीच विषयों की तरफ न जाने देना चाहिए, और अपने मन में किसी तरह की बुरी वासनाओं को न आने देना चाहिए। उनको चाहिए कि वे परस्पर यह उपदेश दें कि आदमी को अपने विचार और उद्देश हमेशा उदार और अच्छे कामों ही की तरफ लेजाना चाहिए; और जो वासनायें मन में पैदा हों उनको भी अच्छे और उदार कामों और विचारों की तरफ झुकाना चाहिए। परन्तु एक अथवा अनेक आदमियों को किसी दूसरे बयस्क आदमी से यह कहने का मजाज नहीं कि अपने लाभ के लिए अपने शरीर या जीवन का वह जैसा चाहे वैसा उपयोग न करने पावेगा। क्योंकि अपने हित—अपने लाभ—की सबसे अधिक परवा अपने ही को होती है। जहां बहुत ही अधिक प्रीति होती है वहां की बात छोड़ कर और सब कहीं अपने हित के लिए और लोग जितनी परवा करते हैं वह अपनी निज की परवा की अपेक्षा बहुत ही कम होती है। दूसरों से सम्बन्ध रखनेवाले बर्ताव को छोड़ कर अलग अलग हर आदमी में समाज का जो अंश रहता है वह नाम मात्र ही के लिए रहता है और बिलकुल ही अप्रत्यक्ष होता है—अर्थात् बाहर से देख ही नहीं पड़ता। परन्तु अपने मनोविकार और अपनी स्थिति को जानने के लिए एक बहुत ही मामूली समझ के पुरुष या स्त्री के पास जो साधन होते हैं वे; उनको जानने के लिए, दूसरे आदमियों के साधनों की अपेक्षा कहीं चढ़ कर होते हैं। अपने निज के काम काज के विषय में किसी की राय या इरादे में समाज यदि हाथ डालेगा तो सिर्फ अनुमान के आधार पर डालेगा—अर्थात् ऐसी दशा में जो कुछ समाज करेगा सिर्फ अटकल के बल पर करेगा। मुमकिन है इस तरह की अटकल बिलकुल ही गलत हो। और यदि वह सही भी हो तो मुमकिन है कि उसका जितना सदुपयोग किसीको हो उतना ही दुरुपयोग भी हो। क्योंकि समाज का सुधार करनेवाले जो लोग इस तरह की अटकल का उपयोग करेंगे, वे सिर्फ बाहर ही की बातों को जानकर करेंगे। वे उनको उतना ही जान सकेंगे जितना और

लोग दूर से देखकर जान सकते हैं। इस लिये आदमी के व्यवहारसम्बन्धी इस महकमे में व्यक्ति-विशेष ही को हुकूमत करने देना चाहिए। अर्थात् उसे आजादी मिलनी चाहिए कि जो उसे अच्छा लगे सो वह करे। परन्तु हां आदमी के जिन व्यवहारों से परस्पर एक दूसरे का सम्बन्ध है उनकी बात निराली है। उनके लिए ऐसे नियम बनाये जाने चाहिए जो बहुत करके सबके काम के हों और जिन्हें सब लोग बराबर मानें। ऐसा होने से हर आदमी को यह मालूम रहेगा कि औरों से वह किस तरह के बर्ताव की उम्मेद रख सकता है; परन्तु जहां सिर्फ एक ही आदमी का सम्बन्ध है वहां मुनासिब है कि उसे अपनी ही इच्छा के अनुसार काम करने की पूरी आजादी मिले। निर्णय करने में उसकी मदद के लिए दूसरे आदमी अपने विचार जाहिर कर सकते हैं; उसकी इच्छा को मजबूत करने के लिए और लोग उसे उपदेश दे सकते हैं; यहां तक कि और आदमी उससे आग्रह भी कर सकते हैं; परन्तु वे उसे मजबूर नहीं कर सकते। अपने निज के काम में हर आदमी अपना जज है; वह जैसा चाहे फैसला करे; उसमें दस्तन्दाजी करने का किसीको अख्तियार नहीं। दूसरोंके उपदेश और चेतावनी को न मानने से मुमकिन है किसी से गलतियां हों और उसे नुकसान उठाना पड़े। परन्तु दूसरे जिस काम को अच्छा समझते हैं उसे बलपूर्वक उससे कराने से जो नुकसान होगा वह इस नुकसान की अपेक्षा बहुत अधिक होगा।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि किसी आदमी को और लोग जैसा समझते हों, अर्थात् उसके विषय में औरों का जो खयाल हो उसे प्रकाशित करते समय उसके निज के गुण अथवा दोष वे न प्रकाशित करें। मैं यह नहीं कहता कि उसके गुण-दोषों से उत्पन्न हुए परिणामका जिक्र ही न किया जाय। यह हो भी नहीं सकता और यह मुनासिब भी नहीं। यदि किसी आदमी में कोई ऐसा सद्गुण हो जिससे उसके स्वार्थ की सिद्धि या वृद्धि होती हो और जिसके कारण वह प्रसिद्ध हो रहा हो तो उसकी प्रशंसा करना —उसे आश्चर्य की दृष्टि से देखना—बहुत उचित है। क्योंकि आदमी के स्वभाव की सबसे अधिक पूर्णता के वह उतना ही अधिक पास पहुँच गया है। स्वभाव की पूर्णता के लिए जो गुण दरकार होते हैं वे यदि उसमें बिलकुल ही नहीं हैं तो उसे देखकर देखनेवालों के मन में निन्दा करने की प्रवृत्ति का होना भी बहुत उचित है। सद्गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की

निन्दा अन्याय नहीं; वह सब तरह से न्याय-सङ्गत है। किसी किसी आदमी के बर्ताव में एक तरह की मूर्खता पाई जाती है। इन दुर्गुणों के कारण यद्यपि किसी को सजा देना उचित नहीं है; तथापि यह जरूर है कि उसे लोग पसन्द न करेंगे; कोई कोई तो उससे घृणा तक करने लगेंगे; अथवा उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखेंगे। यह स्वाभाविक बात है। यह होनी ही चाहिए। ऐसे दुर्गुणों को देख कर यदि किसी के मन में अरुचि, घृणा और तिरस्कार न पैदा हो तो समझना चाहिए कि उसमें सुरुचि, प्रीति और आदर नामक सद्गुणों की मात्रा कुछ कम है। अर्थात् जो आदमी किसी अरोचक, घृणित या तिरस्करणीय चीज को देखकर भी उसे वैसी नहीं समझता उसके विषय में यह कहना चाहिए कि उसे रोचकता, प्रीति और सम्मान का अच्छी तरह ज्ञान ही नहीं। क्योंकि यदि वह इन विरोधी गुणों को पूरे तौर पर जानता तो इन्हें वह काम में भी लाता। एक आध आदमी के बुरे बर्ताव से यद्यपि औरोंको विशेष हानि नहीं पहुंचती तथापि उससे यह जरूर सूचित होता है कि वह आदमी या तो मूर्ख है या नीच। इस तरह के निश्चय का कारण उसका बर्ताव ही होता है। वह बर्ताव मजबूर करता है कि लोग इस तरह का निश्चय करें। परन्तु जिसके विषय में लोग ऐसा निश्चय करते हैं वह इस बात को पसन्द नहीं करता। वह नहीं चाहता कि लोग उसे मूर्ख या नीच कहें। पर वह चाहे या न चाहे इस विषय की सूचना उसे पहले ही से जरूर दे देनी चाहिए—उसे पहले ही से जरूर सावधान कर देना चाहिए। किसी ऐसे काम को, जिसका परिणाम बुरा हो, करते देख किसीको रोक देने से जैसे उसका हित होता है वैसे ही मूर्खता या नीचता के बोधक बर्ताव की सूचना दे देने से भी हित होता है। आज कल शिष्टता और सभ्यताकी हद यहां तक बढ़ गई है कि इस तरह की सूचनाके द्वारा लोगों का बहुत कम हित किया जाता है। क्योंकि इस तरह की सूचना देने में लोग सङ्कोच करते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसा करने से लोग असभ्य, अशिष्ट और घमण्डी समझे जाते हैं। ऐसा न हो तो अच्छा। शालीनता और शिष्टता की जैसी कल्पना इस समय प्रचलित है वह बदल जाय तो इस तरह की सूचना से लोगों का अधिक कल्याण हो। यदि एक आदमी के विषयमें दूसरे आदमी की राय खराब हो तो उस दूसरे आदमी को अपनी राय के अनुसार, जिस तरह वह चाहे, बर्ताव करने का उसे अधिकार भी तो है। हर

आदमी को—हर व्यक्ति को—अपने निज के काम काज से सम्बन्ध रखने-वाली बातों पर पूरा अधिकार है। इस अधिकार को भी उसीके भीतर समझना चाहिए। पर, हां, यह याद रहे कि उससे दूसरे को किसी तरह की हानि न पहुंचे। उदाहरण के लिए किसी बुरे आदमी की सङ्गति करने के लिए कोई मजबूर नहीं किया जा सकता। उलटा उससे दूर रहने का सबको पूरा अधिकार है। पर उसके बुरेपन को—उससे दूर रहने के कारण को—सबके सामने जाहिर करने का किसी को अधिकार नहीं; क्योंकि इससे उसे दुःख होगा। सबको इस बात का हक है—सबको इस बात का अधि-कार है—कि जिनकी सङ्गति उन्हें सबसे अधिक पसन्द हो उन्हींके साथ वे बैठें उठें। यदि हमको यह मालूम हो जाय कि किसीके व्यवहार या भाषण का परिणाम, उसके साथ रहनेवालों पर, बुरा होता है तो हमको अधिकार है—अधिकार ही नहीं, किन्तु हमारा कर्तव्य भी है—कि हम उन लोगों को इस बातसे सावधान कर दें। और लोगों के द्वारा किये गये किसीके हित के कामों के सिवा, बाकी जितने अच्छे अच्छे काम हैं उन सबमें, उसे छोड़कर, औरों का साथ देने के लिए हमको पूरा अधिकार है। अर्थात् हमारा कर्तव्य है कि ऐसी हालत में हम उस अकेले आदमी की परवा न करके औरों के हित की वृद्धि करें। जिन दोषों से—जिन दुर्गुणों से—और किसीका सम्ब-न्ध है, अर्थात् जिनसे सिर्फ अपना ही सम्बन्ध है, उनके लिए भी ऊपर कहे गये अनेक प्रकार के दण्ड, अप्रत्यक्ष रीति से किसी किसी को सहन करने पड़ते हैं। परन्तु इस तरह के दण्ड भोगनेवाले को यह न समझना चाहिए कि किसी ने उसे दण्ड देने ही के इरादे से ऐसा किया है। उसे यह सम-झना चाहिए कि उसमें जो दुर्गुण हैं उनके आप ही आप पैदा होनेवाले, ये दण्डरूपी परिणाम हैं। जो आदमी सोच बिचाकर काम नहीं करता, जो वृथाभिमानी और हठी है, जो अपने आचरण को परिमित नहीं रखता, जो हानिकारक विषयोपभोग से अपने को नहीं बचाता और नैतिक सुखों की परवा न करके शारीरिक सुख को ही अपना सर्वस्व समझता है, उसे इस बात के सुनने को हमेशा तैयार रहना चाहिए कि दूसरों की निगाह में मैं उतरा हुआ हूं और दूसरे लोग मेरे विषय में जो राय रखते हैं वह मेरे बहुत कम अनुकूल है। इन बातों को बिना किसी शिकायत के उसे चुपचाप सुनना चाहिए। और शिकायत के लिए उसे जगह भी नहीं। हां, यदि वह

सामाजिक व्यवहारमें किसी तरह की योग्यता दिखा कर, अर्थात् जिन बातों से दूसरों का सम्बन्ध है उनमें अपनी उत्तमता या योग्यता का परिचय देकर दूसरों का कृपा का पात्र हो जाय तो बात दूसरी है। अन्यथा उसकी शिकायत नहीं चल सकती।

मेरा मत यह है—और इस मत को मैं आग्रह-पूर्वक प्रकट करता हूं—कि आदमी के जिस बर्ताव या चालचलन से सिर्फ उसीका सम्बन्ध है, अर्थात् दूसरों के साथ होनेवाले उसके बर्ताव से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है उस बर्ताव या चालचलन के लिए यदि उसे दण्ड देना है तो दूसरों के प्रतिकूल मत से उसका जो नुकसान होगा उसीको काफी दण्ड समझना चाहिए। तकलीफ, पीड़ा या असुविधा के रूप में जो यह दण्ड मिलेगा उसे दूसरों के मत का अंश समझना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि वह उस मत से अलग है। यह उन बातों से दूसरों की व्यवस्था हुई जिनसे दूसरों को हानि नहीं पहुंचती। पर जिन बातों से दूसरों को हानि पहुँचती है उनकी व्यवस्था बिलकुल ही जुदी है। उनके लिए और तरह के दण्ड हैं। दूसरों के हक छीन लेने या उनमें बाधा डालने के लिए; जिस तरह के नुकसान पहुंचाने का हक नहीं है उस तरह के नुकसान दूसरों को पहुँचाने के लिए; दूसरों के साथ झूठ या छल-कपट का व्यवहार करने के लिए; अधिकार या अधिक अच्छी स्थिति के बल पर दूसरों के साथ अन्याय-सङ्गत और अनुदार बर्ताव करने के लिए-और दूसरों को तकलीफ पाते देख, स्वार्थ के वश होकर, उन्हें उससे न बचाने के लिए; नीति की दृष्टि से निर्भर्त्सना करना, और भयङ्कर प्रसङ्ग आने पर प्रायश्चित्त कराना या और कोई कड़ा दण्ड देना भी मुनासिब होगा। इतनी ही बातों को नीति-विरुद्ध न समझना चाहिए; यह नहीं कि इन्हीं के लिए किसी को सजा दी जा सकती हो। नहीं। जिस स्वभाव, जिस प्रवृत्ति, जिस आदत की प्रेरणा से आदमी इस तरह के अनुचित काम करता है उसे भी नीतिविरुद्ध समझना चाहिए। अतएव उसकी भी निन्दा करना चाहिए, और कोई विशेष गहरा प्रसङ्ग आने पर, घृणा या तिरस्कार भी प्रकट करना चाहिए। स्वाभाविक निर्दयता; ईर्ष्या और दुःशीलता; समाज को सबसे अधिक हानि पहुंचानेवाले बुरे मनोविकारों का राजा मत्सर; दम्भ और कपट; अकारण क्रोध; कारण थोड़ा क्रोध बहुत, दूसरों पर सत्ता चलाने या दूसरों को प्रभुता दिखाने की कामना; सांसारिक सुखों का जितना अंश

न्याय से मिलना चाहिए उससे अधिक पाने की चेष्टा; दूसरों को नीच स्थिति में देखकर प्रसन्न होनेकी प्रवृत्ति; निजको और निजसे सम्बन्ध रखनेवाली बातों को सबसे अधिक महत्त्व देना; और सन्देह-पूर्ण प्रातिकूल बातों को अनुकूल बतलाने की स्वार्थबुद्धि—ये सभी बातें नीति की दृष्टि से दुर्गुण हैं। आदमी की नीति को ये दुर्गुण भ्रष्ट कर देते हैं। इनके कारण आदमी का स्वभाव बुरा और निंद्य हो जाता है। निजसे सम्बन्ध रखनेवाले जिस तरह के दोषों या दुर्गुणों का बयान ऊपर किया गया है उस तरह के दोष ये नहीं हैं। ये उनसे बिलकुल जुदा हैं। क्योंकि उनकी गिनती अनीति-गर्भित दोषों में नहीं हो सकती। बढ़ते बढ़ते वे चाहे जिस नौबत को पहुँच जाँय तथापि वे दुष्कर्म्म, दौरात्म्य, दुर्जनता या क्रूरता की परिभाषा के भीतर नहीं आसकते। पहले वर्णन किये गये दोष सिर्फ यह जाहिर करते हैं कि जिसमें वे हैं वह या तो मूर्ख है, या उसमें आत्माभिमान नहीं है, या वह अपने अधिकार की गुरुता को नहीं जानता। बस। पर जहां दूसरों के हित के लिए अपनी रक्षा करना आदमी के लिए जरूरी है, वहां यदि वह अपने परार्थ-विषयक कर्तव्य को पूरा नहीं करता तो नीति की दृष्टि से समाज उसकी निर्भर्त्सना कर सकता है। आदमी का जो आत्म कर्तव्य है, अर्थात् सिर्फ अपने हित के लिए आदमी को जो बातें करनी चाहिए; उन पर अपनी सत्ता चलाना समाज का कर्तव्य नहीं। ऐसे कर्तव्यों पर, ऐसी बातों पर, समाज का कुछ भी जोर नहीं। परन्तु यदि इन कर्तव्यों में, किसी कारण से, समाज के कर्तव्यों का भी कोई अन्तर्भाव हो जाय, अर्थात् एक ही साथ यदि उनका समाज से भी कोई सम्बन्ध सूचित हो, तो बात दूसरी है। इस दशामें समाज भी ऐसे कर्तव्यों का प्रातिबन्ध कर सकता है। आत्मकर्तव्य का मामूली अर्थ विचारशीलता या बुद्धिमानी है। जहां उसमें इससे अधिक अर्थ होता है वहां आत्मगौरव और आत्मोन्नति का अर्थ उससे निकलता है। इनमें से एक के लिए भी कोई आदमी किसी दूसरे के सामने जवाबदार नहीं। क्योंकि इन तीनों बातों में से एक भी ऐसी नहीं जिसे न करने से व्यक्ति को छोड़ कर संसार में और किसीकी कुछ भी हानि हो सके।

आत्मगौरव या बुद्धिमानी के न होने से आदमी की जो मुनासिब मान-हानि होती है उसमें, और दूसरों के हक में बाधा डालने से उसकी जो छी थू होती है उसमें, थोड़ा फरक नहीं है। यह न समझना चाहिए कि दोनों

में नाम मात्र ही के लिये फरक है। चाहे कोई आदमी हमको उन बातों के विषय में अप्रसन्न करे जिनमें दखल देना हम अपना हक समझते हैं, और चाहे उन बातों के विषय में जिनमें दखल देना हम अपना हक नहीं समझते, दोनों में फरक जरूर है और बहुत अधिकार फरक है। वह फरक हमारे मनोविकारोंमें होता है और ऐसे आदमी की तरफ हमारा जो कर्तव्य है उसमें भी होता है। यदि किसी आदमी ने हमको किसी ऐसी बात से अप्रसन्न किया जिसका सम्बन्ध सिर्फ उसीसे है, तो हम अपनी अप्रसन्नता जाहिर करेंगे और जैसे उस अप्रसन्नता-दायक बात से हम दूर रहेंगे वैसे ही उस आदमी से भी दूर रहेंगे। परन्तु इस बात के कारण हम उसे किसी तरह की तकलीफ पहुँचाना मुनासिब न समझेंगे। हमको उस समय यह खयाल होगा कि इसने जो भूल की है उसका पूरा फल यह भोग ही रहा है, अथवा यदि नहीं भोग रहा है तो कुछ दिनमें जरूर भोगेगा। यदि अव्यवस्था, अर्थात् बदइन्तजामी, के कारण वह अपनी जिन्दगी को खराब कर रहा होगा तो उसे देखकर हमारा जी कभी न चाहेगा कि हम उसे और भी अधिक हानि पहुंचावें और उसकी जिन्दगी को और भी अधिक खराब कर दें। उसे सजा देने की अपेक्षा यह जी चाहेगा कि जो सजा उसे मिल रही है उसे उलटा हम कम करने की कोशिश करें और उसकी बुरी आदतों से जो आपदायें उस पर आई हैं उनसे बचने की तरकीब उसे बतावें। उस पर दया आवेगी; उससे घृणा होगी; उसके पास बैठने या उससे बात चीत करने को जी न चाहेगा; परन्तु उस पर क्रोध न आवेगा और न उससे द्रोह करने ही को दिल गवाही देगा। उसे हम समाज का शत्रु न समझेंगे। अर्थात् समाज के शत्रुओं के साथ जैसा बर्ताव किया जाता है वैसा बर्ताव हम उसके साथ न करेंगे। और यदि उदार-भाव धारण करके हमने उसकी सहायता न की, या उसके हानि-लाभ का विचार न किया, तो भी जिस रास्ते वह जा रहा है उस रास्ते उसे चले जाने देंगे। हम सिर्फ तटस्थ रहेंगे। बस इतना ही करेंगे। इसके आगे हम और कुछ न करेंगे। हम उसके लिए यही सजा सब से कड़ी समझेंगे। परन्तु यदि उसी आदमी ने उन नियमों को भङ्ग किया—उन कायदों को तोड़ा—जो समाज की, या जिन आदमियों से समाज बना है उनमें से किसीकी, रक्षा के लिए बने हैं तो बात बिलकुल ही दूसरी तरह की हो जायगी; तो मामला बहुत सङ्गीन हो जायगा। इस

दशा में उसके दुराचार, उसके दुष्कृत्य, उसके बुरे बर्ताव का फल उसको नहीं किन्तु औरों को भोग करना पड़ेगा। इससे जिन लोगों के मेल से समाज बना है उन सबका रक्षक होने के कारण समाज को उससे बदला लेना पड़ेगा, और उस दण्ड को यथेष्ट कड़ा करने के लिए होशियार भी होना पड़ेगा। इस दशा में उस आदमी को हमारे, अर्थात् समाज के, इजलास में अपराधी की तरह हाजिर होना पड़ेगा। उस समय हमारा सिर्फ इतना ही कर्तव्य न होगा कि हम उसके अपराध का विचार करके अपना फैसला सुना दें। नहीं, अपने फैसले के अनुसार, चाहे जिस तरह से हो, उसे दंड देना भी हमारा कर्तव्य होगा। परन्तु यदि उसके दुष्कृत्य या बुरे बर्ताव का सम्बन्ध सिर्फ उसीसे है तो उसे किसी तरह की तकलीफ पहुँचाना—उसे किसी तरह का दंड देना—हमारा कर्तव्य नहीं। हां यदि हमने अपने निज के काम में किसी ऐसी स्वतंत्रता का उपयोग किया, जिसे उपयोग में लाने का उसे भी हमारा ही सा हक है, और यदि ऐसा करने से सहज ही उसकी कुछ हानि होगई तो उपाय नहीं। इसमें हमारा क्या दोष?

आदमी के आत्म-सम्बन्धीय बर्ताव और सामाजिक बर्ताव में जो फरक मैंने यहां पर दिखलाया उसे बहुत लोग न मानेंगे। वे यह सवाल करेंगे कि जिन आदमियों से समाज बना है उसमें से एक आदमी के बर्ताव का कोई हिस्सा दूसरे आदमियोंसे सम्बन्ध-हीन हो कैसे सकता है? अर्थात् यह सम्भव नहीं कि एक ही समाज के एक आदमी का बर्ताव उसी समाज के और आदमियों से कुछ भी सम्बन्ध न रक्खे। ऐसा एक भी आदमी नहीं जो दूसरों से बिलकुल ही अलग हो। यह कभी सम्भव नहीं कि कोई आदमी अपना बहुत सा नुकसान कर ले, या कोई ऐसा काम कर डाले जिसके कारण उसका रोज नुकसान होता रहे, और उससे उसके बहुत निकट के सम्बन्धियों की, और कभी कभी सम्बन्धियों के सिवा और लोगों की भी, कोई हानि न हो। यदि वह अपनी सम्पत्ति को बरबाद कर देगा तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से जिन लोगों को उससे मदद मिलती रही होगी उनकी जरूर हानि होगी। इस तरह की हानि से समाज के निर्वाह के जो साधन हैं उनमें थोड़ी बहुत कमी जरूर आ जायगी। यदि वह अपनी शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियों को बिगाड़ देगा तो सिर्फ उन्हीं लोगों की हानि न होगी जिनके सुख की थोड़ी भी सामग्री उसके ऊपर अवलंबित है किन्तु अपने

सजातियों के हित के लिए मामूली तौर पर उसके जो कर्तव्य हैं उनको करने के लिए भी वह अपने को नालायक बना लेगा। सम्भव है कि उसे अपने पालन पोषण का बोझ दूसरे लोगों की उदारता या स्नेहशीलता पर लादना पड़े—अर्थात् दूसरों का भिखारी बनना पड़े। यदि इस तरह की घटनायें बारबार होने लगेंगी तो जनसमुदाय के सुखसंचय को इतनी हानि होगी जितनी आज कल होने वाले और किसी बुरे बर्ताव या अपराध से नहीं होती। यदि कोई आदमी अपने दुराचरण या मूर्खता से दूसरों को, प्रत्यक्ष रीति पर हानि न भी पहुँचावे तो भी उसका उदाहरण जरूर अनिष्ट-कारक होगा। बहुत सम्भव है कि उसके बुरे बर्ताव को देखकर और लोग भी वैसा ही बर्ताव करने लगें। अतएव, उसके खराब चालचलन को देख कर या दूसरोंसे उसका बयान सुन कर, और लोगों को नीतिभ्रष्ट और कुमार्ग-गामी होने से बचाने के लिए उसका जरूर प्रतिबन्ध करना चाहिए। अर्थात् अपना चाल-चलन सुधारने के लिए उसे जरूर मजबूर करना चाहिए।

बहुत लोग यह भी कहेंगे कि यदि बुरे चाल-चलन का फल सिर्फ दुःशील, दुराचारी या विवेकहीन आदमी ही को भोगना पड़े तो क्या जो लोग अपना चाल-चलन खुद नहीं दुरुस्त कर सकते उनको समाज वैसे ही पड़ा रहने दे? क्या समाज ऐसे आदमियों की रक्षा न करे? बच्चों और नाबालिग आदमियों की रक्षा करना—उन्हें बुरे कामों से बचाना—सब को कुबूल है। इसमें कोई विवाद नहीं। तो बालिग होकर भी जो लोग खुद अपनी रक्षा नहीं कर सकते उनकी रक्षा करना—उन्हें सुमार्ग में लगाना—क्या समाज का काम नहीं? जुवा खेलना, शराब पीना, व्यभिचार करना, निरुद्योगी बैठे रहना, शरीर और कपड़े-लत्ते मैले रखना इत्यादि दोष उन बहुत से दोषों ही की तरह सुख का नाश करनेवाले और उन्नति में बाधा डालनेवाले हैं जिनकी कानून में मनाई है। तो, फिर, कानून के द्वारा ऐसी बातों के रोकने का यत्न क्यों न किया जाय? हां, इतना जरूर देख लेना होगा कि कानून से काम लेने में समाज को किसी तरह का असुभीता तो न होगा और अपेक्षित बातों का प्रतिबन्ध करने में कोई कठिनता तो न आवेगी, अर्थात् सिर्फ काम की सुगमता और समाज के सुभीते का विचार करना पड़ेगा। कानून के द्वारा यदि ये बुरी बातें नहीं रोकी जा सकतीं तो क्या कानून की अनिवार्य कमी को पूरा करने के लिए समाज का यह काम नहीं कि वह

लोकमत के बल पर उनको बन्द करने का कोई अच्छा प्रबन्ध करे, और जो लोग इस तरह के दुराचार करें उनको कड़ी सामाजिक सजा दे? सांसारिक जीवनके सम्बन्ध में नये नये और अद्भुत अद्भुत तजरुबे करने के यत्न में बाधा डालने, या व्यक्ति-विशेषता का नियमन करने, अर्थात् उसकी उचित स्वाधीनता को कम करने, की बात यहां नहीं चल सकती। क्योंकि जब से जगत् की उत्पत्ति हुई तब से आज तक जांच करने पर जो बातें बुरी सिद्ध हुई हैं सिर्फ उन्हींको रोकने से हमारा मतलब है। हम चाहते हैं कि सिर्फ उन्हीं बातों का प्रतिबन्ध किया जाय जो आज तक के तजरुबे से बुरी सिद्ध हो चुकी हैं और जो एक भी आदमी—एक भी व्यक्ति—के लिए उपयोगी या उचित नहीं हैं। समय और तजरुबे की कोई हद नियत करके उसके आगे किसी नीति या व्यवहार-ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली बात को सिद्ध समझ लेना मुनासिब है। अर्थात् किसी विषय में एक नियमित समय बीत जाने पर, और एक नियमित तरह का तजरुबा हो जाने पर, वह विषय ठीक मान लिया जा सकता है। जो प्रतिबन्ध हम चाहते हैं उसका उद्देश सिर्फ इतना ही है कि जिस कगार के ऊपर से गिरकर हमारे पूर्वज चूर हो गये उसी कगार से पुश्त दर पुश्त लोगों को गिरने से हम बचावें।

इस बात को मैं अच्छी तरह मानता हूं कि यदि कोई आदमी अपने बुरे बर्ताव से अपना नुकसान कर लेगा तो उससे, हमदर्दी के कारण, उसके निकट सम्बन्धियों का भी नुकसान होगा और समाज का भी। पर सम्बन्धियों का नुकसान अधिक होगा और समाज का कम। उनको जरूर बुरा लगेगा और उनके हित की हानि भी थोड़ी बहुत जरूर होगी। दूसरे आदमियों से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जिन को करना हर आदमी का कर्तव्य है। वे सब के करने लायक होती हैं; ऐसी नहीं होती कि कोई उन्हें कर न सकता हो। और वे छिपी भी नहीं होतीं; सब लोग उन्हें जानते हैं। यदि ऐसी बातों में से कोई बात किसी आदमी ने न की, तो उसका न करना निजसे सम्बन्ध रखनेवाले बर्ताव के भीतर नहीं आ सकता। ऐसी बात का अन्तर्भाव आत्मविषयक बर्ताव में नहीं हो सकता। वह उसके बाहर निकल जाता है। अतएव इस तरह का बर्ताव, नीति की नजर से घृणा, निन्दा या तिरस्कार का जो अर्थ होता है उसका पात्र होजाता है। एक उदाहरण लीजिए—कल्पना कीजिए कि संयम से न रहने और

फिजूलखर्ची करने के कारण कोई आदमी अपना कर्ज नहीं दे सका; या अपने कुटुम्ब के पालन-पोषण की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर भी, रुपया न रहने के कारण उसकी परवरिश अथवा उसकी शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सका; तो उसकी निर्भर्त्सना या निन्दा करना और कभी कभी उसे दंड भी देना बहुत मुनासिब होगा। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि ऐसी दशा में उसे जो दंड दिया जायगा वह संयम से न रहने और फिजूलखर्ची करने के लिए न दिया जायगा; किन्तु महाजनों का रुपया न देने और अपने कुटुम्ब की परवरिश न करने के लिए दिया जायगा। अर्थात् अपने महाजनों और कुटुम्ब के आदमियों के सम्बन्ध में उसका जो कर्तव्य था उसे पूरा न करने के लिए उसे सजा मिलेगी। जो रुपया उसे अपने महाजनों को देना और अपने कुटुम्ब के काम में लगाना था उसे यदि वह किसी और काम में लगा देता और वह काम चाहे जितना अच्छा क्यों न होता, तो भी उसका अपराध जरा भी कम न होता। उस दशा में भी वह जरूर दंड का पात्र होता। जार्ज बार्नव्यल ने अपनी रंडी को रुपये देने के लिए अपने चचा को मार डाला; परन्तु यदि उसने यह निंद्य काम कोई कारखाना खोलने या व्यापार करने के इरादे से किया होता, तो भी उसे फांसी ही मिलती। अकसर यह देखा जाता है कि दुर्व्यसनों, अर्थात् बुरी आदतों, के कारण कोई कोई आदमी अपने कुटुम्बवालों को तकलीफ पहुंचाते हैं। अतएव उनकी इस निर्दयता और कृतघ्नता के लिए उनकी निन्दा और निर्भर्त्सना करना जरूर ही मुनासिब है। परन्तु जिनके साथ ऐसे आदमी रहते हैं, या परस्पर सम्बन्ध के कारण जिनका सुख ऐसे आदमियों पर अवलम्बित रहता है, उनको यदि ऐसों की कोई आदतें हानि पहुंचावे—फिर चाहे वे आदतें बुरी न भी हों तो भी उन्हें वही दंड मिलना चाहिए। अर्थात् इस कारण भी उनकी निन्दा और निर्भर्त्सना होनी चाहिए। अपना काम करते समय जो आदमी दूसरों के हित और मनोविकारों की परवा नहीं करता उस की निन्दा समाज को करनी ही चाहिए। परन्तु यदि औरों के हित और मनोविकारों की अपेक्षा भी अधिक महत्व के किसी कर्तव्यका पालन उसे करना हो; अथवा, यदि औरों की अपेक्षा अपने हित और मनोविकारों की परवा न करना उसको अधिक मुनासिब हो, तो बात ही दूसरी है। इस दशा में वह निन्दा का पात्र नहीं हो सकता। पहली दशा में जिस कारण से उसने

दूसरों के हित की तरफ ध्यान न दिया होगा उस कारण के लिए भी उसकी निन्दा करना मुनासिब न होगा। और, निजकी जिन बातों की प्रेरणा से उसने इस तरह की गलती की होगी उनके लिए भी उसे निन्दा के रूप में दंड देना उचित न होगा। इसी तरह यदि कोई आदमी अपने निजके बर्ताव से अपनेको किसी ऐसे सार्वजनिक काम करने के अयोग्य कर लेता है, जिसे करना उसका धर्म्म है, तो वह समाज की दृष्टि में अपराधी, अतएव दंड पाने का पात्र, हो जाता है। शराब पीकर मत्त होने के लिए किसी को सजा देना मुनासिब नहीं। पर यदि पुलिस या फौज का कोई जवान शराब पीकर, सरकारी काम करते समय, मतवाला हो जाय तो उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए। सारांश यह कि जिस काम से किसी व्यक्ति या समाज की कोई निश्चित हानि होती है, या हानि होने का निश्चित डर रहता है, वह काम व्यक्ति-विषयक स्वाधीनता की हद के बाहर चला जाता है और कानून या नीति की हद के भीतर आजाता है। अर्थात् ऐसे काम का प्रतिबन्ध कानून या नीति के द्वारा होना चाहिए और उसके करनेवाले को कानून या नीति के ही द्वारा सजा मिलनी चाहिए।

परन्तु बहुत से काम ऐसे भी हैं जिनसे न तो कोई सार्वजनिक कर्तव्य बिगड़ता है और न, करनेवाले को छोड़कर, औरों की कोई प्रत्यक्ष हानि ही होती है। इस तरह के बर्ताव से—इस तरह के काम से—यदि भीतर ही भीतर समाज की कोई हानि, अप्रत्यक्ष रीति से, हो जाय तो समाज को चाहिए कि हर आदमी को दी गई स्वाधीनता से होनेवाले अधिक हित के विचार से वह उतनी हानि या तकलीफ बरदाश्त करे। वयस्क, अर्थात् बालिग, आदमियों को अपनी रक्षा न करने के लिए—अपने आत्म-सम्बन्धी कर्तव्यों की तरफ नजर न रखने के लिए—यदि दण्ड देने की जरूरत ही आपड़े, तो, मेरी राय में, इस तरह का दण्ड उन्हीं के फायदे के लिए देना चाहिए। जिन बातों के कराने का हक समाज को नहीं है, अथवा जिन बातों के कराने के विषय में समाज ने अपना हक नहीं जाहिर किया है, उनको करने के लायक अपनेको न रखने के बहाने ऐसे आदमियों को सजा देना मुनासिब नहीं। पर, सच पूछिए तो मुझे यह दलील ही कुबूल नहीं कि जो लोग मतलब भर के लिए ज्ञान नहीं रखते उनको उचित शिक्षा देकर व्यवहार-सम्बन्धी साधारण सज्ञान दशा को पहुँचाने के लिए समाज के पास कोई

साधन ही नहीं है। अतएव समाज को तब तक ठहरना चाहिए जब तक किसी आदमी से कोई गलती न हो। और जब गलती नजर में आजाय तब गलती करनेवाले को नीति या कानून की दृष्टि से समाज सजा दे। यह भी कोई दलील है? स्वाधीनतापूर्वक व्यवहार करने के योग्य उम्र होने के पहले भी सब आदमियों पर समाज की पूरी सत्ता रहती है। लड़कपन का सारा समय, और लड़कपन और बालिग होने के बीच का भी सारा समय, समाज के हाथ में रहता है। फिर, समाज इस दरमियान में क्यों न यह देख ले कि सब लोग बड़े होने पर उचित बर्ताव करने भर के लिए समझदार होंगे या नहीं? वर्तमान समय के आदमी अगली पुश्तवालों की शिक्षा के भी मालिक होते हैं और उनकी सब स्थितियों, अर्थात् अवस्थाओं, के भी मालिक होते हैं। सदाचरणशीलता और बुद्धिमानी आदि गुणों में आज कल के आदमी खुद ही बहुत पीछे हैं। तब वे किस तरह अगली पुश्तवालों को पूरे तौर पर सदाचारपरायण और बुद्धिमान बना सकेंगे? फिर यह भी नहीं कि अगली पुश्त को सुशिक्षित करने के लिए वे लोग जो उत्तम से उत्तम प्रयत्न करते हैं हमेशा सफल ही होते हों। कभी होते हैं, कभी नहीं होते। परन्तु एक बात निःसन्देह है। वह यह कि आज कल जो समाज अपनी सत्ता चला रहा है वह अगली पुश्त को अपने ही बराबर, अथवा अपने से कुछ अधिक, अच्छी करने की शक्ति जरूर रखता है। नादान बच्चे आगे की बातों का विचार करके युक्तिपूर्ण बर्ताव करने की शक्ति नहीं रखते। यदि समाज, जिन आदमियों से वह बना है उन में से बहुतों को, अज्ञान बच्चों की तरह बढ़ने दे, अर्थात् शिक्षा के द्वारा उनके ज्ञान को बढ़ाने का यत्न न करे, तो इसमें अपराध किसका है? खुद समाज ही का न? अतएव इस दुर्व्यवस्था का फल भी उसी को भोग करना पड़ेगा। लोगों को शिक्षा देने के लिए जितने साधनों की जरूरत रहती है वे सब समाज के हाथ में हैं। इतना ही नहीं, किन्तु जो लोग अपने हिताहित का विचार खुद नहीं कर सकते उनके ऊपर हुकूमत करनेवाली रूढ़, अर्थात् प्रचलित, बातों की सत्ता की डोरी भी समाज ही के हाथ में रहती है। फिर, जब कोई किसी तरह का दुराचार करता है तब उसकी जान-पहचान वाले उसे निन्दा, निर्भत्सना, तिरस्कार या धिक्कार के रूप में जरूर दण्ड देते हैं। इस स्वाभाविक या अनिवार्य दण्ड से वह नहीं बच सकता। यह दण्ड-दान भी, अपना काम अच्छी तरह करने

में, समाज को मदद देता है। इतनी हुकूमत करने पर भी—इतनी सत्ता हाथमें रखने पर भी—यह कहना समाजको हरगिज शोभा नहीं देता कि हमें आदमियों की उन खानगी बातों पर हुकूमत करने और अपने हुक्मों की तामील कराने का भी अधिकार मिलना चाहिए जिनके विषय में, न्याय और नीति के सब तत्त्वों की दृष्टि से, आखिरी निश्चय करना सिर्फ उन्हींके हाथ में होना मुनासिब है जिनको उन बातों का फल भोगना पड़ता है। आदमियों के आचरण को उन्नत करने के और अनेक अच्छे अच्छे साधनों के रहते भी जो लोग बुरे साधनों से काम लेना चाहते हैं वे अच्छे साधनों की उपयोगिता में भी सन्देह पैदा कर देते हैं। इससे बहुत हानि होती है और काम में बाधा आती है। जिन लोगों को समाज बलपूर्वक चतुर और संयमशील बनाने की कोशिश करेगा उनमें से यदि कोई स्वाधीन और उद्धत स्वभाव के होंगे तो वे समाज के इस अधिकार की धुरी को अपने कन्धे से दूर फेंक देने के इरादे से जरूर दंगा फसाद करेंगे। वे लोग इस बात को तो कुबूल करेंगे कि यदि वे दूसरों के कामकाज में दस्तंदाजी करके उन्हें हानि पहुँचावें तो उनका प्रतिबन्ध होना मुनासिब है; पर इस बात को वे कभी न कुबूल करेंगे कि अपने निजके कामों में भी अपनेको हानि पहुंचाने का उन्हें अधिकार नहीं है। अतएव यदि उनके निजके काम-काज में कोई दस्तंदाजी करेगा तो वे उस पर हमला करेंगे और जो वह कुछ करना चाहेगा उसका वे ठीक उलटा करेंगे—सो भी बड़े आडम्बर के साथ, चुपचाप नहीं। इस तरह का व्यवहार करना वे लोग तेजस्विता और बहादुरी का लक्षण समझेंगे। जिस समय इंग्लैण्ड की राजसत्ता ऑलिवर * क्रामवेल के हाथ में

* क्रामवेल इंग्लैण्ड में पारलियामेण्ट का एक सभासद था। वह प्युरिटन सम्प्रदाय का था। सादापन उसे बहुत पसन्द था। उस समय वहां का राजा पहला चार्लस था। उसका अन्याय लोगों को असह्य हो गया। इससे पारलियामेण्ट के सभासद बिगड़ खड़े हुए। विद्रोह हुआ। विद्रोह में क्रामवेल ने बड़ी बहादुरी दिखाई। उसकी बहुत प्रसिद्धि हुई। कई लड़ाइयां हुई। राजा हारा। १६४९ ई० में उसे फांसी हुई। तब इंग्लैण्ड में लोक-सत्ताक राज्य स्थापित हुआ और कुछ दिनों में क्रामवेल को रक्षक (Protector) की पदवी मिली। उसके समय में नाच, तमाशा और गाना-बजाना सब प्रायः बन्द था।

थी उस समय प्यूरिटन सम्प्रदाय वालों ने धर्म्मान्ध आदमियों की तरह नैतिक बातों में बहुत ही अधिक अनुदारता दिखाई। पर जब क्रामवेल के बाद दूसरा चार्ल्स इंग्लैण्ड का राजा हुआ तब लोगों ने बहुत ही बुरा, अर्थात् अशिष्टता का, बर्ताव करना शुरू किया। दुराचारी और विषयी आदमियों के उदाहरण से समाज की रक्षा करना बहुत जरूरी बात है। जो लोग यह कहते हैं वे बहुत सच कहते हैं। बुरे उदाहरण का फल हमेशा बुरा होता है, और दूसरोंको हानि पहुंचानेवालों को यदि सजा न मिले तो उनके उदाहरण का फल और भी बुरा होता है। पर, इस समय जिस तरह के बर्ताव की बात मैं कह रहा हूं उसके विषय में यह कल्पना करली गई है कि उससे दूसरों की हानि न होकर खुद उस बर्ताव के करनेवाले ही की विशेष हानि होती है। अतएव इस तरह के उदाहरण से दूसरों को हानि की अपेक्षा लाभ होने ही की अधिक सम्भावना रहती है। यह बात सहज ही ध्यान में आने लायक है। मैं नहीं जानता कि क्यों लोग इस बात को बिलकुल उलटा समझते हैं। क्योंकि जब किसी आदमी के बुरे बर्ताव का उदाहरण औरों को देखने को मिलता है तब उस बर्ताव के दुःखकारक और नीच परिणाम भी उन्हें देखने को मिलते हैं। और, इस तरह के बर्ताव की यदि समाज ने उचित निन्दा की तो इसके बुरे परिणाम जरूर ही लोगों की नजर में आते हैं। इसलिए, मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जिन बर्तावों को लोग खुद बर्ताव करनेवाले के लिए हानिकर समझते हैं, उन्हें वे दूसरों के लिए किस तरह अपायकारक बतलाते हैं। यदि उन्हें बर्ताव करनेवाले की हानि पर विश्वास है तो उन्हें दूसरों की हानि की सम्भावना अपने दिल से दूर कर देनी चाहिए।

किसी के निजके काम में दस्तंदाजी करना समाज को उचित नहीं। इस बात को सिद्ध करने के लिए सब से मजबूत दलील यह है कि जिसका जो काम है वही उसे अच्छी तरह कर सकता है। यदि दूसरा आदमी उस में दखल देता है तो उसका दखल देना उन्नीस बिस्वे बेजा होता है। सामा-

---

पर उसके बाद जब दूसरा चार्ल्स गद्दी पर बैठा तब सब बातें बदल गईं। जो बातें मना थीं वे होने लगीं और दुराचार की सीमा बेहद बढ़ गई। १६५८ में क्रामवेल का अन्त हुआ।

जिक नीति के विषय में, अर्थात् उन बातों के विषय में जो दूसरों से सम्बन्ध रखती हैं, बहुमत से निश्चित की गई समाज की राय जो दो एक दफे गलत होती है तो दस पांच दफे सही भी होती है। क्योंकि ऐसी दशा में समाज को सिर्फ अपने ही फायदे का खयाल रहता है। अर्थात् उसको सिर्फ इस बात पर ध्यान देना पड़ता है कि यदि अमुक बर्ताव करने की स्वतंत्रता लोगों को मिल जायगी तो उससे समाज की हानि होगी या लाभ। परन्तु आत्म-विषयक बातों में, अर्थात् उन बातों के विषय में जिनका सम्बन्ध दूसरों से नहीं है, यदि समाज, बहुमत के बल पर, दस्तंदाजी करेगा तो उससे भूल होने की उतनी ही सम्भावना है जितनी न होने की है। क्योंकि, इस दशा में, दूसरों के लिए कौन बात अच्छी है और कौन बुरी है, इस पर कुछ आदमियों की जो राय होगी वही समाज की राय समझी जायगी। समाज की राय का अधिक से अधिक इतना ही अर्थ हो सकेगा। परन्तु बहुत दफे समाज की राय का इतना भी अर्थ नहीं होता। क्योंकि सब लोग जिसके बर्ताव की निन्दा करते हैं उसके सुख और सुभीते की वे बिलकुल ही परवा नहीं करते। परवा वे सिर्फ अपनी करते हैं। वे सिर्फ इस बात को देखते हैं कि अमुक तरह का बर्ताव हमको पसन्द है या नहीं; या उससे हमारा फायदा है या नुकसान। बहुत से आदमी यह समझते हैं कि और लोगों के जो बर्ताव उनको पसन्द नहीं हैं उनसे उनकी जरूर हानि होगी। अतएव यदि कोई उस तरह का बर्ताव करता है तो वे, यह समझकर कि इसने हमारे मनोविकारों को चोट पहुँचाई, बेतरह बिगड़ खड़े होते हैं। एक धर्म्मान्ध आदमी से किसीने पूछा कि क्यों तूने दूसरों के धर्म्म-सम्बन्धी मनोविकारों की निन्दा करके उनके दिलको दुखाया? इसे सुनकर उसने कहा कि इन लोगों ने अपने गर्हित धर्म्म और पूजन-पाठ से मेरे दिल को दुखाया—इसी लिए मैंने ऐसा किया। यही दशा उन लोगों की है जो भिन्न मनोविकार रखनेवालों को नहीं देख सकते। पर इन लोगों के ध्यान में यह बात नहीं आती कि निजकी राय के विषय में किसीके जो मनोविकार होते हैं उनमें, और उस राय को बुरा समझनेवालों के मनोविकारों में जरा भी समता नहीं है। दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। रुपये की थैली उड़ा लेजाने की इच्छा रखनेवाले चोर के, और उसे बड़ी होशियारी से सन्दूक के भीतर रख छोड़ने की इच्छा रखनेवाले उसके मालिक

के, मनोविकारों में जितनी समता होती है उतनी ही समता इस तरह के मनोविकारों में भी होती है। जैसे लोग अपने रुपये पैसे की थैली, या अपनी राय, को कीमती समझते हैं वैसे ही वे अपनी रुचि को भी कीमती समझते हैं। जिस तरह उन्हें अपनी थैली या राय की परवा रहती है उसी तरह उन्हें अपनी रुचि की भी परवा रहती है। यहां पर शायद कोई यह कहे कि निज से सम्बन्ध रखनेवाली जिन बातों के अच्छे या बुरे होनेका निश्चय नहीं हुआ है उन्हें करने के लिए समाज यदि हर आदमी को स्वतंत्रता देदे, और जो बर्ताव या जो आचरण सब लोगों के तजरुबे से बुरे साबित हैं उन्हें करने से यदि वह मना कर दे; तो हानि क्या है? पर इस, तरह के नमूनेदार उत्तम समाज की कल्पना करना जितना सहज है उतना उसे ढूंढ़ निकालना या बना लेना सहज नहीं है। आज तक क्या किसीने इस तरह का कोई समाज देखा है जिसने सामाजिक-नियम-सम्बन्धी अपने अधिकार का पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिबन्ध किया हो? यह जाने दीजिए, सब लोगों के तजरुबे की परवा करनेवाले समाज का ही क्या कहीं पता है? समाज सब लोगों के तजरुबे की परवा करता कब है? आदमियों के निज के काम-काज में दस्तंदाजी करते समय समाज को मालूम होता है कि उसके विरुद्ध बर्ताव करना या जैसा आचरण उसे पसन्द नहीं है वैसा आचरण करना, मानो घोर पाप है। इसके सिवा और कोई विचार समाज के मन में नहीं आता। जितने तत्त्वज्ञानी और जितने नीति-शास्त्र के उपदेशक हैं उनमें से सैकड़ा नब्बे हेर-फेर कर यही बात कहते हैं। इस मत को उन्हों ने तत्त्वविद्या और धर्म्मशास्त्र की आज्ञा के नाम से सब लोगों के सामने रक्खा है। उनके उपदेश देने की रीति विलक्षण है। यदि उनसे कोई पूछता है कि आप अमुक बात को क्यों अच्छा समझते हैं, तो उसका जवाब वे यह देते हैं कि हम उसे इस लिए अच्छा समझते हैं क्योंकि वह अच्छी है अथवा वह हमें अच्छी मालूम होती है। ऐसे लोग हम से कहते हैं कि आचरण-सम्बन्धी नियमों को, जो तुम्हारे भी काम के हों और दूसरों के भी, तुम अपनेही मन से ढूंढ़ निकालो; उनका पता तुम अपने ही अन्तःकरण के भीतर लगाओ। इस तरह के उपदेशों के अनुसार जो भली या बुरी बातें समाज को पसन्द आती हैं उन्हींको वह, बहुमत के आधार पर, दुनिया भर के ऊपर लादता है। इसके सिवा वह बेचारा और कर ही क्या सकता है?

इस अनिष्ट को कल्पना न समझिए। यह न समझिए कि यह हानिकारक रीति कहने ही भर को है। कोई शायद मुझ से यह उम्मेद करे कि मैं उदाहरणपूर्वक इस बात को सिद्ध करूं कि आज कल भी इस देश में समाज ने अपनी ही पसन्द के अनुसार नैतिक नियम बनाये हैं। शायद लोग कहें कि पुराने जमाने में यह बात होती रही होगी; पर अब नहीं होती। और यदि आप समझते हैं कि अब भी होती है तो उदाहरण दीजिए। इसका जवाब यह है कि इस समय नीति के जो नियम जारी हैं उनके दोष दिखलाने के इरादे से मैं यह लेख नहीं लिख रहा हूं। वह बहुत बड़ा विषय है। इस लेख के बीच, उदाहरण के रूप में, उसका विचार नहीं हो सकता। पर उदाहरणों की जरूरत है। इस में कोई सन्देह नहीं। क्योंकि उदाहरण देने से लोगों को यह बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी कि जिस नियम को सिद्ध करने के लिए मैं इतना बखेड़ा कर रहा हूं वह बहुत बड़े व्यावहारिक महत्त्व का है। वह काल्पनिक नहीं है। यह नहीं कि लोगों को कल्पित बुराइयों से बचाने के बहाने मैं झूठ मूठ पाखंड रच रहा हूं। जिन बातों में अपनी इच्छा के अनुसार बर्ताव करने के लिए हर आदमी को बिना किसी विवाद के स्वाधीनता मिलनी चाहिए उन बातों को भी नीतिरूपी पुलिस की हद के भीतर कर देने की तरफ आज कल लोगों की प्रवृत्ति बहुत ही अधिक बढ़ रही है। यह बात, एक नहीं अनेक उदाहरण देकर साबित की जा सकती है।

अच्छा, पहला उदाहरण लीजिए। जिन लोगों के धार्मिक विचार दूसरी तरह के हैं, अर्थात् जो परधर्म्मी हैं, वे और लोगों से घृणा करते हैं। क्यों? इस लिए कि और लोग उनके ऐसे धार्म्मिक व्यवहार विशेष करके उनके आहार-विहार से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों का पालन, नहीं करते। बस, इसी कारण वे औरों से द्वेष करते हैं। एक छोटा सा दृष्टांत सुनिए। क्रिश्चियन लोग सुअर का मांस खाते हैं, पर मुसलमान सुअर का मांस खाना बहुत ही बुरा समझते हैं। अतएव, इस कारण, मुसलमान लोग क्रिश्चियनों से जितना द्वेष करते हैं उतना उनके और किसी धार्म्मिक मत या आचार-विचार के कारण नहीं करते। सुअर खाकर भूख शान्त करने की रीति पर मुसलमानों को जितनी घृणा है उतनी घृणा क्रिश्चियन लोगों की और किसी बात पर नहीं है। सुअर खाना मुसल-

मानों के धर्म्म के विरुद्ध है। परन्तु यह बात साफ साफ समझ में नहीं आती कि सुअर खाना धर्म्म-विरुद्ध होने ही के कारण मुसलमानों को उससे इस तरह की और इतनी घृणा क्यों होनी चाहिए? शराब पीना भी मुसलमानों के धर्म के विरुद्ध है। धर्म्म की दृष्टि से वह भी निषिद्ध है। शराब पीना मुसलमान पाप जरूर समझते हैं, पर किसी को उसे पीते देख उन्हें घृणा नहीं होती। सुअर एक मैला जानवर है। उससे मुसलमानों को जो घृणा होती है वह एक विशेष प्रकार की है। वह स्वाभाविक सी हो गई है। वह उसके मैलेपन के कारण आप ही आप पैदा हो गई है। जब किसी चीज के मैलेपन की बात मन में अच्छी तरह जम जाती है तब उससे उन लोगों को भी घृणा होती है जिनको और बातों में सफाई का बहुत कम खयाल रहता है। हिन्दुओं में छुआछूत का जो इतना अधिक विचार है वह इस बात का याद रखने लायक उदाहरण है। अच्छा, अब, मान लीजिए कि किसी देश में मुसलमान अधिक हैं और उन्होंने बहुमत के जोर पर यह नियम कर दिया कि कोई आदमी सुअर का मांस न खाय। मुसलमानी देशों के लिए यह कोई नई बात नहीं। तो समाज के मत की प्रबलता का ऐसा नैतिक उपयोग क्या उचित होगा? और, यदि, न उचित होगा तो क्यों न होगा? सुअर खाना सचमुच ही घृणित काम है। फिर, मुसलमानों को इस बात पर विश्वास है कि ईश्वर की आज्ञा उसे न खाने की है। उससे खुद ईश्वर को भी घृणा है। फिर, इस तरह के निषेध का यह भी अर्थ नहीं हो सकता कि लोगों के धर्म्म-विषयक विश्वासों पर आघात हुआ—उनमें दस्तंदाजी हुई—उनके लिए लोग सताये गये। अतएव इस तरह का निषेध करनेवालों को निंदा या निर्भर्त्सना के रूप में सजा भी नहीं दी जा सकती। जब पहले पहल इस निषेध का प्रारम्भ हुआ होगा तब शायद धर्म के ही कारण हुआ होगा। पर इस निषेध के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इसके कारण लोगों के धर्म्म में व्यर्थ दस्तंदाजी हुई, या लोग व्यर्थ सताये गये; क्योंकि यह बात किसी के धर्म्म में नहीं लिखी कि सुअर का मांस खाना कोई धार्म्मिक काम है। अतएव इस प्रकार के निषेध की निंदा करने या उसकी आवश्यकता बतलाने का सब से प्रबल आधार सिर्फ यह है कि समाज को लोगों की निज की बातों और रुचि या अरुचि में हाथ डालने का बिलकुल अधिकार नहीं।

अच्छा, अब दूसरा उदाहरण लीजिए। यह इस देश के बहुत पास का है। स्पेन में अधिक हिस्सा ऐसे ही लोगों का है जो यह समझते हैं कि रोमन कैथलिक सम्प्रदाय में कहे गये तरीके को छोड़ कर और किसी तरीके से ईश्वर की पूजा करना घोर पाप है। यही नहीं, वे यह भी समझते हैं कि ईश्वर को क्रोध भी आता है और बहुत अधिक क्रोध आता है। इससे स्पेन की हद के भीतर किसी और तरह से ईश्वर की आराधना करना कानून के खिलाफ है। दक्षिण में यदि कोई धर्म्मोपदेशक, अर्थात् पादरी, विवाह कर लेता है तो लोग उसे बेधर्म्म अथवा धर्म्मभ्रष्ट ही नहीं समझते; वे उसे कामुक, निर्लज्ज, बीभत्स और घृणित भी समझते हैं। सच्चे दिल से इस तरह के मनोविकारों को जाहिर करने, और दूसरे सम्प्रदायवालों को भी अपना ही सा बनाने के लिए रोमन कैथलिक लोग जो इतनी खटपट करते हैं उसे देख कर प्राटेस्टण्ट लोगों को क्या मालूम होता है। पर जिन बातों से दूसरों का बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं है उनमें दस्तन्दाजी करके यदि लोग एक दूसरे की स्वतंत्रता को छीन लेना या उसमें बाधा डालना, उचित समझेंगे तो जो उदाहरण मैंने यहां पर दिये उनको किस नियम या किस तत्त्व के आधार पर अनुचित, असंगत या युक्ति-हीन साबित करेंगे? अथवा जिस बात को लोग, ईश्वर और आदमी दोनों की दृष्टि में, कलङ्क समझते हैं उसे यदि वे रोकने की चेष्टा करें तो किस तरह वे दोषी ठहराये जा सकेंगे? ये बातें जिन लोगों को धर्म्म-विरुद्ध मालूम होती हैं उन लोगों के पक्ष में अपनी समझके अनुसार इनको रोकने के जितने सबल कारण हैं, उतने सबल कारण और किसी आत्म-सम्बन्धी दुराचार को रोकने के पक्ष में नहीं दिये जा सकते। सामाजिक और धार्म्मिक बातों में जो लोग दूसरों को बिना कारण सताते हैं उनकी दलीलें सुनने लायक हैं। वे कहते हैं कि "हम जो कुछ कहते हैं वह सच है; इस लिए दूसरों को सताना हमें मुनासिब है। पर दूसरे जो कुछ कहते हैं वह झूठ है; इस लिए हमको सताना उन्हें मुनासिब नहीं"। बेफायदा उपद्रव करनेवालों की इन विलक्षण दलीलों को—उनके इस अद्भुत तर्क-शास्त्र को—पसन्द करने में जो लोग खुश न हों उनको चाहिए कि जिस नियम के प्रयोग को वे अपने लिए महा अन्यायकारक समझते हैं उसी नियम के प्रयोग को दूसरों के लिए उचित और न्यायसंगत कुबूल करने में वे जरा आगा पीछा सोच लें।

जो उदाहरण मैंने ऊपर दिये उनको लोग शायद मंजूर न करेंगे। वे शायद कहेंगे कि हम लोगों अर्थात् अंगरेजों के समाज की स्थिति ऐसी नहीं है कि इस तरह की बातें यहां हो सकें। यहां बहुमत के जोर पर समाज मांस खाने या न खाने के विषय में बहुधा कोई प्रतिबंध न करेगा; चाहे जो जैसा भजन-पूजन करे उसमें समाज हाथ न डालेगा; और अपनी अपनी इच्छा या धर्म्मप्रवृत्ति के अनुसार विवाह करने या न करने के विषय में समाज कोई नियम न बनावेगा। यह आक्षेप सयौक्तिक नहीं है। इसे मैं नहीं मान सकता। पर मैं एक और उदाहरण देना चाहता हूं। इस उदाहरण में आदमियों की स्वाधीनता में जिस तरह की दस्तंदाजी की गई है उस तरह की दस्तंदाजी होने का अब भी डर है। निश्चयपूर्वक कोई यह नहीं कह सकता कि वैसी दस्तंदाजी अब कभी न होगी। क्रामवेल के समय में प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापित होने पर प्युरिटन लोगों का जैसा दौरदौरा ग्रेटब्रिटन में था वैसा ही, इस समय, अमेरिका के न्यू इंग्लैण्ड नामक सूबे में है। जहां जहां इन लोगों की प्रभुता हुई है, वहां वहां इन्होंने सारे सामाजिक और बहुत करके खानगी दिलबहलाव के काम बन्द करने का यत्न किया है। इसमें इन्हें बहुत कुछ कामयाबी भी हुई। खेल, तमाशे, मेले, नाटक, गाना, और बजाना इत्यादि इन लोगों की दृष्टि में बहुत निषिद्ध काम हैं। इस देश में इस समय भी बहुत से आदमी ऐसे हैं जो इन बातों को बिलकुल ही नहीं पसंद करते। नीति और धर्म्म के विचार से वे इन्हें बहुत बुरा समझते हैं। ऐसे आदमी विशेष करके मझले दरजे के आदमियों में से हैं। और, इसी दरजे के आदमी, इस समय, इस देश की सामाजिक और राजनैतिक बातों के सूत्र को अपने हाथ में लिये हैं। इस समय यहां इन्हीं की प्रबलता है। अतएव यह बात असम्भव नहीं कि किसी दिन इसी तरह के आदमियों की संख्या पार्लियामेंट में बढ़ जाय। ऐसा होनेसे बिकट धर्म्माभिमानी कालविनिष्ट * और मेथाडिस्ट ‡ लोगों के धार्म्मिक और नैतिक

---

* कालविन का जिक्र एक जगह पहले आचुका है। जो लोग उसके पन्थ के अनुयायी हैं वे कालविनिष्ट कहलाते हैं।

‡ मेथाडिस्ट भी एक पन्थका नाम है। अठारहवें शतक के आरम्भ में इसकी स्थापना हुई। वेस्ले नाम के दो भाई थे। उन्हींने इस पन्थ को चलाया।

मतों के अनुसार यदि ऐसे कानून बनाये जाँय कि किस तरह के खेल, तमाशे और नाटक इत्यादि लोग करें और किस तरह के न करें तो और लोगों को यह बात कहां तक पसन्द होगी? बिना अनुमति के दूसरों की खानगी बातों में दस्तंदाजी करनेवाले इन पवित्र पुरुषों से, इस दशा में, क्या लोग यह साफ साफ न कह देंगे कि आप अपना अपना काम देखिए, आपको हमारी निज की बातों में दखल देने का कोई अधिकार नहीं? जिस समाज या जिस गवर्नमेण्ट—अर्थात् राजसत्ता—का यह मत है कि जिस तरह के दिलबहलाव के काम उसको बुरे लगें उस तरह के कोई न करे, उसे ऐसा ही जवाब देना चाहिए। पर इस तरह के अनुचित और अन्याय-पूर्ण नियम यदि एक बार कुबूल कर लिये जायँगे, तो किसी प्रबल पक्ष या किसी और ही सत्ताधारी की राय के अनुसार ऐसे नियमों का दुरुपयोग होने पर लोगों को उसके खिलाफ कुछ कहने को बहुत कम जगह रहेगी। योग्य रीति से वे उसका प्रतिवाद न कर सकेंगे—वे उसके प्रतिकूल युक्ति-पूर्ण आक्षेप न ला सकेंगे। किसी नियम को कबूल करके उसके प्रयोग—उसकी योजना—के प्रतिकूल कोई कुछ नहीं कह सकता; और यदि कहे भी तो उसकी बात पर लोग ध्यान नहीं देते। ऐसे भी धर्म्म हैं जिनको हम लोगों ने क्षीण समझ लिया था—अर्थात् जिनके विषय में हमारा यह खयाल था कि थोड़े ही समय में वे बिलकुल नष्ट हो जायँगे। पर ऐसे धर्म्मों में कई धर्म्म नष्ट तो हुए नहीं उलटा जोर पकड़ गये हैं। इस बात के उदाहरण मौजूद हैं। न्यू इंग्लैण्ड की तरफ देखिए। वहां जाकर पहले पहल जो लोग रहे उनके धार्म्मिक विचारों के अनुसार, अर्थात् उनका जो पन्थ है उसीका ऐसा, यदि कोई पन्थ हमारे देश में फिर उठ खड़ा हो तो क्रिश्चियनों के प्रजासत्तात्मक राज्य के विषय में न्यूइंग्लैंडवालों के जो विचार हैं उनको कुबूल करने के लिए हम लोगों को तैयार रहना होगा।

उदाहरण के तौर पर एक और कल्पना कीजिए। यह कल्पना पहली कल्पना की अपेक्षा अधिक सम्भवनीय है। अर्थात् इस दूसरी कल्पना

उनका यह मत था कि आदमी को अपने आचरण का मेथड (तरीका) धर्म्मानुकूल रखना चाहिये। इसी मेथड (Method) शब्द के कारण इस पन्थ का नाम मेथाडिस्ट (Methodist) हुआ।

के सच होने की सम्भावना अधिक है । आज कल लोगों का यह खयाल दिनों दिन जोर पकड़ता जाता है कि समाज की रचना या बनावट सब लोगों की सम्मति से होनी चाहिए। मतलब यह कि समाज लोकसम्मत हो; फिर चाहे उसके साथ राज्यव्यवस्था लोकसम्मत हो चाहे न हो। जहां पर यह बात पूरे तौर पर पाई जाती है ऐसा देश अमेरिका है। वहां राज्यव्यवस्था भी लोकसम्मत है और समाज भी लोकसम्मत है । लोग विश्वासपूर्वक कहते हैं कि यदि वहां कोई बहुत अधिक अमीरी ठाठ से रहता है—यहां तक अधिक कि कोई उसकी बराबरी न कर सके—तो लोगों को बहुत बुरा लगता है और वे उसे उस हालत में देखना बरदाश्त नहीं कर सकते। उन लोगों के इस तरह के मनोविकारों का असर वैसा ही होता है जैसा कि खर्च के विषय में बने हुए किसी कानून का असर होता हो। कहीं कहीं तो यहां तक नौबत पहुँची है कि जिन लोगों की आमद बहुत अधिक है, अर्थात् जो बहुत बड़े अमीर आदमी हैं, वे इस मुशकिल में पड़े हैं कि किस तरह वे अपने रुपये को खर्च करें जिसमें रुपया भी अच्छे काम में लगे और लोग नाखुश भी न हों। इस वर्णन में—इस बात में—अतिशयोक्ति हो सकती है। इस में सन्देह नहीं कि लोगों ने बात को बहुत बढ़ा दिया है; परन्तु जहां सभी बातों को लोकसम्मत करने की तरफ लोगों की प्रवृत्ति बेतरह बढ़ रही है; जहां लोग यह चाहते हैं कि सब तरह के अधिकार लोकसम्मति पर ही अवलम्बित रहें, जहां यह कल्पना दिनोंदिन बढ़ती जाती है कि हर आदमी को; खुद उसकी भी आमदनी के खर्च करने का तरीका बतलाना समाज का काम है—वहां इस तरह की बातों का होना सम्भव और समझ में आने लायक ही नहीं; किन्तु बहुत अच्छी तरह होने लायक है। योरप में कोई दो सौ वर्ष से एक नया पन्थ निकला है । इस पन्थ के अनुयायियों का नाम सोशियालिस्ट है। इनका सिद्धान्त यह है कि संसार में जो कुछ है उस पर सब का बराबर हक है। ये लोग अमीर, गरीब और राजा, प्रजा सबको एक सा कर देना चाहते हैं। इन लोगों के पन्थ की दिनोंदिन बढ़ती हो रही है। यदि वह इसी तरह होती रही तो, कुछ दिन बाद, बहुत आदमियों की नजर में, कुछ थोड़े से रुपये की अपेक्षा अधिक धनवान् होना या हाथ से कमाकर प्राप्त की हुई सम्पत्ति के सिवा और किसी तरह की सम्पत्ति का उपभोग करना, बहुत बड़े कलङ्क या अपयश की बात

होगी। हाथ से काम करनेवाले आदमियों में इस तरह के खयालात अभी से से खूब फैल रहे हैं; और जो लोग कारीगर हैं; अर्थात् जो इन्हीं का ऐसा व्यवसाय करते हैं, उन पर ऐसे खयालात ने जुल्म भी करना शुरू कर दिया है। यह बात सब को मालूम है कि सब तरह के व्यवसायों में अधिक हिस्सा ऐसे ही कारीगरों, अर्थात् हाथ से काम करनेवालों, का है जो अच्छा काम करना नहीं जानते। पर इन लोगों का सचमुच ही यह खयाल है कि इन को भी उतनी ही मजदूरी मिलनी चाहिए जितनी कि अच्छे कारीगरों को मिलती है। इन लोगों के खयाल ने यहां तक दौर मारी है कि अलग अलग छोटे छोटे काम करके, या और किसी तरह से; अधिक होशियारी या मेहनत के द्वारा यदि कोई कारीगर औरों से अधिक रुपया पैदा करने लगे तो उसे पैदा करने से रोकना चाहिए। बात यहीं तक नहीं रही; इससे भी आगे बढ़ी है। अधिक अच्छा काम करने के बदले में यदि कोई आदमी किसी कारीगर को अधिक मजदूरी देने लगा, या कोई अच्छा कारीगर उसे लेने लगा, तो ऐसा करने से रोकने के लिए, अपशब्दरूपी पुलिस से काम लिया जाता है। यदि इससे भी मतलब नहीं निकलता है तो कभी कभी मारपीट तक की नौबत आती है। यदि यह मान लिया जाय कि सब लोगों की खानगी बातों में भी दस्तंदाजी करने का अधिकार समाज को है तो, मैं नहीं जानता, ये गाली देनेवाले और मारपीट करनेवाले कारीगर किस तरह अप-राधी ठहराये जा सकते हैं? जो अधिकार सारा समाज सब लोगों पर, सामान्य रीति से, रख सकता है उसी अधिकार को कोई विशेष प्रकार का समाज यदि अपने वर्ग के किसी अंश पर रखने की कोशिश करे तो वह दोषी क्यों कर हो सकता है?

पर इस तरह के कल्पित उदाहरण देने की जरूरत ही नहीं है, इस समय, हम लोग अपनी आंखों से देख रहे हैं कि लोगों की खानगी बातों से सम्बन्ध रखनेवाली स्वाधीनता कहां तक छीनी जा रही है। यही नहीं, किन्तु, धीरे धीरे, इससे भी अधिक जुल्म होने का डर है। आज कल इस तरह की राय कायम होने का ढंग देख पड़ रहा है कि आदमियों के बर्ताव में समाज को जो बातें बुरी मालूम हों उनको कानून के द्वारा बन्द कर देने ही भर का अखतियार उसे न होना चाहिए, किन्तु उन बुरी बातों को ढूंढ़ निकालने के लिए जिन बातों को समाज खुद भी निर्दोष समझता है, उनको

भी बंद कर देने का अख्तियार उसे होना चाहिए। इस अख्तियार का कहीं ठिकाना है ? इस अधिकार की कहीं सीमा है ?

बहुत अधिक शराब पीने की आदत को रोकने के बहाने अमेरिका के यूनाइटेड स्टेट्स में रहनेवाली प्रायः आधी प्रजा और अंगरेजों की एक नई बस्ती में रहनेवाली सारी प्रजा को कानून के द्वारा मनाई कर दी गई कि जितनी उन्मादकारक, अर्थात् नशा लानेवाली, पीने की चीजें हैं उनका उपयोग, दवा के सिवा और किसी काम में, बिलकुल ही न करें। मनाई, शराब बेचने की की गई; पर बेचने की मनाई करना मानो पीने की मनाई करना है। इस कानून का मतलब ही यही है। यूनाइटेड स्टेट्स की जिन रियासतों में यह कानून जारी हुआ था उनमें से कई में यह रद कर दिया गया है। यहां तक कि जिस रियासत के नाम से यह कानून बना था, उस में भी यह रद कर दिया गया है। यह इस लिए हुआ कि इस कानून के अनुसार काररवाई होने में बड़ी बड़ी कठिनाइयां आने लगीं। पर इन बातों को जानकर भी इस देश, अर्थात् इंग्लैंड, में यह प्रयत्न हो रहा है कि इस तरह का कानून यहां भी जारी किया जाय। इस लिए बहुत से आदमी, जो अपनेको स्वदेशवत्सल या देशहितैषी कहते हैं, बड़े उत्साह के साथ खटपट कर रहे हैं। इस काम के लिए इन लोगों ने एक समाज, सम्मेलन या मेला जारी किया है। इस मेले के मंत्री ने लार्ड स्टानले से, इस विषय में जो पत्र-व्यवहार किया उसके प्रकाशित हो जाने से इस मेले की खूब प्रसिद्धि हो गई है। अँगरेजों के समाज में बहुत कम आदमी ऐसे हैं जो यह समझते हों कि राजनीति-विशारद आदमियों को चाहिए कि वे अपनी राय हमेशा नियमानुसार कायम करें। लार्ड स्टानले इसी तरह के नीतिनिपुण आदमियों में से हैं। राजकीय काम करनेवालों में जो गुण बहुत कम पाये जाते हैं वे लार्ड स्टानले में बहुत कुछ हैं। जो लोग इस बात को जानते हैं उनको, पूर्वोक्त पत्रव्यवहारके सम्बन्ध में दिये गये लार्ड स्टानले के अभिप्राय के आधार पर, यह आशा होने लगी है कि इस मद्यपान-निवारक समाज की, किसी न किसी दिन, जरूर जीत होगी। इस समाज के मन्त्री कहते हैं कि—" समाज के मत ऐसे नहीं हैं जिनसे किसी को कुछ भी तकलीफ पहुँचे या जिनके कारण समाज बिना समझे बूझे अपनी बात का आग्रह करे। यदि कोई ऐसा समझे तो समाज को बहुत अफसोस होगा "। आप कहते हैं कि इस तरह के प्रजापीड़क

नियमों और समाज के नियमों में बड़ा अन्तर है । दोनों के बीच में अन्तर रूपिणी एक इतनी चौड़ी खाई है कि मद्यपाननिवारक समाज उसका उल्लं घन ही नहीं कर सकता है । आप और भी कुछ कहते हैं:—" विचार, राय और अन्तःकरण से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं सब कानून की हद के बाहर की हैं । अर्थात् उनका नियमन कानून के द्वारा न होना चाहिए और सामाजिक बर्ताव, सामाजिक स्वभाव या आदत, और सामाजिक नाते दारी से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें हैं वे कानून की हद के भीतर हैं अतएव उनके विषय में कानून बनाना या न बनाना गवर्नमेण्ट की मरजी पर मुनहसिर है । ये बातें ऐसी नहीं हैं जिनको करने या न करने का निश्चय हर आदमी की मरजी पर छोड़ दिया जाय " । पर मंत्रीजी की इस उक्ति में व्यक्ति-विषयक बर्ताव और आदतों का जिक्र नहीं है । आपने दो तरह की बातों पर तो अपनी राय जाहिर की, पर तीसरी तरह की बातों को आप बिलकुल ही भूल गये । तीसरे प्रकार की बातें मंत्रीजी की दोनों प्रकार की बातों से बिलकुल ही जुदा हैं । ये उनमें शामिल नहीं हो सकतीं । ये बातें सामाजिक नहीं, किन्तु व्यक्ति-विषयक हैं; क्योंकि व्यक्ति ही से उनका सम्बन्ध है । और, शराब पीने की आदत इसी तीसरे प्रकार की बातों के अन्तर्गत है । इसमें जरा भी सन्देह नहीं है । यह सच है कि शराब बेचने की गिनती व्यापार में है और व्यापार करना एक सामाजिक व्यवसाय है । पर जिस प्रतिबन्ध के प्रसंग में मैं लिख रहा हूं वह प्रतिबन्ध बेचने के विषय का नहीं है पीने के विषय का है । बेचने की मनाई समाज कर सकता है; पर पीने की नहीं । समाज या गवर्नमेण्ट यदि चाहे तो शराब बेचने के विषय में बेचनेवाले की स्वाधीनता छीन ले सकती है । मैं उसके खिलाफ कुछ नहीं कहता । पर शराब मोल लेने और उसे पीनेवाले की स्वाधीनता को समाज या गवर्नमेण्ट नहीं छीन ले सकता । और, यहां पर शराब बेचना बन्द कर देना मानो उसका पीना बन्द कर देना है । इसीलिए इस तरह का प्रतिबन्ध अनुचित है । यदि गवर्नमेण्ट इस मतलब से शराब की बिक्री बन्द कर कि उसे कोई न बेचे तो वह साफ साफ लोगों से यही क्यों न कह दे कि तुम लोग शराब मत पियो । क्योंकि दोनों का मतलब एक ही है । इस बात का उत्तर मंत्री जी इस तरह देते हैं—"मैं नागरिक हूं—अर्थात् नगर (समाज) में रहनेवाले आदमियों में से मैं भी एक हूं । इसलिए मैं

सामाजिक हक रखता हूं। यदि किसी आदमी के सामाजिक बर्ताव से मेरे सामाजिक हक मारे जाँय, तो नागरिक होने के आधार पर, मैं उस बर्ताव के बन्द करने के लिए कानून बनाने का हक रखता हूं"। अब आपके "सामाजिक हक" की परिभाषा सुनिए। "यदि किसी बात से मेरे सामाजिक हक में बाधा आती हो तो अत्यन्त नशीली शराब की बिक्री से जरूर आती है। समाज में रहकर मेरा मुख्य हक रक्षा अर्थात् हिफाजत है। मुझे इस बात का हक है कि मैं समाज से अपनी हिफाजत कराऊं और समाज को मुनासिब है कि वह मेरी हिफाजत करे। पर शराब की बिक्री से समाज में अक्सर अव्यवस्था पैदा होती है और उस अव्यवस्था को उत्तेजना मिलती है। इससे मेरी सुरक्षितता, मेरी हिफाजत, जाती रहती है। जितने सामाजिक हक हैं, सब लोगों के लिए बराबर होने चाहिए। अर्थात् सब लोग सामाजिक बातों के बराबर हकदार हैं—उनसे सबको बराबर फायदा होना चाहिए। शराब का व्यापार मेरे इस बराबरी के हक में भी बाधा डालता है, क्योंकि, समाज में दुर्गति पैदा करके वह उससे खुद तो फायदा उठाता है; पर दुर्गति या दुर्दशा में पड़े हुए आदमियों की परवरिश के लिए मुझे अधिक कर देना पड़ता है। मुझे इस बात का भी हक है कि मैं अपनी नैतिक और बुद्धिविषयक बातों में, जहां तक चाहूं, उन्नति करूं। पर शराब का रोजगार मेरे इस हक में भी बाधा डालता है। क्योंकि उससे समाज की नीति या सदाचरणशीलता कम हो जाती है अथवा बिलकुल ही बिगड़ जाती है। इससे मैं स्वतंत्रता-पूर्वक औरों की सङ्गति नहीं कर सकता और बिना सङ्गति के जो फायदे मुझे उनके पास बैठने उठने से होने चाहिए वे नहीं होते, यद्यपि उन फायदों के उठाने का मुझे पूरा हक है। शराब की बिक्री के कारण मुझे इस बात का हमेशा डर लगा रहता है कि जिनका सहवास मैं करता हूं वे कहीं शराबी तो नहीं हैं; उन की संगति से कहीं मैं भी तो शराबी न हो जाऊंगा और कहीं मेरा भी आचरण तो न खराब हो जायगा"। खूब! इस तरह के सामाजिक हकों की कल्पना, आज तक, शायद ही किसी ने ऐसे साफ शब्दों में जाहिर की हो। इससे यही अर्थ निकलता है कि हर आदमी जिस बात को वह अपना कर्तव्य समझता है उसे, एक एक करके बाकी के सब आदमियों से, अपनी समझ के अनुसार, ठीक ठीक करा लेने का पूरा हकदार है। अतएव वह कह सकता है कि जिस

आदमी ने इस तरह के कर्तव्य-पालन में जरा भी गलती की उसने मेरे सामाजिक हक में बाधा डाली । इससे उसको दूर करने के लिए कानून बनवाने का मुझे पूरा अधिकार है । स्वाधीनता से सम्बन्ध रखनेवाली किसी एक आध बात में दस्तंदाजी की अपेक्षा यह राक्षसी सिद्धान्त—यह अनोखा नियम—बहुत ही अधिक भयङ्कर है । यह सिद्धान्त ऐसा है कि इसके आधार पर कोई स्वाधीनता का चाहे जितना, और चाहे जैसा उल्लंघन करे वह सभी न्यायसङ्गत माना जा सकेगा । इस सिद्धान्त के अनुयायियों को स्वाधीनता-सम्बन्धी एक भी हक कुबूल नहीं । हां, किसी राय को जाहिर न करके उसे मन ही में रखने का हक शायद इनके इस अनूठे सिद्धान्त के पञ्जे से बचे तो बचे । क्योंकि ज्यों ही कोई राय किसी के मुँह से निकलेगी त्यों ही लोग, इस सिद्धान्त के आधार पर, फौरन ही कह उठेंगे कि हमारे सारे सामाजिक हकों पर हमला हुआ । इस महा विलक्षण सिद्धान्त से यह भी अर्थ निकलता है कि मनुष्य मात्र को हर आदमी की नैतिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति तक में दस्तंदाजी करने का अधिकार है; और हर आदमी को—हर हकदार को—अपनी अपनी तबीयत के अनुसार अपने अपने अधिकार का लक्षण बतलाने का भी हक है ।

लोगों की उचित स्वतंत्रता में अनुचित रीति पर दस्तंदाजी करने का एक और उदाहरण सुनिए। यह उदाहरण ऐसा वैसा नहीं है—बड़े महत्त्व का है। यह रविवार-सम्बन्धी कानून है । इसके जारी करने का सिर्फ डर ही नहीं दिखाया गया; यह बहुत दिनों से जारी भी है; और इसके जारी होने में समाज अपनी बहुत बड़ी जीत भी समझता है । यदि सांसारिक जीवन-यात्रा में किसी तरहका विघ्न न आता हो तो सब काम छोड़ कर हफ्ते में एक दिन आराम करने की, यद्यपि यहूदियों के धर्म्म को छोड़ कर और किसी धर्म्म की आज्ञा नहीं—अर्थात् यद्यपि धर्म्मसम्बन्धी इस तरह का कोई स्मृतिवाक्य नहीं है—तथापि यह रीति बहुत लाभदायक है । इसमें कोई सन्देह नहीं । पर जितने श्रमजीवी हैं—जितने आदमी मेहनत-मजदूरी करके आपना पेट पालते हैं—वे जब तक इस कायदे की पाबन्दी न करेंगे तब तक यह अमल में नहीं आ सकता। अतएव इतवार के दिन, और लोग, अपना कामकाज जारी रखकर मेहनत मजदूरी करनेवालों का नुकसान न करें, और उनको भी इतवार की परवा न करके, अपना अपना व्यवसाय करते

रहने को विवश न करें—इस इरादे से ऐसा कानून करना उचित और न्यायसङ्गत हो सकता है। पर इसमें एक बात है। वह यह कि दूसरों के द्वारा इस रीति के अनुसार काम दिये जानेमें हर आदमी का प्रत्यक्ष फायदा है; अतएव इस तरह का कानून बनाना यद्यपि न्याय्य होगा; तथापि यदि किसी को कोई विशेष प्रकार का उद्योग पसन्द हो, और उसे वह इतवार के दिन करना चाहे, तो उसे वैसा करने से रोकना हरगिज न्याय्य न होगा। और, दिलबहलाव की बातों को कानून के द्वारा रोक देना तो बिलकुल ही न्याय्य न होगा। ऐसी बातों में थोड़ा भी प्रतिबन्ध करना अन्याय होगा। यह सच है कि कुछ आदमियों के दिलबहलाव के लिए औरों को, उस दिन, काम करना पड़ता है। पर यदि थोड़ेसे आदमियों ने खुशीसे काम करना कुबूल किया; और उनको उनकी इच्छाके अनुसार काम छोड़ने की अनुमति हुई; तो बहुत आदमियों के आराम के लिए, इतवार के दिन, थोड़े आदमियों को काम करना मुनासिब है। यदि दिलबहलाव के काम उपयोगी हैं तो बहुत आदमियों के लाभ के लिए थोड़े आदमियों को काम करना और भी मुनासिब है। जो कामकाजी आदमी कहते हैं कि यदि इतवार के दिन सभी लोग काम करेंगे तो छः दिन की मजदूरी में सात दिन सबको काम करना पड़ेगा, वे सच कहते हैं। परन्तु इतवार के दिन बड़े कारखानों और दुकानों इत्यादि में काम बन्द रहनेसे थोड़े से आदमी, जो औरों का दिल बहलाने के लिए काम करेंगे, अधिक तनख्वाह पावेंगे। इस न नाह की अपेक्षा आराम से घर बैठे रहना जिन थोड़े से आदमियों को अधिक पसन्द हो वे मजे में घर बैठे रहें। उनको कोई रोकने का नहीं। इन थोड़े से आदमियों को सुस्ताने का मौका देने के लिए एक और युक्ति हो सकती है। वह हफ्ते में और ही एक आध दिन छुट्टी देकर इन लोगों को आराम से घर बैठे रहने देना है। यदि सब आदमी मिलकर ऐसी रीति चलाना चाहेंगे तो उसका चल जाना कुछ भी मुशकिल नहीं। इतवार के दिन दिल-बहलाव के लिए खेल-तमाशे करने की मनाई सिर्फ धर्म्म के आधार पर न्याय्य मानी जा सकती है। पर धर्म्म की दृष्टि से इस तरह के मनोरंजन निषिद्ध नहीं हैं। फिर, जिन कारणों से कानून बनाना पड़ता है उनमें से धर्म्म-सम्ब-न्धी कारणों को शामिल करने के खिलाफ जो कुछ कहा जाय थोड़ा है। दो बातों के सुबूत अभी तक नहीं मिले। एक इस बात का कि किसी आदमी

के किसी काम से और लोगों का नुकसान न होने पर भी वह आदमी सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर की दृष्टि में अपराधी ठहरता है। दूसरे इस बात का कि ऐसा काम करने के कारण उस आदमी को दंड देने का अधिकार होकर भी परमेश्वरने समाज या समाज के अफसरों को दिया है। आज तक धार्मिक बातों के सम्बन्ध में जितना अन्याय हुआ है वह इस आधार पर हुआ है कि हर आदमी धर्म्मानुसार आचरण करता है या नहीं, इस बात की जाँच करना दूसरों का काम है। यदि इस तरह का आधार—यदि इस तरह का कल्पना-कार्य—उचित, मुनासिब या न्याय्य मान लिया जाय तो जिन लोगों ने औरों को, आज तक, इसी कारण, सताया है वे किसी तरह अपराधी नहीं माने जा सकते। जो लोग इस बात की बार बार कोशिश करते हैं कि इतवार के दिन रेल से सफर करने की मनाई होजाय, या अजायब घर न खोले जाँय, या और भी इसी तरह के काम न किये जाँय, उनके मनोविकार यद्यपि इतने क्रूर और निर्दयतापूर्ण नहीं हैं जितने कि धार्मिक बातों में दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाले पुराने धर्म्मान्ध आदमियों के थे, तथापि दोनों तरह के मनोविकार एक ही दरजे के हैं। क्योंकि जो बात जिसके धर्म्मानुकूल है उसको उसे करते देख, उसके प्रतिबन्ध का इस लिए निश्चय करना कि वह हमारे धर्म्म के अनुकूल नहीं है, वैसे ही मनोविकारों का फल है। धर्म्मान्ध आदमियों के खयाल बहुत बढ़े चढ़े होते हैं। वे यह समझते हैं कि विश्वास-हीन, अर्थात् पाखंडी, आदमियों के कृत्यों से ईश्वर घृणा ही नहीं करता, किन्तु यदि हमने उनको न सताया या उनको न सजा दी तो वह हमें भी अपराधी समझता है, अतएव पुराने और नये धर्म्मान्धों के मनोविकारों का बीज एक ही तरह का है।

मनुष्य-जाति की स्वतंत्रता को कुछ न समझने के ये जो उदाहरण मैंने दिये उन में एक उदाहरण मैं और बढ़ाना चाहता हूँ। बिना उसे बढ़ाये मुझ से नहीं रहा जाता। कुछ दिनों से एक नया पंथ निकला है। उसका नाम है मार्मन * पन्थ। जब कभी इस पन्थ के विषय में लिखने का कोई कारण

---

* इस पन्थ के अनुयायियों का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य अनादि है। उसे ईश्वर ने नहीं पैदा किया। प्रयत्न करने से वह ईश्वर की पदवी पाने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। इसका स्थापक स्मिथ नाम का एक अमेरिकन था। उसने

उपस्थित होता है तब इस देश के अखबार बेतरह बिगड़ खड़े होते हैं और अपशब्दों से भरी हुई अनाप सनाप बातों की वर्षा से मार्मन लोगों पर हमला करते हैं। यह बात झूठ मूठ जाहिर कर दी गई कि ईश्वर के मुँह से निकली हुई बातों से भरा हुआ एक ग्रन्थ मिला है। इस पर एक नया धर्म्म बन गया। यह भी नहीं, कि इस नये मत की स्थापना इसके स्थापक के किसी विलक्षण गुण के आधार पर हुई हो। तथापि इस रेल, तार और अखबारों के जमाने में लाखों आदमियों का विश्वास इस पर जम गया। यहां तक कि इस धर्म्म के अनुयायियों का एक जुदा समाज ही स्थापित हो गया। इस आकस्मिक और ध्यान में रखने लायक अद्भुत बात पर जो कुछ कहा जाय सब थोड़ा है। इस विषय में एक बात याद रखने लायक यह है कि इसकी अपेक्षा अधिक अच्छे धर्म्मों की तरह इस धर्म्म के लिए भी लोगों ने अपनी जान दे दी है। इस धर्म्म की स्थापना करनेवाले के उपदेशों से अप्रसन्न होकर लोगों ने उसे जान से मार डाला। उसके अनेक अनुयायियों पर भी अन्याय हुआ। उपद्रवी लोगों ने उनको भी उसी की तरह मार डाला। जिस देश में वे पैदा हुए और बहुत दिन तक रहे वहां से वे जबरदस्ती निकाल दिये गये। लोग यहां तक उनके पीछे पड़ गये कि उन्हें देश त्याग करके जंगल के बीच एक निर्जन जगह में जाकर रहना पड़ा। इतने ही से लोगों को सन्तोष नहीं हुआ। अब आज कल, इस देश में बहुत आदमियों की यह राय हो रही है कि एक फौज भेज कर उन पर चढ़ाई करना और उन लोगों का मत जबरदस्ती अपना सा कर डालना चाहिए। अर्थात् उनको उनका धर्म्म छुड़ाकर क्रिश्चियन बना डालना चाहिए। इन सब बातों को लोग न्याय्य समझते हैं। हिचकते वे सिर्फ इस बात से

यह झूठ खबर उड़ाई कि मुझे एक नया धर्म्मग्रन्थ मिला है। वह सोने के पत्रों पर लिखा हुआ है। पर वह एक उपन्यास था। इससे उस पर यह इलजाम लगाया गया कि उसने झूठा धर्म्म चलाने की कोशिश की। अन्त में उसे कैद की सजा मिली। १८४४ ई० में उसे कुछ आदमियों ने जेल ही में मार डाला। स्मिथ के बाद उसके शिष्य अब्राहमने इस पन्थ का नायकत्त्व लिया। उसने 'न्यूजेरुशलम' नाम का एक नगर बसाया। वहीं वह अपने अनुयायियोंके साथ रहने लगा।

हैं कि वहां फौज भेजने में सुभीता नहीं है। मार्मन-सम्प्रदाय के अनुयायियों को एक ही साथ एक से अधिक स्त्रियां रखने की आज्ञा है। जिस बात से चिढ़ कर मामूली धार्म्मिक उदारता की भी परवा न करके लोग मार्मन पन्थ वालों से द्वेष करते हैं, और उन पर फौज तक भेजने की सलाह देते हैं, वह अधिक स्त्रियां करने की आज्ञा है। मार्मनधर्म्म के इस बहु पत्नीत्व-विषयक नियम को लोग बिलकुल ही नहीं बरदाश्त कर सकते। हिन्दू, मुसलमान और चीन वाले भी एक से अधिक स्त्रियां करते हैं। धार्म्मिक दृष्टि से उनके यहां यह बात बुरी नहीं समझी जाती। क्योंकि बहु-पत्नीत्व की उनके धर्म्म में आज्ञा है। तथापि उन लोगों से इस देश वाले वैर नहीं रखते। पर मार्मन लोग अंगरेजी बोलते हैं और अपने को एक प्रकार के क्रिश्चियन बतलाते हैं। इसीसे उनकी बहु-पत्नीत्व रीति को देख कर इस देश वाले उनसे बेतरह द्वेषभाव रखते हैं। मार्मन लोगों को मैं खुद नहीं पसन्द करता। इस पन्थ को जितनी तिरस्कार-दृष्टि से मैं देखता हूं उतनी तिरस्कार-दृष्टि से शायद ही और कोई देखता होगा। पर इस तिरस्कार-दृष्टि के और कारण हैं। उनमें से मुख्य यह है कि स्वाधीनता के नियमों के आधार पर इस पन्थ की स्थापना का होना तो दूर रहा, उलटा उसके प्रतिकूल नियमों के आधार पर इसकी स्थापना हुई है। क्योंकि इस पन्थ का उपदेश स्त्रीरूपी आधी प्रजा के सामाजिक बन्धन खूब कड़े करने और पुरुष रूपी आधी प्रजा के खूब ढीले कर देने का है। पर यह बात भी याद रखनी चाहिए कि इस तरह के अनुचित पारस्परिक सम्बन्ध से यद्यपि मार्मन लोगों की स्त्रियों का नुकसान है, तथापि विवाहविषयक और बन्धनों की तरह उन्होंने इस बन्धन को भी खुशी से कुबूल कर लिया है। इसके लिए उन पर कोई जबरदस्ती नहीं की गई। यह बात चाहे जितनी आश्चर्यजनक मालूम हो, तथापि ऐसी नहीं है कि समझ में न आ सके। संसार के आचार-विचार और रीति-रवाज ऐसे हैं कि उनको देख कर स्त्रियों को यह खयाल होता है कि विवाह होना बहुत जरूरी बात है; यहां तक कि अविवाहित रहने की अपेक्षा अर्थात् बिलकुल ही पत्नी न होने की अपेक्षा, ऐसे आदमी की पत्नी होना वे अच्छा समझती हैं जिसके एक से अधिक स्त्रियां हैं। मार्मन लोग और मुल्क वालों से यह कभी नहीं कहते कि तुम भी हम लोगों की सी विवाह-पद्धति जारी करो; और न वे उनसे

यही कहते हैं कि तुम्हारे मुल्क में जो मार्मन लोग हैं उनको तुम अपने यहां की विवाहपद्धति के बन्धनों से मुक्त कर दो। उलटा उन्होंने यह किया है कि जिस देश को उनकी बातें अच्छी न लगती थीं—जिस समाज को उनके मत पसन्द न थे—उसको उन्होंने बिलकुल ही त्याग दिया है और दुनियां के एक छोर में हजारों मील दूर जाकर, वे रहने लगे हैं। उन्हों ने जाकर एक ऐसी जगह को आबाद किया है जिसे उनके पहले और किसी आदमी के पैरों का स्पर्श न हुआ था। मार्मन-धर्म्मके अनुयायी दूसरे धर्म्म के अनुयायियों को बिलकुल नहीं सताते—उन पर कभी जुल्म नहीं करते—और जो लोग उनकी चाल ढाल को पसन्द नहीं करते उनको वे खुशी से अपना देश छोड़ कर चले जाने देते हैं। अतएव, मैं नहीं जानता, कि जुल्म के सिवा और किस तत्त्व के आधार पर कोई उन्हें उन नियमों के अनुसार बर्ताव करने से रोक सकता है जिनको उन्होंने खुशी से कुबूल किया है। एक आधुनिक ग्रन्थकार, जो कई विषयों में अच्छा विद्वान् है, यह सलाह देता है कि मार्मन लोग सभ्यता की अवनति के कारण हैं—सभ्यता को आगे न बढ़ाकर वे उसे पीछे ढकेल रहे हैं—अतएव एक ही साथ कई विवाहित स्त्रियां रखनेवाले इस समाज के साथ धर्म्मयुद्ध नहीं, बल्कि सभ्यतायुद्ध करके इसे जड़ से उखाड़ डालना चाहिए। एक स्त्रीके रहते दूसरी के साथ विवाह करना सभ्यता की अवनति करना जरूर है। इस बात को मैं मानता हूं। पर इस सिद्धांत को मैं नहीं मानता कि एक समाज, अर्थात् जन-समुदाय, को जबरदस्ती सभ्य बनाने का दूसरे समाज को जरा भी अधिकार है। जब तक इस बुरे नियम से तकलीफ उठानेवाले आदमी किसी दूसरे समाज से मदद नहीं मांगते, तब तक मैं इस बात को नहीं मान सकता, कि जिन लोगों का उनसे जरा भी सम्बन्ध नहीं है, और जो उनसे हजारों कोस दूर रहते हैं, वे सिर्फ इस आधार पर कि यह नियम उनको घृणित मालूम होता है, बीच में कूद पड़ें और उन बातों को, जिनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाले लोग देखने में सब प्रकार सन्तुष्ट मालूम होते हैं, बन्द करने की कोशिश करें। यदि वे चाहें—यदि उनको जरूरत पड़े—तो वे इस बुरी रीति के विरुद्ध उपदेश करने के लिए धर्म्मोपदेशक भेजें, और यदि इस रीति का चलन उनके समाज में भी हो रहा हो, तो उसे किसी उचित तरकीब से बन्द करें। पर इस तरह के बुरे रस्मों को जो लोग फैलाते हों उनके मुँह उन्हें न बन्द

करना चाहिए; क्योंकि यह तरकीब कोई अच्छी और उचित तरकीब नहीं है। जिस समय असभ्यता का सारे संसार में अकण्टक राज्य था उस समय भी यदि सभ्यता ने उस पर अपना प्रभुत्व जमा लिया तो आजकल असभ्यता के इतने कमजोर हो जाने पर भी इस बात से डरना, कि वह फिर प्रबल होकर सभ्यता को जीत लेगी, बहुत दूर की बात है। इस तरह का डर व्यर्थ है। जो सभ्यता अपने जीते हुए शत्रु से हार जायगी वह हारने के पहले यहां तक नीच अवस्था को पहुँच गई होगी कि उसके उपदेशक, शिक्षक, या और लोग इस लायक ही न रह गये होंगे, उनमें इतनी इच्छा ही न रह गई होगी, कि अपनी सभ्यता की रक्षा के लिए वे खड़े हो सकें। यदि बात इस नौबत को पहुँच गई हो तो ऐसी सभ्यता को देश से निकल जाने के लिए जितना जल्द नोटिस दी जाय उतना ही अच्छा। क्योंकि यदि वह बनी रहेगी तो दिनोंदिन उसकी हालत खराब होती जायगी और अन्त में, रोम के पश्चिमी राज्य * की तरह, वह बिलकुल ही नष्ट हो जायगी। तब तेजस्वी असभ्य लोग ही उसका उद्धार करेंगे।

* पुराने जमाने में असभ्य गाल और तुर्क लोग इतने प्रबल हो उठे थे कि उन्होंने रोम राज्य को धूल में मिलाकर, जिसे जितना भाग उसका मिला, उसने उतना अपने कब्जे में कर लिया था।

पांचवां अध्याय ।

प्रयोग ।
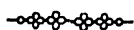
जिन सिद्धान्तों का वर्णन मैंने यहां तक किया वे सांसारिक व्यवहारों के आधार हैं । इन्हीं सिद्धान्तों को दूर तक आधार मान कर व्यवहार की बातों का विवेचन करना चाहिए । इस बात को ध्यान में रखने से ही राजनीति और समाजनीति की सब शाखाओं में इन सिद्धान्तों की योजना की जा सकेगी । ऐसा न करने से सारी मेहनत बरबाद जायगी । उससे कोई फायदा न होगा । व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली बातों की जो मैं थोड़ी सी आलोचना करना चाहता हूं वह सिर्फ दृष्टान्त के लिए है । मैं सिर्फ इस बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण देना चाहता हूं कि किस तरह मेरे निश्चय किये हुए सिद्धान्तों की योजना व्यावहारिक विषयों में होनी चाहिए । मेरा मतलब अपने सिद्धान्तों की सविस्तर योजना करके बतलाने का नहीं है । मैं अपने सिद्धान्तों के सभी प्रयोग उदाहरणपूर्वक नहीं बतलाना चाहता । मैंने दो सिद्धान्तों या तत्त्वों का विवेचन किया है । वही इस पुस्तक के सारभूत हैं । उनका मतलब और उनकी व्याप्ति अर्थात् सीमा, को अच्छी तरह लोगों के ध्यान में लाने के लिए, मैं नमूने के तौर पर, प्रयोग के कुछ उदाहरण देता हूं । यह न समझिए कि मैं सब तरह के प्रयोगों की—सब प्रकार की योजनाओं की—विवेचना करने जाता हूं । प्रयोग के जो नमूने मुझे बतलाने हैं उनसे यह बात ध्यान में आजायगी कि किस सिद्धान्त का कहां प्रयोग करना चाहिए और जहां यह संशय उपस्थित हो कि किसी एक सिद्धान्त से काम लिया जाय या दूसरे से वहां किस तरह निश्चय करना चाहिए ।

मेरा पहला सिद्धान्त यह है कि आदमी के जिस काम से उसे छोड़ और किसीका सम्बन्ध नहीं है उसके लिये वह समाज के सामने उत्तरदाता नहीं। यदि कोई आदमी ऐसा काम करे जिससे सिर्फ उसी का सम्बन्ध हो, पर जो समाज को पसन्द न हो, तो समाज उसे उपदेश दे सकता है; उसे समझा बुझा सकता है; दिलासा देकर या प्रार्थना करके उसके खयाल बदल सकता है; और यदि अपने हित के लिए उसकी संगति से दूर रहने की जरूरत हो तो वह दूर भी रह सकता है। ऐसे मौके पर समाज यदि कुछ कर सकता है तो इतना ही कर सकता है। इस तरह के किसी काम से घृणा या अप्रीति जाहिर करने के लिए समाज के पास सिर्फ यही साधन है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि जिन बातों से दूसरों का सम्बन्ध है उनके लिए हर आदमी समाज के सामने उत्तरदाता है। किसी आदमी की इस तरह की कोई बात यदि समाज को हानिकारक जान पड़े तो उस हानि से बचने के लिए समाज, जरूरत के अनुसार, अपराधी को कानूनी सजा दे सकता है।

पहले इस बात को दिल से दूर कर देना चाहिए कि दूसरे के हित की हानि, या हानि की सम्भावना, होने ही से समाज को किसी आदमी के बर्ताव में दस्तन्दाजी करने का अधिकार मिल जाता है। यह बात नहीं है। हानि या हानि की सम्भावना ही के कारण दूसरे के कामकाज में दस्तंदाजी करना हमेशा उचित नहीं हो सकता। बहुत दफे ऐसा होता है कि किसी उचित अर्थात् न्यायसंगत, मतलब की सिद्धि के लिए काम करते समय आदमी को दूसरों की हानि करना, या उन्हें दुःख या प्रतिबन्ध करना, पड़ता है। पर इस तरह की हानि, दुःख या प्रतिबन्ध, बहुत जरूरी अतएव अनिवार्य्य, होने के कारण उचित होता है। इस तरह का परस्पर हितविरोध बहुधा समाज की व्यवस्था ठीक न होने से होता है। जब तक ऐसी व्यवस्था रहती है, अर्थात् जब तक समाज की व्यवस्था में उन्नति नहीं होती, तब तक यह हितविरोध होता ही रहता है। कुछ हितविरोध अनिवार्य्य हैं; वे बन्द ही नहीं हो सकते। समाज की बनावट, अर्थात् व्यवस्था, चाहे जितनी अच्छी हो वे अवश्य ही होते हैं। जिस व्यवसाय को बहुत आदमी करते हैं उसमें कामयाबी होने से, चढ़ाऊपरी के इम्तहान पास करने से, और जिस चीज की प्राप्ति के लिए दो आदमी बराबर कोशिश कर रहे हैं उसे उनमें से एक को दिला देने से, जो लाभ होता है वह दूसरों की हानि होने या दूसरों

की मेहनत अकारथ जाने, या दूसरों की आशा का नाश होने ही से होता है। पर, यह बात सब को मान्य है कि इस तरह के परिणाम की परवा न करके अपने उद्देश की सिद्धि करना ही मनुष्य मात्र के लिए हितकारक है। मतलब यह कि समाज इस बात को नहीं कुबूल करता कि इस तरह चढ़ा-ऊपरी करनेवालों में से जिनका नुकसान हो जाय उनको उस नुकसान से बचाने का प्रबन्ध न करना कानून या नीति की दृष्टि से अनुचित है। हां, यदि अपने फायदे के लिए—अपने उद्देश की सिद्धि के लिए—कोई आदमी छल, कपट, विश्वासघात या जबरदस्ती करने लगे तो उसे रोकनेका प्रबन्ध समाज जरूर करेगा। क्योंकि ऐसे साधनों से अपना फायदा कर लेना मानो सब लोगों के साधारण हित में बाधा डालना है।

व्यापार एक सामाजिक व्यवसाय है। जो आदमी सर्व साधारण से किसी चीज के बेचने की प्रतिज्ञा करता है वह एक ऐसा काम करता है जिससे और लोगों के, और साधारण रीति पर सारे समाज के, हिताहित से सम्बन्ध रहता है। अतएव यदि तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो उसका व्यवसाय समाज के अधिकार में आ जाता है; अर्थात् उसके व्यवसाय और बर्ताव पर समाज की सत्ता पहुँच जाती है। इसी आधार पर एक दफे लोगों ने यह निश्चय किया था कि जितनी चीजें अधिक काम की हैं उनकी कीमत ठहराना और उनके बनाने की रीति के नियम भी जारी करना सरकार का कर्तव्य है। परन्तु बहुत दिनों तक झगड़ा होने के बाद अब यह बात लोगों के ध्यान में अच्छी तरह आ गई है कि बिक्री के लिए माल बनाने, बेचने और मोल लेनेवाले को पूरी स्वतंत्रता देने ही से सस्ता और अच्छा माल मिल सकता है। यदि मोल लेनेवाले को इस बात की आजादी रहेगी कि जहां उसका जी चाहे वहां वह खरीद करे तो माल बनाने और बेचनेवाले जरूर अच्छा माल रक्खेंगे और उसे सस्ता भी बेचेंगे; क्योंकि उनको यह डर रहेगा कि यदि उनका माल अच्छा न होगा, या यदि वे उसे महँगा बेचेंगे, तो लेनेवाला उनके यहां खरीदेगा क्यों? उसे जो कुछ दरकार होगा वह दूसरे से ले लेगा। इसीका नाम व्यापार-स्वातंत्र्य अथवा अनिर्बन्ध व्यापार है। इस पुस्तक में हर व्यक्ति की—हर आदमी की—स्वाधीनता के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त मैंने निश्चित किये हैं उनके प्रमाण यद्यपि अनिर्बन्ध व्यापार से सम्बन्ध रखने-वाले सिद्धान्तों के प्रमाणों से जुदा हैं, तथापि इन दोनों तरह के प्रमाणों का

आधार एक ही सा है—यह नहीं है कि एक का आधार अधिक मजबूत हो और दूसरे का कम। व्यापार से, और बेचने के लिए माल तैयार करने से, सम्बन्ध रखनेवाले जितने नियम हैं उनकी गिनती प्रतिबन्धों में ही है। और जितने प्रतिबन्ध हैं साधारण तौर पर सभी बुरे हैं। यह जरूर है कि व्यापार वाले प्रतिबन्ध आदमियों के उस व्यवसाय से सम्बन्ध रखते हैं जिसका प्रतिबन्ध करना समाज का काम है। परन्तु जिस मतलब से इस तरह के प्रतिबन्ध किये जाते हैं वह मतलब ही नहीं सिद्ध होता। इसी से मैं उन्हें हानिकारक और बुरे समझता हूं। व्यक्तिस्वातंत्र्य और व्यापार-स्वातंत्र्य में फरक है। दोनों के सिद्धान्तों में परस्पर बड़ा अन्तर है। अतएव इस बातको मैं नहीं मानता कि जो प्रतिबन्ध व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए बुरे हैं वे व्यापार-स्वातंत्र्य के लिए भी बुरे हैं। उदाहरण के लिए इन बातों का निर्णय करना एक बिलकुल ही निराला विषय है कि जो लोग धोखा देने के इरादे से अच्छे और बुरे, दोनों तरह के माल को मिलाकर बेचते हैं उनके पञ्जे से मोल लेनेवाले को बचाने के लिए समाज को कितना प्रतिबन्ध करना चाहिए; अथवा सफाई रखने के सम्बध में, या जो लोग ऐसे काम करते हैं जिनमें अंग-भंग होने या प्राण जाने का डर रहता है उनकी रक्षा के लिए उनसे काम लेनेवालों के साथ बन्दोबस्त करने के सम्बन्ध में, कहां तक सख्ती करनी चाहिए। इन स्वतंत्रता-सम्बन्धी बातों का विचार करने में इस बात को याद रखना चाहिए कि लोगों की स्वतंत्रता का प्रतिबन्ध करने की अपेक्षा उनको अपना काम अपनी इच्छा के अनुसार करने देना हमेशा अधिक अच्छा होता है। हां, प्रतिबन्ध करने से यदि समाज का अधिक फायदा होता हो तो तत्त्वदृष्टि से वैसा करना अनुचित नहीं। पर व्यापार के प्रतिबन्ध की कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे लोगों की स्वतंत्रता में प्रतिबन्ध होता है। ऐसी बातों को बचाना चाहिए। उनका प्रतिबन्ध करना उचित नहीं। उदाहरण के लिए ऊपर बयान किया गया शराब पीने के खिलाफ कानून; चीन को अफीम भेजने की मनाई; सब तरह के जहर न बेचने का हुक्म ये सब प्रतिबन्ध अनुचित हैं। मतलब यह कि जिस प्रतिबन्ध से किसी चीज का मिलना दुर्लभ या असम्भव हो जाय वह प्रतिबन्ध मुनासिब और लाभदायक नहीं माना जा सकता। ये प्रतिबन्ध इस कारण अनुचित नहीं कि ये व्यापार के लिए हानिकारक हैं, किन्तु इस कारण अनुचित हैं कि

इनसे उन लोगों की स्वतंत्रता में बाधा आती है जो इन चीजों को मोल लेना चाहते हैं।

इन उदाहरणों में से जहर बेचने के उदाहरणों में एक और बात का भी विचार जरूरी है। वह यह कि इस विषय में पुलिस की दस्तन्दाजी की हद कौनसी होनी चाहिए? जहर खाने से जो दुर्घटनायें या जुर्म होते हैं उनका प्रतिबन्ध करने के लिए लोगों की स्वतंत्रता का कहां तक छीना जाना मुनासिब होगा। जुर्म हो जाने पर मुजरिम का पता लगा कर उसे सजा देना जैसे गवर्नमेंण्ट का बहुत जरूरी काम है वैसे ही जुर्म होने के पहले ही उसे न होने देने की खबरदारी रखना भी है। परन्तु जुर्म हो जाने पर सजा देने के काम की अपेक्षा जुर्म होने के पहले खबरदारी रखने के काम का दुरुपयोग होना अधिक सम्भव है। अर्थात् शासनकर्म की अपेक्षा निवारणकर्म्म में लोगों की स्वतंत्रता में अधिक दस्तंदाजी हो सकती है। क्योंकि आत्मस्वातंत्र्य के आधार पर किया गया आदमी का कोई भी काम ऐसा नहीं हैं जिससे यह बात न साबित की जा सके कि उससे औरों की किसी न किसी तरह की हानि जरूर हो सकती है। अर्थात् जिस स्वतंत्रता के पाने का सब को हक है वही स्वतंत्रता जुर्म का कारण साबित की जा सकती है। परन्तु, यदि कोई सरकारी नौकर या और ही कोई आदमी किसी को खुले तौर पर, कोई जुर्म करने की तैयारी में देखे तो उसका यह धर्म्म नहीं कि जुर्म होने तक वह चुपचाप तमाशा देखता रहे। नहीं, उसको चाहिए कि वह उस आदमी को फौरन रोके और उस जुर्म को न होने दे। दूसरों के प्राण लेने के सिवा और किसी काम के लिए यदि जहर न मोल लिये जाते या न उपयोग में आते, तो उनके बनाने और बचन का प्रतिबन्ध मुनासिब होता। परन्तु यह बात नहीं है; क्योंकि जहर का उपयोग निर्दोष कामों ही में नहीं किन्तु लाभदायक कामों में भी होता है। अतएव यदि उनका बेचना मना कर दिया जायगा तो बुरे कामों की तरह अच्छे कामों में भी विघ्न आवेगा। अपघात, दुर्घटना या जुर्म न होने देने की खबरदारी रखना भी सरकारी अफसरों का काम है। मान लीजिए कि कोई आदमी नीचे से टूटे हुए एक पुल पर से जाना चाहता है। वह उसके पास पहुँच गया है और उस पर अपना पैर रखना ही चाहता है। उस पर पैर रखने और नीचे गिरने में देर नहीं है। इस दृश्य को किसी सरकारी अफसर या और किसी आदमी ने देखा। पर इतना समय नहीं कि वह

पुकार कर उस आदमी को पुल पर पैर रखने से मना करे। ऐसी दशा में उसका काम है कि वह उस आदमी को पकड़ कर पीछे खींच ले। ऐसा करने से उस आदमी की आत्मस्वतंत्रता में जरा भी बाधा नहीं आ सकती। क्योंकि किसी इष्ट या अभिलषित काम के करने ही का नाम स्वतंत्रता है और पुल पर से नदी में गिरना उस आदमी को बिलकुल ही इष्ट नहीं है। परन्तु जिस काम में अनिष्ट होने की सिर्फ सम्भावना रहती है, निश्चय नहीं रहता, उसमें उस अनिष्ट का सामना करना चाहिए या नहीं—इस बात का फैसला सिर्फ वही आदमी कर सकता है जिसका वह काम है। क्योंकि जिस मतलब से वह उस अनिष्ट का सामना करने का विचार करेगा उस मतलब का गौरव या लाघव सिर्फ उसी को अच्छी तरह मालूम रहेगा। अतएव ऐसे विषय में होनेवाले अनिष्ट की उसे सिर्फ सूचना ही दे देना बस है। उस काम को न करने के लिए उस पर जबरदस्ती करना मुनासिब नहीं। परन्तु यदि इस तरह के काम से किसी अल्पवयस्क या ऐसे आदमी का सम्बन्ध हो जिसकी समझ में, सन्निपात इत्यादि किसी रोग या और ही किसी कारण से फरक आगया हो या उत्तेजना अथवा घबराहट के कारण जिसकी विचार-शक्ति बिगड़ गई हो तो बात दूसरी है। इस हालत में उसका जरूर प्रति-बंध करना चाहिए। इन नियमों के अनुसार जहर की बिक्री इत्यादि का विचार करने से यह बात ध्यानमें आ सकती है कि कब उसे बन्द करना उचित होगा और कब अनुचित। अर्थात् किस हालत में जहर बेचना स्वतं-त्रता के सिद्धान्तों के अनुकूल होगा और किस हालत में प्रतिकूल। उदाहरण के तौर पर यदि जहर बेचनेवाले इस बात के लिए मजबूर किये जायँ कि वे जहर की शीशियों पर एक कागज का टुकड़ा चिपका कर उस पर यह लिखें कि उनमें जहर भरा हुआ है तो यह बात स्वाधीनता में बाधा डालनेवाली न होगी। क्योंकि मोल लेनेवाला यह कभी न चाहेगा कि वह इस बात को न जाने कि जिस चीज को वह ले रहा है वह जहर है। परन्तु यदि यह शर्त कर दी जाय कि जिसे जहर मोल लेना हो वह हमेशा डाक्टर की सर्टिफि-केट दाखिल किया करे तो अच्छे कामों के लिए भी उसे जहर मिलना कभी कभी असम्भव हो जायगा, और खर्च तो उसे हमेशा ही अधिक पड़ेगा। जो लोग किसी उपयोगी काम के लिए जहर मोल लेना चाहें उनको उसके लेने में कोई कठिनता न आनी चाहिए। पर जो लोग किसी तरह का जुर्म

करने के इरादे से उसे लेना चाहते हों उनको वह कठिनता आनी चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार कारवाई होने के लिए सिर्फ एक ही साधन है। इस साधन का नाम बेन्थाम ❀ ने "पूर्वसिद्ध साक्ष्य" अर्थात् "पहले ही से तैयार की गई गवाही" रक्खा है। यह नाम बहुत उचित है। इसके अनुसार कानून बनाये जाने से जहर मोल लेनेवालों की स्वाधीनता में अनुचित रीति पर दस्तंदाजी होने का कम डर रहेगा। प्रतिज्ञापत्रों अर्थात् इकरारनामों के सम्बन्ध में इस साधन के आधार पर जिस तरह कारवाई की जाती है वह हर आदमी जानता है। जब कोई इकरारनामा लिखा जाता है तब उस पर दस्तखत किये जाते हैं और गवाह इत्यादि भी कर लिये जाते हैं। यह एक मामूली बात है और मुनासिब भी है। ऐसा करने से इकरारनामे की शर्तें बलपूर्वक भी पूरी कराई जा सकती हैं। और, यदि, पीछे से किसी तरह का झगड़ा फसाद पैदा होता है तो इस बात का सबूत मिलता है कि सचमुच ही इस तरह का इकरार किया गया था और उस समय कोई ऐसी बात नहीं थी जिसके कारण वह इकरार कानून के अनुसार रद समझा जा सके। इससे झूठे इकरारनामे लिखनेवालों का बहुत प्रतिबन्ध होता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि लोग धोखा देकर बेफायदा इकरारनामे लिखा लिया करते हैं। इस तरह के इकरारनामे कानून की दृष्टि से हमेशा रद समझे जाते हैं। पर पूर्वोक्त नियम के अनुसार कारवाई करने से इस तरह की धोखेबाजी का कम डर रहता है। जिन चीजों को पाकर लोग जुर्म कर सकते हैं उनकी बिक्री के विषय में भी इसी तरह के प्रतिबन्ध करने से काम चल सकता है। उदाहरण के लिए इस तरह की

❀ अठारहवें शतक में बेन्थाम नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार इंग्लैंड में हुआ है। उसे एकान्तवास बहुत पसन्द था। इसीसे वह अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिख सका। राजनीति और धर्म्मशास्त्र में वह बहुत प्रवीण था। उपयोगिता-तत्त्व नाम का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ उसने लिखा है। गवर्नमेंट किसे कहते हैं, कानून किसे कहते हैं, नीति और कानून के सिद्धान्त कैसे होने चाहिए, इत्यादि विषयों पर उसने कई ग्रन्थ लिखे हैं। बेन्थाम की प्रतिभा बहुत प्रखर थी। बीस ही वर्ष की उम्र में उसने एम० ए० पास किया था। १८३२ ईसवी के लगभग, कोई ८० वर्ष की उम्र में, उसकी मृत्यु हुई।

चीजें बेचनेवाला एक रजिस्टर खोले। उसमें वह बिक्री का ठीक ठीक समय, मोल लेनेवाले का नाम और पता, और बिकी हुई चीज की तौल और किस्म लिख ले। मोल लेनेवाले से वह यह भी पूछ ले कि किस काम के लिए वह चीज दरकार है और जो जवाब उसे मिले उसको भी वह अपने रजिस्टर में दर्ज करले। यदि किसी डाक्टर का लिखा हुआ नुसखा न हो तो बेचनेवाला एक आदमी को गवाह भी करले। इससे यह लाभ होगा कि यदि पीछे से यह बात प्रकट हो जाय कि बिकी हुई चीज किसी बुरे काम में लाई गई है, अर्थात् उसकी सहायता से कोई जुर्म हुआ है तो गवाह इस बात को साबित कर देगा कि अमुक आदमी ने उस चीज को मोल लिया था। इस तरह के नियम करने से जो लोग कोई ऐसी चीज किसी उपयोगी काम के लिए मोल लेना चाहेंगे उनको उसके मिलने में विशेष कठिनता न पड़ेगी। परन्तु यदि कोई यह चाहेगा कि उस चीज का बुरा उपयोग करके मैं पकड़ा न जाऊं तो उसे अपने बचाव के लिए बहुत बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ेगा।

समाज को इस का हक है, और वह हक स्वाभाविक भी है कि उसके विरुद्ध जितने अपराध—जितने जुर्म—होनेवाले हों उनसे बचने के लिए वह पहले ही से प्रबन्ध करे। इसके साथ ही समाज का यह भी कर्तव्य है कि वह हर आदमी के निजसम्बन्धी बुरे बर्ताव या दुराचार के विषय में किसी बरह का प्रतिबन्ध करने, या किसी तरह की सजा देने, की खटपट न करे। क्योंकि ऐसा करना उसको मुनासिब नहीं। पर इस दूसरे सिद्धान्त की हद पहले सिद्धान्त के ही आधार पर नियत की जा सकती है। अर्थात् अपनी हानि होने से अपने को बचाने का जो हक समाज को है उसी हक के आधार पर दूसरे सिद्धान्त की हद का अन्दाज किया जा सकता है। एक उदाहरण लीजिए। शराब पीकर उन्मत्त होना, मामूली तौर पर, कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिए कानूनी प्रतिबन्ध दरकार हो। परन्तु उन्मत्त होकर यदि किसी आदमी ने किसी दूसेर आदमी को पहले कभी तकलीफ पहुँचाई हो, और यह बात साबित भी हो चुकी हो, तो मेरी राय में, कानून के अनुसार उसका विशेष प्रतिबन्ध करना बहुत मुनासिब होगा। यदि वह शराब पीकर फिर उन्मत्त हो तो उसे सजा मिलनी चाहिए; और, यदि, उन्मत्तता की हालत में वह दुबारा कोई जुर्म करे तो पहले की अपेक्षा उसे अधिक कड़ी सजा दी जानी चाहिए। उन्मत्त होते ही जो लोग दूसरों को तकलीफ देने

पर उतारू हो जाते हैं—अर्थात् उन्माद के कारण दूसरों पर अत्याचार करने की स्फूर्ति जिन लोगों में सहसा जागृत हो उठती है—उनका उन्मत्त होना मानो दूसरोंका अपराध करना है। इसी तरह सिर्फ आलसीपन के कारण किसीको सजा देना उस पर जुल्म करना है। यह कोई जुर्म नहीं है जिसके लिए सजा दी जा सके। परन्तु यदि किसी ऐसे आदमी में आलसीपन हो जिसे और लोगों का आश्रय हो, अथवा आलसीपन के कारण जो आदमी किसी इकरार को पूरा न कर सकता हो, तो बात दूसरी है। ऐसी हालतों में उसे सजा देना जरूर मुनासिब होगा। यदि कोई आदमी आलसीपन या और किसी कारण से, जो निवारण किया जा सकता हो, आपने बालबच्चों की परवरिश न कर सके; या और कोई काम, जिसे करना उसका कर्तव्य हो, न कर सके; तो, और साधनों के अभाव में, जबरदस्ती मेहनत कराके उससे अपने कर्तव्यों को पूरा कराना अन्याय नहीं। इस तरह की जबरदस्ती की गिनती जुल्म में नहीं हो सकती।

फिर, बहुत से काम ऐसे भी हैं जो सिर्फ करनेवाले ही को प्रत्यक्ष हानि पहुँचाते हैं और लोगों को नहीं। इससे ऐसे कामों की रोक कानून से नहीं की जा सकती। परन्तु बुरे कामों को खुले मैदान करना तहजीब के खिलाफ है—उससे सभ्यता भङ्ग होती है। अतएव ऐसे कामों की गिनती दूसरों से सम्बन्ध रखनेवाले अपराधों में हो जाती है। इस हालत में उनका प्रतिबन्ध न्याय-सङ्गत होता है। लोकलज्जा के विरुद्ध जितने अपराध हैं उनकी गिनती इसी तरह के अपराधों में है। इस तरह के अपराधों के विषय में यहां पर अधिक लिखने की जरूरत नहीं। क्योंकि एक तो प्रस्तुत विषय से उनका सम्बन्ध बहुत दूर का है; फिर लोकलज्जा का दोष और भी ऐसी बहुत सी बातों पर लग सकता है जो यथार्थ में दूषित नहीं हैं, अथवा जो दूषित मानी ही नहीं गई हैं।

यहां पर मुझे एक और प्रश्न का ऐसा उत्तर देना है जो मेरे प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल हो—अर्थात् जो उन सिद्धान्तों से मेल खाता हो। निज से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ काम दूषणीय माने गये हैं। परन्तु हर आदमी को अपने निज के कामकाज अपनी इच्छा के अनुसार करने की स्वतंत्रता है। इसी खयाल से समाज ऐसे कामों का प्रतिबन्ध नहीं करता; वह किसीसे यह नहीं कहता कि तुम ऐसे काम मत करो; और न वह ऐसे

कामों के लिए किसीको सजा ही देता है। क्योंकि इस तरह के कामों से जो हानि होती है वह सिर्फ करनेवाले ही को सहन करनी पड़ती है। उसका बोझ खुद उसीके सिर रहता है। अब प्रश्न यह है कि इस तरह के काम करनेवालों को जैसे उनके करने की स्वतंत्रता है वैसे ही उनको करने के लिए उपदेश या उत्तेजना देने की दूसरों को भी स्वतंत्रता है या नहीं? कुछ काम ऐसे हैं जिनसे सिर्फ करनेवालों ही की हानि की सम्भावना है। उन्हें यदि वे चाहें तो कर सकते हैं। पर यदि दुसरा आदमी किसीसे कहे कि—"तुम इस काम को करो," या उसे करने के लिए किसी तरह की वह उत्तेजना दे, तो क्या उसे ऐसा करने की भी स्वतंत्रता है? इस प्रश्न का उत्तर देना सहज नहीं है, क्योंकि यह बात कठिनता से खाली नहीं है। कोई काम करने के लिए दूसरे को उपदेश देना, या उससे प्रार्थना करना, एक ऐसी बात नहीं है जिसकी गिनती निज की बातों में हो सके। वास्तव में ऐसी बातें आत्म-विषयक बर्ताव की परिभाषा के भीतर नहीं आ सकती। किसीको उपदेश देना अथवा प्रलोभन या लालच दिखलाना सामाजिक काम है। अतएव लोगों का खयाल है कि दूसरों से सम्बध रखनेवाले और कामों की तरह वह काम भी सामाजिक बन्धन का पात्र है। अर्थात् इसका भी बन्धन समाज के हाथ में है। परन्तु यह खयाल गलत है। यह भ्रम मात्र है। थोड़ा सा विचार करने से यह भ्रम दूर हो जायगा। कुछ देर सोचने से यह बात समझ में आ जायगी कि उपदेश और उत्तेजन यद्यपि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की परिभाषा के ठीक ठीक भीतर नहीं आते, तथापि जिन प्रमाणोंके आधार पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की स्थापना है वही प्रमाण उपदेश और उत्तेजन की बातों के भी आधार हैं। जिन प्रमाणों के आधार पर लोगों को इस बात की स्वतंत्रता है कि जिन कामों का और लोगों से सम्बन्ध नहीं है उनको, उनके हानि लाभ की जिम्मेदारी अपने ऊपर रखकर, जिस तरह वे चाहें कर सकते हैं, उन्हीं प्रमाणों के आधार पर उनको इस बात की भी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए कि दूसरों से सलाह करके या उनकी राय लेकर वे इस बात का निश्चय करें कि क्या करना उनके लिए अच्छा होगा और क्या न अच्छा होगा। जिस आदमी को जिस काम के करने की आज्ञा है उसे उस काम के सम्बन्ध में औरों से सलाह लेने की भी आज्ञा होनी चाहिए। यदि कोई काम करना मुनासिब है, तो उस काम के विषय में पूछपाछ करना और सलाह लेना भी मुनासिब है। जब सलाह देने-

वाला अपनी सलाह से खुद फायदा उठाता है; या जब वह उन बातों को जिन्हें समाज और सरकार बुरा समझती है, करने की सलाह देते फिरना, पेट के लिए, अपना पेशा कर लेता है; तब यह विषय जरूर सन्देहास्पद हो जाता है। तब यह खयाल पैदा होता है कि ऐसे सलाहकार—ऐसे उपदेशक—को सलाह या उपदेश देने की स्वतंत्रता होनी चाहिए या नहीं। ऐसी हालत में एक पेचीदा बात पैदा हो जाती है। क्योंकि जिन बातों को समाज बुरा समझता है उनका पक्ष लेने, और अपना पेट पालने के लिए उन्हें करने, की दूसरों को सलाह देनेवाले लोगों का एक वर्ग ही जुदा बन जाता है। अतएव इस बात के निर्णय की जरूरत होती है कि समाज से इस तरह प्रतिकूलता करनेवाले वर्ग को बनने देना चाहिए या नहीं। एक उदाहरण लीजिए। जुआ खेलना और व्यभिचार करना सहन किया जा सकता है। पर क्या कुटनापन करने या जुआ खेलनेवालों को किराये पर देने के लिए मकान रखनेवालों का पेशा भी सहन किया जा सकता है? जिन सिद्धान्तों के आधार पर इस बात का निर्णय किया जाता है कि लोगों को किन बातों के करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए उनकी हद है। यह हद जिस जगह एक दूसरी से मिलती है उस जगह जो प्रश्न पैदा होते हैं उन्हीं में से एक प्रश्न यह भी है। अतएव यह बात सहसा ध्यान में नहीं आती कि यह प्रश्न—यह बात—किस सिद्धान्त के भीतर है। अर्थात् इसका सम्बन्ध स्वतंत्रता देनेवाले सिद्धान्त से है या स्वतंत्रता न देनेवाले से। दोनों सिद्धान्तों के अनुकूल दलीलें पेश की जा सकती हैं। स्वतंत्रता देने के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि जिस काम को मामूली तौर पर करने की मनाई नहीं है उसे यदि कोई पेशे के तौर पर करने लगा, और उसकी मदद से वह अपना पेट पालने या फायदा उठाने लगा, तो क्या इतने ही से वह अपराधी हो गया? या तो आप उसको इस काम के करने की पूरी पूरी स्वतंत्रता ही दीजिये या उसको इसे करने से बिलकुल रोक ही दीजिये। स्वतंत्रता-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की सिद्धि के लिए इतना वादविवाद हुआ वे यदि ठीक हैं तो, समाज के रूप में, समाज को यह अधिकार नहीं कि वह व्यक्तिविषयक किसी बात को क़ानून के विरुद्ध कह सके। इसलिए वह समझाने बुझाने या सलाह देने के आगे नहीं जा सकता। इस विषय में यदि समाज कुछ कर सकता है तो सिर्फ इतना ही कर सकता है। अतएव हर आदमी को अधिकार है कि चाहे

ह दूसरे को कोई काम करने की सहायता दे, चाहे न करने की। समाज
से नहीं रोक सकता। यह दलील स्वतंत्रता देनेके पक्ष में हुई। पर जो लोग
वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं हैं वे और ही तरह की दलील पेश करेंगे। वे
हेंगे कि यद्यपि यह सच है कि, जिन बातों से अकेले एक ही आदमी के
ित या अहित से सम्बन्ध है उनको रोकने, या सजा देने के इरादे से सत्ता
 जोर पर, बुरा या भला ठहराने, का अधिकार समाज को नहीं है; तथापि
माज या सरकार को यदि कोई बात बुरी जान पड़े तो उसे इतना अधि-
ार जरूर है कि वह उसके बुरे या भले होने के प्रश्न को विवादास्पद समझे
े। यदि यह मान लिया जाय तो जो लोग निरपेक्ष और पक्षपातहीन होकर
हीं, किन्तु अपने फायदे के लिए—अपना पेट भरने के लिए—दूसरों को,
रकार की समझ के प्रतिकूल, उपदेश देते हैं उनके उपदेश के असर से
ोगों को बचाने के लिए यदि समाज या सरकार कोशिश करे तो वह कोशिश
नुचित नहीं कही जा सकती। जो लोग अपने फायदे के लिये दूसरों को
पदेश देते हैं उनको वैसा करने से यथासम्भव रोकना, और सब लोगों
ो जो मार्ग—अच्छा या बुरा—पसन्द हो उसीसे उन्हें चलने देना
नासिब है। ऐसा करने से किसीकी कुछ हानि नहीं। एक उदाहरण
ीजिए। खेल से सम्बन्ध रखनेवाला कानून यद्यपि ऐसा है कि उसके अनु-
ार इस बात का निश्चय ठीक ठीक नहीं हो सकता कि कौन खेल जा और
ौन बेजा है; और यद्यपि हर आदमी अपने घर में, या परस्पर एक दूसरे
 घरों में, किसी ऐसी जगह जो चन्दे से खोली गई हो और जहां सिर्फ
न्दा देनेवाली मित्र-मंडली इकट्ठा होती हो, जुआ तक खेल सकती है;
थापि सर्वसाधारण के लिए जुआ खेलने के अड्डे खोलने की मनाई करना
नुचित नहीं। यह जरूर सच है कि इस तरह की मनाई से पूरी पूरी
ामयाबी कभी नहीं हो सकती। क्योंकि पुलिस को चाहे जितना अधिकार
या जाय और वह चाहे जितनी सख्ती करे, तथापि, किसी न किसी बहाने,
आ खेलने के अड्डे हमेशा खोले ही जाते हैं। परन्तु इस तरह के जुआ-घर
ूपी हुई जगहों में होते हैं और जो लोग उनको खोलते हैं वे इस बात की
बरदारी रखते हैं कि उनका पता कहीं सरकारी अफसरों को न लग जाय।
सलिए जो लोग पक्के जुआरी नहीं हैं और ऐसे अड्डों की तलाश में नहीं
ते उनको छोड़ कर और आदमियों को उनका पता नहीं चलता। खुले

वाला अपनी सलाह से खुद फायदा उठाता है; या जब वह उन बातों को जिन्हें समाज और सरकार बुरा समझती है, करने की सलाह देते फिरना, पेट के लिए, अपना पेशा कर लेता है; तब यह विषय जरूर सन्देहास्पद हो जाता है। तब यह खयाल पैदा होता है कि ऐसे सलाहकार—ऐसे उपदेशक—को सलाह या उपदेश देने की स्वतंत्रता होनी चाहिए या नहीं। ऐसी हालत में एक पेचीदा बात पैदा हो जाती है। क्योंकि जिन बातों को समाज बुरा समझता है उनका पक्ष लेने, और अपना पेट पालने के लिए उन्हें करने, की दूसरों को सलाह देनेवाले लोगों का एक वर्ग ही जुदा बन जाता है। अतएव इस बात के निर्णय की जरूरत होती है कि समाज से इस तरह प्रतिकूलता करनेवाले वर्ग को बनने देना चाहिए या नहीं। एक उदाहरण लीजिए। जुआ खेलना और व्यभिचार करना सहन किया जा सकता है। पर क्या कुटनापन करने या जुआ खेलनेवालों को किराये पर देने के लिए मकान रखनेवालों का पेशा भी सहन किया जा सकता है? जिन सिद्धान्तों के आधार पर इस बात का निर्णय किया जाता है कि लोगों को किन बातों के करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए उनकी हद है। यह हद जिस जगह एक दूसरी से मिलती है उस जगह जो प्रश्न पैदा होते हैं उन्हीं में से एक प्रश्न यह भी है। अतएव यह बात सहसा ध्यान में नहीं आती कि यह प्रश्न—यह बात—किस सिद्धान्त के भीतर है। अर्थात् इसका सम्बन्ध स्वतंत्रता देनेवाले सिद्धान्त से है या स्वतंत्रता न देनेवाले से। दोनों सिद्धान्तों के अनुकूल दलीलें पेश की जा सकती हैं। स्वतंत्रता देने के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि जिस काम को मामूली तौर पर करने की मनाई नहीं है उसे यदि कोई पेशे के तौर पर करने लगा, और उसकी मदद से वह अपना पेट पालने या फायदा उठाने लगा, तो क्या इतने ही से वह अपराधी हो गया? या तो आप उसको इस काम के करने की पूरी पूरी स्वतंत्रता ही दीजिये या उसको इसे करने से बिलकुल रोक ही दीजिये। स्वतंत्रता-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की सिद्धि के लिए इतना वादविवाद हुआ वे यदि ठीक हैं तो, समाज के रूप में, समाज को यह अधिकार नहीं कि वह व्यक्तिविषयक किसी बात को क़ानून के विरुद्ध कह सके। इसलिए वह समझाने बुझाने या सलाह देने के आगे नहीं जा सकता। इस विषय में यदि समाज कुछ कर सकता है तो सिर्फ इतना ही कर सकता है। अतएव हर आदमी को अधिकार है कि चाहे

वह दूसरे को कोई काम करने की सहायता दे, चाहे न करने की। समाज उसे नहीं रोक सकता। यह दलील स्वतंत्रता देनेके पक्ष में हुई। पर जो लोग स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं हैं वे और ही तरह की दलील पेश करेंगे। वे कहेंगे कि यद्यपि यह सच है कि, जिन बातों से अकेले एक ही आदमी के हित या अहित से सम्बन्ध है उनको रोकने, या सजा देने के इरादे से सत्ता के जोर पर, बुरा या भला ठहराने, का अधिकार समाज को नहीं है; तथापि समाज या सरकार को यदि कोई बात बुरी जान पड़े तो उसे इतना अधिकार जरूर है कि वह उसके बुरे या भले होने के प्रश्न को विवादास्पद समझे रहे। यदि यह मान लिया जाय तो जो लोग निरपेक्ष और पक्षपातहीन होकर नहीं, किन्तु अपने फायदे के लिए—अपना पेट भरने के लिए—दूसरों को, सरकार की समझ के प्रतिकूल, उपदेश देते हैं उनके उपदेश के असर से लोगों को बचाने के लिए यदि समाज या सरकार कोशिश करे तो वह कोशिश अनुचित नहीं कही जा सकती। जो लोग अपने फायदे के लिये दूसरों को उपदेश देते हैं उनको वैसा करने से यथासम्भव रोकना, और सब लोगों को जो मार्ग—अच्छा या बुरा—पसन्द हो उसीसे उन्हें चलने देना मुनासिब है। ऐसा करने से किसीकी कुछ हानि नहीं। एक उदाहरण लीजिए। खेल से सम्बन्ध रखनेवाला कानून यद्यपि ऐसा है कि उसके अनुसार इस बात का निश्चय ठीक ठीक नहीं हो सकता कि कौन खेल जा और कौन बेजा है; और यद्यपि हर आदमी अपने घर में, या परस्पर एक दूसरे के घरों में, किसी ऐसी जगह जो चन्दे से खोली गई हो और जहां सिर्फ चन्दा देनेवाली मित्र-मंडली इकट्ठा होती हो, जुआ तक खेल सकती है; तथापि सर्वसाधारण के लिए जुआ खेलने के अड्डे खोलने की मनाई करना अनुचित नहीं। यह जरूर सच है कि इस तरह की मनाई से पूरी पूरी कामयाबी कभी नहीं हो सकती। क्योंकि पुलिस को चाहे जितना अधिकार दिया जाय और वह चाहे जितनी सख्ती करे, तथापि, किसी न किसी बहाने, जुआ खेलने के अड्डे हमेशा खोले ही जाते हैं। परन्तु इस तरह के जुआ-घर छिपी हुई जगहों में होते हैं और जो लोग उनको खोलते हैं वे इस बात की खबरदारी रखते हैं कि उनका पता कहीं सरकारी अफसरों को न लग जाय। इसलिए जो लोग पक्के जुआरी नहीं हैं और ऐसे अड्डों की तलाश में नहीं रहते उनको छोड़ कर और आदमियों को उनका पता नहीं चलता। खुले

मैदान जुआ खेलना मना करने से और लोग इस बुरी आदत से बचते हैं। समाज को इतना ही फायदा काफी समझना चाहिए। इसके आगे जाने का उसे अधिकार भी नहीं। यह दूसरे पक्षवालों की दलील हुई। यह दलील बहुत मजबूत है—खूब सबल है। परन्तु यह कहने का साहस मैं नहीं कर सकता कि इस दलील के आधार पर मुख्य अपराधी को छोड़ देना और अपराध करने की उत्तेजना देनेवाले को सजा देना मुनासिब होगा। इसे स्वीकार करने में अन्याय होता है—बात नीतिविरुद्ध हो जाती है। इस दलील के अनुसार काररवाई करने से कुटनापन करनेवाले को सजा होगी, पर व्यभिचार करनेवाला साफ छूट जायगा। इसी तरह जुआ-घर खोलनेवाला पकड़ा जायगा, पर जुआ खेलनेवाला बच जायगा। इसी से इस विषय को अभी विवादास्पद रहने देना ही अच्छा होगा। इस दलील के आधार पर क्रय-विक्रय के मामूली व्यापार में दस्तंदाजी करना—अर्थात् किसी चीज के बेचने या मोल लेने की मनाई कर देना—और भी अधिक अनुचित बात होगी। जितनी चीजें बाजार में बिकती हैं उनको बहुत अधिक खाजाने से नुकसान होने का डर रहता है। परन्तु बेचनेवाला हमेशा यही चाहता है कि उसकी विक्री बढ़े और लोग उन चीजों को खूब खायँ। अर्थात् वह बिकी हुई चीजों के दुरुपयोग को उत्तेजित करता है। पर इस आधार पर शराब की विक्री बन्द कर देना कभी उचित नहीं हो सकता। क्योंकि अधिक शराब पी कर उसका दुरुपयोग करनेवालों को उत्तेजन देने में यद्यपि दुकानदारों का फायदा है, तथापि जो लोग शराब का सदुपयोग करते हैं, अर्थात् उसे अच्छे काम में लगाते हैं, उनके लिए इन दुकानदारों की जरूरत भी है। परन्तु दुरुपयोग करनेवालों को जो ये लोग उत्तेजना देते हैं उससे समाज की हानि जरूर होती है। यह हानि समाज के लिए बहुत ही अनिष्टकारक है। इससे ऐसे दुरुपयोग को बन्द करने के लिए दुकानदारों से जमानत लेना या इकरारनामा लिखाना बहुत मुनासिब है। इस तरह के बन्धन से दुकानदारों की स्वतंत्रता में दस्तंदाजी नहीं होती। पर, हां, यदि इस तरह के बन्धन से समाजका कोई फायदा न होता तो उसकी गिनती दस्तंदाजी में जरूर होती।

यहां पर एक और प्रश्न उठता है। वह यह है कि जो काम कर्ता के लिए हानिकारक है उसे ही यदि वह चाहे, और उससे किसी दूसरे का

सम्बन्ध न हो, तो उसे उस काम को करने देना मुनासिब जरूर है । पर ऐसे काम को अप्रत्यक्ष रीति से प्रतिबन्ध करना गवर्नमेंट के लिए उचित है या नहीं ? उदाहरण के लिए, शराब पीकर मतवाले होने के साधनों को कम करने या शराब बेचने की दुकानों की संख्या कम करके शराबियों के लिए उसका मिलना कुछ कठिन कर देने, के उपायों की योजना करना गवर्नमेंट को उचित है या नहीं ? और अनेक व्यावहारिक प्रश्नों की तरह इस प्रश्न के भी बहुत से भेद किये जाने की जरूरत है । नशे की चीजों पर इस मतलब से अधिक कर, अर्थात् टेक्स लगा देना कि उनके मिलने में लोगों को कठिनता पड़े, एक ऐसी बात है जो ऐसी चीजों की बिक्री को बिलकुल ही बन्द कर देने से थोड़ी ही भिन्न है । इन दोनों बातों में बहुत कम फरक है । अतएव, यदि ऐसी चीजों की बिक्री बिलकुल ही बन्द कर देना उचित माना जायगा तो कर लगाना भी उचित माना जायगा अन्यथा नहीं। जिस चीज की कीमत जितनी अधिक बढ़ा दी जायगी उतनी ही अधिक मानो उन लोगों के लिए वह मनाई का काम देगी जो उसे उतनी कीमत देकर, लेनेका सामर्थ्य नहीं रखते । परन्तु जो उसे उतनी कीमत देकर भी लेने का सामर्थ्य रखते हैं उनको अपनी इच्छा तृप्त करने के लिए मानो उतना दण्ड अर्थात् जुरमाना देना पड़ेगा । समाज और व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ कर्तव्य ऐसे हैं जिनका पालन करना कानून और नीति के अनुसार हर आदमी का धर्म्म है । इन कर्तव्यों को पूरा करने के बाद हर आदमी को इस बात का हक है कि अपनी बची हुई आमदनी को अपने आराम के लिए वह जिस तरह और चाहे जिस काम में खर्च करे । इन दलीलों को सुनकर बिना अच्छी तरह विचार किये शायद कोई यह कहे कि आमदनी बढ़ाने के लिए नशे की चीजों पर अधिक कर लगाना अनुचित है। पर यह बात याद रखना चाहिए कि सरकारी आमदनी बढ़ाने की जरूरत होने पर बिना कर बढ़ाये काम ही नहीं चल सकता । आमदनी बढ़ाने का एक मात्र यही उपाय है । बहुत से देशों में जो कर लगाया जाता है उसके अधिक भाग को, अप्रत्यक्ष रीति से, वसूल करने की जरूरत पड़ती है । अतएव खाने पीने की भी कुछ चीजों पर गवर्नमेंट को लाचार हो कर कर लगाना पड़ता है । इस कारण, ऐसी चीजों के उपयोग की थोड़ी बहुत प्रतिबन्धकता जरूर हो जाती है । अर्थात् कीमत बढ़ जाने से कुछ आदमी ऐसी चीजें

मोल नहीं ले सकते। यह उनके लिए मनाई के ही बराबर है। इस कारण गवर्नमेंट का यह धर्म है कि कर लगाने के पहले वह इस बात का अच्छी तरह विचार करले कि किन चीजों के बिना लोगों का काम चल सकता है और किनके बिना नहीं चल सकता। जिन चीजों का एक नियमित मात्रा से अधिक उपयोग करने से लोगों की हानि होने का निःसन्देह डर हो उन पर अधिक कर लगाना गवर्नमेंट का कर्तव्य है। अतएव नशे की चीजों पर कर लगाकर यदि गवर्नमेंट को अपनी आमदनी बढ़ाने की जरूरत हो तो जितने कर से गवर्नमेंटका काम होता हो उतना कर लगाना उचित ही नहीं, किन्तु प्रशंसनीय भी है।

यहां पर एक और बात का विचार करना है। वह यह कि नशे की चीजों को न्यूनाधिक परिमाण में बेचने का पूरा पूरा हक कुछ ही आदमियों को देना चाहिए या नहीं। इसका जवाब उस काम के अनुसार होगा जिसके खयाल से बेचने का प्रतिबन्ध किया गया होगा। अर्थात् जैसा काम होगा वैसा ही जवाब भी होगा। जहां सब लोगों की आमद रफ्त रहती है—अर्थात् जो सार्वजनिक जगंह हैं—वहां पुलिस रखने की जरूरत होती है। पर जहां मादक पदार्थ, अर्थात् नशे की चीजें, बिकती हैं वहां तो पुलिस की और भी अधिक जरूरत होती है; क्योंकि समाज के विरुद्ध जो अपराध होते हैं उनका बीज बहुत करके ऐसी ही जगहों में बोया जाता है—वहीं ऐसे अपराधों की अधिक उत्पत्ति होती है। अतएव नशे की चीजों के बेचने का अधिकार सिर्फ उन्हीं लोगों को चाहिए जो सभ्य और अच्छे चालचलन के हैं और जो अपनी भलमंसी की जमानत दे सकते हैं। यदि बिकने की जगह पर ही लोग ऐसी चीजें खर्च करते हों तो इस बात का खयाल रखना और भी जरूरी बात है। दूकान खोलने और बन्द करने का ऐसा समय नियत कर देना मुनासिब होगा जिसमें निगरानी रखनेवाले अफसर, या पुलिस के अधिकारी, अच्छी तरह देख भाल कर सकें। दुकानदार के अयोग्य होने, या जान बूझकर उसके आंख छिपाने, से यदि बार बार झगड़े फसाद हों, या जुर्म करने के इरादे से वहां लोग इकट्ठे हों, तो नशे की चीजों के बेचने का लाइसंस छीन कर दूकान बन्द कर देना चाहिए। इससे अधिक और कोई प्रतिबन्ध करना, मेरी समझ में तत्त्वदृष्टि से अन्याय होगा। एक उदाहरण लीजिए। शराब पीने के लालच को घटाने, और शराब की दुकानों तक

पहुँचने में बाधा डालने, के इरादे से यदि दुकानों की संख्या कम कर दी जाय तो जो लोग शराब का दुरुपयोग करते हैं उनके कारण सब लोगों को तकलीफ उठाना पड़े । अर्थात् ऐसा करने से कुछ आदमियों के कारण सब को शराब लेने में असुभीता हो और गेहूं के साथ घुन के भी पिस जाने की मसल पूरी हो जाय । इस तरह का प्रतिबन्ध सिर्फ उस समाज के लिए उपयोगी और उचित हो सकता है जिसमें कामकाजी लोग लड़कों या असभ्य जंगली आदमियों की तरह अशिक्षित होते हैं; अतएव जिन्हें भविष्यत् में स्वाधीनता पाने के योग्य बनाने के लिये, हर बात में, नियमबद्ध करने की जरूरत रहती है । परन्तु किसी भी स्वाधीन देशमें मेहनत मजदूरी करनेवालों के साथ इस नियम के अनुसार खुले तौर पर बर्ताव नहीं किया जाता । और कोई आदमी, जिसे स्वाधीनता की सच्ची कीमत मालूम है, उनके साथ इस नियम के अनुसार वर्ताव किये जाने की राय भी न देगा । परन्तु यदि उनको स्वाधीनता की शिक्षा देने, और स्वाधीन आदमियों की तरह उनके साथ बर्ताव करने, के और सब साधनों की योजना निष्फल हुई हो और यह बात निर्विवाद सिद्ध होगई हो कि उनके साथ वही बर्ताव मुनासिब है जो लड़कों के साथ किया जाता है, तो बात ही दूसरी है । इस हालत में पूर्वोक्त नियम के अनुसार बर्ताव किया जा सकता है । जिस बात के विचार की जरूरत है उसके विषय में सिर्फ यह कह देना कि इसमें पूर्वोक्त नियम के अनुसार कारखाई होनी चाहिए सर्वथा असङ्गत है । क्योंकि कहने मात्र से यह नहीं साबित होता कि और सब साधनों के अनुसार बर्ताव करने की कोशिश निष्फल हुई है । नहीं, उसकी निष्फलता को सप्रमाण साबित करना चाहिए। आदमी अकसर यह कहते हैं कि हम लोगों में यही चाल है, अथवा हम लोगों के यहां ऐसा ही व्यवहार होता आया है । पर यह कहना कोई कहना है ? इसमें कोई अर्थ नहीं । यह प्रलाप मात्र है । इस देशमें जितनी सभायें, संस्थायें या समाज हैं वे सब असम्बद्ध बातों का समूह हैं । अतएव जो बातें प्रतिबन्धहीन और परम्पराप्राप्त राज्यों में ही देख पड़नी चाहिए वे हम लोगों के आचार और व्यवहार में घुस गई हैं । और मुशकिल यह है कि यहां की सभायें सब स्वाधीन हैं । इसलिए प्रतिबन्ध की बातों से नैतिक-शिक्षा-सम्बन्धी लाभ भी, जैसा चाहिए, नहीं होता । क्योंकि काफी तौर पर ऐसी बातों का प्रतिबन्ध ही नहीं किया जा सकता ।

इस पुस्तक में, पहले कहीं पर, यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि जिन बातों का सम्बन्ध और लोगों से नहीं है उनके विषय में हर आदमी स्वतंत्र है। वह उन बातों को जिस तरह चाहे कर सकता है। इसी नियम के अनुसार यदि कुछ आदमी मिल कर एक समाज की स्थापना करें, और जिन बातों से उस समाज के मेम्बरों को छोड़ कर और किसीका सम्बन्ध नहीं है उनको यदि वे, एक दूसरे की अनुमति से करना चाहें तो कर सकते हैं। ऐसा करने के लिए वे सर्वथा स्वतंत्र हैं। ऐसे समाज के मेम्बरों की राय में जब तक कोई फेरफार नहीं होता तब तक इस विषय में कोई बाधा नहीं आती—अर्थात् तब तक उनकी स्वतंत्रता बनी रहती है। परन्तु राय एक ऐसी चीज है कि वह हमेशा कायम नहीं रहती; वह बदला करती है। अतएव जिन बातों से सिर्फ किसी समाज-विशेष ही का सम्बन्ध है उनके विषय में भी समाज के सब आदमियों को परस्पर एक दूसरे से इकरार कर लेना चाहिए। इस तरह का इकरार हो जाने पर उनसे उसे पूरा कराना मुनासिब है। पीछे से चाहे उसे पूरा करने की उनकी इच्छा न हो, तो भी, नियम यही है कि वे उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध भी पूरा करें। उस समय उनकी इच्छा की परवा करना न्यायसङ्गत नहीं। परन्तु जितने देश हैं प्रायः सब की कानूनी किताबों में इस नियम के अपवाद पाये जाते हैं। अर्थात् बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनके विषय में इस नियम से काम नहीं लिया जाता। जिस इकरार—जिस प्रतिज्ञा—से किसी तीसरे आदमी का नुकसान होने का डर होता है सिर्फ उसे ही न पूरा करने की जिम्मेदारी से वे नहीं बरी कर दिये जाते; किन्तु जिस प्रतिज्ञा से परस्पर दो आदमियों में से एक का भी नुकसान होने का डर होता है उसकी जिम्मेदारी से भी वे कभी कभी बरी कर दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ इँगलैंड, और प्रायः दूसरे सभ्य देशों में भी, यदि कोई आदमी गुलाम बनाये जाने के लिए बिकने या बेचे जाने का इकरार करे, तो उसका वह इकरार व्यर्थ होगा। ऐसा इकरार न तो कानून ही के बल पर पूरा किया जा सकेगा और न लोकसम्मति ही के बल पर। अपनी इच्छा के अनुसार लोगों के ऐहिक जीवन की यथेच्छ व्यवस्था करने के हक में इस तरह बाधा डालने का कारण स्पष्ट है। निज की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखनेवाले इस चरम सीमा के उदाहरण में प्रतिबन्ध करने का कारण तो और भी अधिक स्पष्ट है। जिस बात से दूसरों

का सम्बन्ध नहीं है उसके विषय में किसी की स्वतंत्रता में दस्तन्दाज़ी न करने का मुख्य कारण सिर्फ स्वतंत्रता-सम्बन्धी प्रेम है। जब कोई आदमी खुशी से कोई स्थिति विशेष पसन्द कर लेता है तब उससे यह सूचित होता है कि उसे वह स्थिति इष्ट या लाभदायक जरूर मालूम हुई होगी; अथवा, यदि यह, नहीं तो कम से कम वह सह्य, अर्थात् सहन करने के लायक, तो जरूर ही जान पड़ी होगी। अतएव, सब बातों का विचार करके, उसे उस काम को करने, अथवा उस स्थिति में रहने देने, से ही उसका हित होगा। परन्तु जो आदमी गुलाम बनने के लिए अपने को बेचता है वह उसके साथ ही अपनी स्वतंत्रता को भी बेच देता है। अतएव अपने निज के सब कामों को स्वतंत्रता-पूर्वक करने का उसे जो हक है उससे वह हाथ धो बैठता है। इसलिए जिस उद्देश से उसे अपनी मनमानी व्यवस्था करने देना न्याय्य समझा जाता है वह उद्देश ही उसके इस अकेले एक काम से निष्फल हो जाता है। उस समय से उनकी स्वतंत्रता जड़ से जाती रहती है, और वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि खुशी से और किसी स्थिति में रहने से जो बातें वह अपने अनुकूल कर सकता वे उस स्थिति में नहीं की जा सकतीं। स्वतंत्रता का यह उद्देश नहीं है कि उसे पाकर खुद उसे ही कोई खो बैठे। स्वतंत्रता को बेच देना स्वतंत्रता नहीं कहलाती। यह कारण-परम्परा बहुत व्यापक है; ये दलीलें दूर तक काम दे सकती हैं। गुलामी से सम्बन्ध रखनेवाला जो उदाहरण मैंने यहां पर दिया उससे इन दलीलों की गुरुता साफ जाहिर है। परन्तु संसार में रह कर बहुत दफे अपनी स्वतंत्रता को कम कर देने की जरूरत पड़ती है। अर्थात् अकसर ऐसे मौके आते हैं जब आदमी को अपनी स्वाधीनता का प्रतिबन्ध करना पड़ता है। तथापि स्वतंत्रता को बिलकुल ही बेच देने और उसका प्रतिबन्ध करने में बहुत फरक है। परन्तु जिन बातों से सिर्फ कर्ता का ही सम्बन्ध है उनको स्वतंत्रतापूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार उसे करने देना जिस सिद्धान्त का उद्देश है, उसीका यह भी उद्देश है कि जिन बातों का किसी तीसरे से सम्बन्ध नहीं है उनके विषय में, यदि लोग परस्पर एक दूसरे से किसी तरह का इकरार कर लें तो उस इकरार से छुटने के लिए भी उनको स्वतंत्रता होनी चाहिए। जिस इकरार से रुपये पैसे का सम्बन्ध है उसको छोड़ कर और कोई प्रतिज्ञा ऐसी नहीं है जिसके विषय में यह कहा जा सके, कि परस्पर एक दूसरे की सम्मति के बिना, दो आदमियों

में से जिसकी इच्छा हो वह उस प्रतिज्ञा से अपने को मुक्त न करे। बैरन हम्बोल्ट, जिसकी परमोत्तम पुस्तक से मैंने पहले, कहीं पर, एक जगह, एक अवतरण दिया है, कहता है कि जो प्रतिज्ञायें शारीरिक सम्बन्ध या शारीरिक मेहनत के विषय में की जाती हैं उनको एक नियत समय तक ही के लिए करना चाहिए। यह नहीं कि वे सदा सर्वदा के लिए की जायँ। यदि ऐसी प्रतिज्ञाओं को कोई हमेशा के लिए करे भी तो भी कानून की दृष्टि से वे नाजायज समझी जायँ। ऐसी प्रतिज्ञाओं में से विवाह-बन्धन की प्रतिज्ञा सब से अधिक महत्त्व की है। यह एक ऐसी प्रतिज्ञा है कि प्रतिज्ञा करनेवाला दोनों मनुष्यों अर्थात् स्त्री-पुरुषों, का मन यदि अच्छी तरह न मिला तो यह व्यर्थ जाती है। इस बन्धनरूपी प्रतिज्ञा के विषय में यह बहुत बड़ी विशेषता है। अतएव यदि दो में से एक का भी मन न मिला, और स्त्री अथवा पुरुष ने विवाह-बन्धन से मुक्त होने की इच्छा जाहिर की, तो उसे वैसा करने देना चाहिए। इस बन्धन से छूटने के लिए किसी तरह की बाधा डालना मुनासिब नहीं। यह विषय बहुत बड़े महत्त्व और झगड़े का है। इससे इस निबन्ध के बीच म इसका विवेचन विस्तार-पूर्वक नहीं किया जा सकता। अतएव दृष्टान्त के तौर पर इसकी जितनी जरूरत थी उतनी ही का उल्लेख करना मैं यहां पर बस समझता हूं। यह विवेचन बहुत ही संक्षिप्त और सिद्धान्तरूप है। इसीसे प्रमाण देने के बखेड़े में न पड़कर हम्बोल्ट साहब ने सिर्फ निर्णयरूपी सिद्धान्त देकर इस विषय को समाप्त कर दिया है। यदि विवाह-बन्धनविषयक यह विवेचन सिद्धान्त के रूप में न होता तो इस बात को वह जरूर कुबूल कर लेता कि इतने थोड़े में और इतने सीधे सादे तौर पर इसका निर्णय नहीं हो सकता। जब कोई आदमी साफ साफ प्रतिज्ञा करके, अथवा किसी विशेष प्रकार का व्यवहार करके, दूसरे के मन में यह विश्वास पैदा कर देता है कि मैं अमुक तरह का बर्ताव तुम्हारे साथ करूंगा; अतएव जब इस प्रतिज्ञा के भरोसे उस दूसरे आदमी के मन में नई नई उम्मेदें पैदा हो जाती हैं, नई नई अटकलें वह लगाने लगता है, और अपने जीवन के कुछ हिस्से को वह एक नये सांचे में ढालने लगता है, तब नीति की दृष्टि से पहले आदमी के सिर पर दूसरे आदमी के सम्बन्ध में एक नई तरह की जिम्मेदारी आ जाती है। यह जिम्मेदारी, कारण उपस्थित होने पर, रद की जा सकती है—मेट दी जा सकती है; पर यह नहीं कि जब जिसके दिल में आवे उसे

मेट दे। उस पर विचार जरूर करना होगा। विचार में सबल कारण उ
स्थित होने पर वह रद की जा सकती है। इसके सिवा, दो आदमियों में आ
स की प्रतिज्ञा से उत्पन्न हुए सम्बन्ध का यदि तीसरे आदमियों पर कु
असर हुआ; अथवा, यदि, उसके कारण, तीसरे आदमियों की स्थिति
कुछ फेरफेर हो गया; अथवा, यदि, जैसे विवाह में होता है, तीसरे आ
मी (संतान)नये पैदा हो गये तो उन तीसरे आदमियो से सम्बन्ध रख
वाली कर्तव्यरूपी एक नई जिम्मेदारी भी उन दोनों आदमियों पर आ जात
है। अतएव दो आदमी परस्पर जो प्रतिज्ञा करते हैं उस प्रतिज्ञा के तोड़
या पूरा करने ही पर इस नई जिम्मेदारी का निर्वाह, या निर्वाह करने
तरीका, बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। यहां पर तीसरे आदमियों से मत
लब, परस्पर प्रतिज्ञा करने वाले दो आदमियों को छोड़ कर, और आदमियों
है। इस पारस्परिक प्रतिज्ञा या इकरार के विषय में जो कुछ मैंने लिखा उसका य
अर्थ नहीं, और मैं इस अर्थ को कुबूल भी नहीं करता, कि इस नई जिम्म
दारी के खयाल से प्रतिज्ञा करनेवालों को अपनी प्रतिज्ञा का पालन, चा
कितना ही नुकसान क्यों न हो, करना ही चाहिए। मेरा मतलब सि
इतना ही है कि इन बातों का विचार करना चाहिए। अर्थात् इस तरह
प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में तीसरे आदमियों के हिताहित पर ध्यान देना बहु
जरूरी बात है। हम्बोल्ट के कहने के अनुसार यदि यह बात मान भी
जाय कि कानून की रू से की हुई प्रतिज्ञा के तोड़ने के हक में किसी तर
का फरक डालना मुनासिब नहीं, तो भी प्रतिज्ञा करनेवालों के नैतिक ह
में जरूर ही फरक पड़ जाता है। जिस इकरार—जिस प्रतिज्ञा—का तीस
आदमियों के हिताहित से बहुत घना सम्बन्ध हो उसे करने के पहले दोन
आदमियों को चाहिए कि वे इन सब बातों का अच्छी तरह विचार कर लें
पर, यदि, इस तरह का विचार कोई न करे, और उसकी इस भूल
कारण तीसरे को कुछ हानि पहुँचे, तो हानि की नैतिक जिम्मेदारी उस
सिर पर है। स्वतंत्रता के व्यापक सिद्धान्तों को उदाहरण द्वारा खूब स्प
करने के इरादे से ही मैंने इतना विवेचन किया। अन्यथा इस विषय
इतना लिखने की कोई जरूरत न थी। क्योंकि विवाह-बन्धन के सम्बन्ध
विशेष वाद-विवाद करने से यह सूचित होता है कि विवाह की प्रतिज्ञ
से बद्ध होनेवाले तरुण स्त्री-पुरुषों के हिताहित की परवा कोई चीज नहीं
उनके भावी बाल-बच्चों के हिताहित की ही परवा सब कुछ है।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि सर्व-सम्मत और व्यापक सिद्धान्तों के न होने से जिन बातों की स्वतंत्रता न देना चाहिए उनकी स्वतंत्रता तो अकसर दी जाती है और जिनकी देना चाहिए उनकी नहीं दी जाती। अर्वाचीन योरप में एक बात ऐसी है जिसके विषय में लोगों के स्वतंत्रता-सम्बन्धी मनोविकार बहुत ही प्रबल हैं; परन्तु उस बात की स्वतंत्रता देना, मेरी समझ में, अनुचित है। जिन बातों से औरों का सम्बन्ध नहीं उनको यथेच्छ करने की हर आदमी को स्वतंत्रता है; परन्तु यदि कोई आदमी दूसरों के काम-काज को, अपना ही समझने के बहाने, उसे करना चाहे तो उसका प्रतिबन्ध जरूर करना चाहिए। इस विषय में उसे मनमानी बात करने की स्वतन्त्रता देना मुनासिब नहीं। निजसे ही विशेष सम्बन्ध रखनेवाले काम-काज के विषय में हर आदमी को स्वतंत्रता देना जैसे गवर्नमेंट का कर्तव्य है, वैसे ही उसका यह भी कर्तव्य है कि जिसको उसने दूसरों पर हुकूमत करने का अधिकार दिया है उस पर वह अच्छी तरह निगाह रक्खे। अर्थात् वह इस बात को देखती रहे कि उसके अधिकारी अपने अधिकार का दुरुपयोग तो नहीं करते। परन्तु कुटुम्ब के आदमियों का परस्पर एक दूसरे से जो सम्बन्ध होता है उसके विषय में गवर्नमेंट अपने इस कर्तव्य का बहुत अनादर करती है। संसार में जितनी महत्त्व की बातें हैं वे सब मिल कर भी इस कुटुम्ब-सम्बन्धी बात की बराबरी नहीं कर सकतीं। इसका प्रभाव हर आदमी की सुख-सामग्री पर पड़ता है। पत्नी पर पति प्रायः बादशाह की तरह हुकूमत करता है। पर इस विषय में, यहां पर, विस्तार-पूर्वक लिखने की जरूरत नहीं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि स्त्रियों को वे ही हक मिलने चाहिए जो पुरुषों को मिले हैं, और कानून जैसे औरों की रक्षा करता है वैसे ही उसे स्त्रियों की भी रक्षा करना चाहिए। बस इससे अधिक और कुछ न चाहिए। इतने ही से स्त्रियों के सम्बन्ध की बुराइयां रफा हो जायँगी। इस विषय में अधिक न लिखने का दूसरा कारण यह है कि स्त्रियों पर चिरकाल से होनेवाले अन्याय के जो पृष्ठपोषक हैं वे इस बात ही को नहीं कुबूल करते कि स्त्रियों को भी स्वतंत्रता देना चाहिए। वे खुले मैदान कहते हैं कि स्त्रियों पर पुरुषों की सत्ता होने ही में समाज का कल्याण है। अतएव विवाद किस बात पर किया जाय? सच पूछिए तो सन्तान के सम्बन्ध में माँ-बाप को जो स्वतंत्रता होनी चाहिए उसकी ठीक

ठीक कल्पना ही लोगों को नहीं है; और यदि है भी तो वह कल्पना यथा-स्थान नहीं है। अर्थात् उस स्वतंत्रता का जैसा प्रयोग होना चाहिए वैसा नहीं होता। यही कारण है जो सन्तान-विषयक अपने कर्तव्य को पालन करने में गवर्नमेंट को अनेक विघ्न और बाधाओं का सामना करना पड़ता है। लोगों को इस बात का इतना अधिक पक्षपात है—उनको इस बात की इतनी अधिक हठ है—कि उनकी राय में सन्तति पर माँ-बाप की पूरी और अनन्य-साधारण सत्ता है। वे कहते हैं कि इस सत्ता में जरा भी दस्तं-दाजी करने का किसी को अधिकार नहीं। इन बातों को सुन कर यह खयाल होता है कि "आत्मा वै जायते पुत्रः"—अर्थात् पिता की आत्मा का ही दूसरा रूप पुत्र है—यह उक्ति आलङ्कारिक नहीं, किन्तु अक्षरशः सच है। खुद बाप की स्वतंत्रता में चाहे जितनी दस्तंदाजी हो, इसकी लोग कम परवा करेंगे। पर बेटे के सम्बन्ध में बाप को लोगों ने जो स्वतंत्रता दी है उसमें जरा भी दस्तंदाजी होते देख लोग आपे से बाहर हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्वतंत्रता की अपेक्षा लोग सत्ता की कीमत अधिक समझते हैं। उदाहरण के लिए सन्तान की शिक्षा की बात पर विचार कीजिए। क्या यह एक स्वयंसिद्ध बात नहीं है कि जितने मनुष्य जन्म लें उनको एक नियत सीमा तक शिक्षा देने के लिए सब लोगों को बाध्य करना गवर्नमेंट का काम है? परन्तु क्या एक भी ऐसा आदमी है जिसे इस सिद्धान्त को कुबूल करने और निडर होकर प्रसिद्धिपूर्वक जाहिर करने में संकोच न होता हो। शायद ही कोई इस बात को न कुबूल करेगा कि किसी प्राणी को पैदा करके उसे संसार में अपने, और दूसरों से सम्बन्ध रखनेवाले, व्यवहारों को अच्छी तरह करने के योग्य बनाने के लिए उचित शिक्षा देना माँ-बाप का (अथवा आज कल की रूढ़ि और कानून के अनुसार बाप का) सब से बड़ा कर्तव्य है। इस बात को यद्यपि सब लोग कुबूल करते हैं; यद्यपि वे इस बात को निःसन्देह मानते हैं कि इतनी शिक्षा देना बाप का परम कर्तव्य है; तथापि इस देश में ढूंढ़ने से शायद ही कोई आदमी ऐसा मिले जो इस बात को शान्तचित्त होकर सुन ले कि इस कर्तव्य को पूरा कराने के लिए बाप को लाचार करना चाहिए—अर्थात् यदि वह खुशी से इसे पूरा न करे तो उस पर बल-प्रयोग किया जाय। अपनी सन्तति को शिक्षा देने के लिए मेहनत करने या किसी तरह का नुकसान उठाने की तो बात ही नहीं, उलटा बिना

कौड़ी पैसा खर्च किये भी शिक्षा का प्रबन्ध कर देने पर, यह बात बाप की मरजी पर छोड़ दी गई है कि उसका जी चाहे तो वह अपने लड़के लड़कियों को शिक्षा दिलावे और न जी चाहे तो न दिलावे। इस बात को लोग अब तक कुबूल नहीं करते कि लड़कों को जीता रखने के लिए भोजन-वस्त्र इत्यादि की ही नहीं, किन्तु उनको पढ़ाने और मानसिक शिक्षा देने की भी काफी शक्ति यदि बाप में न हो तो लड़के पैदा करना मानो उन अभागी लड़कों के, और समाज के भी, विरुद्ध बहुत बड़ा नैतिक अपराध करना है; और यदि बाप अपने इस कर्तव्य को न पूरा करे तो, जहां तक हो सके, उसी के खर्च से लड़कों की शिक्षा का प्रबन्ध बलपूर्वक कराना गवर्नमेंट का कर्तव्य है।

यदि यह सिद्धान्त एक बार कुबूल कर लिया जाय कि बलपूर्वक सार्वजनिक शिक्षा दिलाना गवर्नमेंट का काम है तो, कैसी और किसी तरह शिक्षा देनी चाहिए इत्यादि बखेड़े की बातें और कठिनाइयां हमेशा के लिए दूर हो जायँ। इन्हीं झंझटों और कठिनाइयों के कारण आज कल जुदा जुदा पन्थों और सम्प्रदायों में झगड़े हो रहे हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार काम शुरू कर देने से ये झगड़े भी दूर हो जायँगे और जो श्रम और समय खुद शिक्षा के काम में लगना चाहिए वह शिक्षाविषयक वाद-विवाद में व्यर्थ भी न जायगा। यदि गवर्नमेंट यह कानून जारी कर दे कि प्रत्येक बच्चे को अच्छी शिक्षा मिलनी ही चाहिए तो इस काम में उसे जो मेहनत पड़ती है वह बच जाय। इस बात को गवर्नमेंट माँ-बाप पर छोड़ दे कि जहां और जिस तरह से उनको सुभीता हो अपने बच्चों की शिक्षा का वे प्रबन्ध करें। फीस देकर गवर्नमेंट सिर्फ गरीब आदमियों के लड़कों की मदत करे, और जिनका कोई वारिस न हो उनकी शिक्षा में जो खर्च पड़े वह भी सब वही दे। इस बात के प्रतिकूल कोई उचित आक्षेप नहीं हो सकते कि गवर्नमेंट को प्रजा के द्वारा शिक्षा दिलानी चाहिए। हां; यदि, गवर्नमेंट शिक्षा का सारा प्रबन्ध अपने ही हाथ में लेले तो उस प्रबन्ध के प्रतिकूल आक्षेप जरूर हो सकते हैं। अपने लड़कों को शिक्षा देने के लिए लोगों को मजबूर करना एक बात है, और शिक्षा-सम्बन्धी सारा प्रबन्ध खुद ही करते बैठना दूसरी बात है। दोनों में बहुत अन्तर है। शिक्षा-सम्बन्धी सब तरह का, या बहुत कुछ, प्रबन्ध खुद करना गवर्नमेंट को उचित नहीं। इस बात को मैं और लोगों से भी अधिक बुरा समझता हूँ।

स्वभाव की विलक्षणता, मत की भिन्नता और बर्ताव की विचित्रता के माहात्म्य के विषय में जो कुछ मैंने कहा है उससे शिक्षा की विचित्रता भी सिद्ध है । सच तो यह है कि शिक्षा की विचित्रता की महिमा और भी अधिक है । वह अनिर्वचनीय है । उसका बयान नहीं हो सकता । जैसे जुदा जुदा राय, बर्ताव और स्वभाव का होना जरूरी है वैसे ही जुदा जुदा तरह की शिक्षा का होना भी जरूरी है, और बहुत जरूरी है । गवर्नमेंट के द्वारा एक ही तरह की शिक्षा का जारी होना मानों सब आदमियों को एक सा कर डालना अथवा एक ही सांचे में ढालना, है । गवर्नमेंट से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों में से जिनका पक्ष प्रबल होता है वे जिस तरह के सांचे को पसन्द करते हैं उसी तरह का वह बनता है । अर्थात् उनको जिस सांचे की शिक्षा अच्छी लगती है उसी के देने का वे प्रबन्ध करते हैं । चाहे राजा प्रबल हो, चाहे धर्म्माधिकारी अर्थात् पादरी-दल प्रबल हो, चाहे सरदार लोग प्रबल हों, चाहे वर्तमान पुश्त में से अधिक आदमियों का कोई समूह प्रबल हो—बात वही होगी । अर्थात् जिसको जिस सांचे की शिक्षा पसन्द होगी वह उसी को जारी करेगा । जो जितना अधिक प्रबल और हुकूमत में जितना अधिक कामयाब होता है उसका सांचा भी उतना ही अधिक प्रबल और नमूनेदार होता है । समाज का मन और शरीर उसीके प्रतिबिंब हो जाते हैं । अर्थात् मन और शरीर दोनों से सारा समाज उस राजकीय प्रबल पक्ष के हाथ बिक सा जाता है—वह उसका गुलाम सा हो जाता है । यदि गवर्नमेंट अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षा देना और उसका प्रबन्ध-सूत्र भी अपने हाथ में रखना ही चाहे तो नमूने के तौर पर पहले उसे वैसा करना चाहिए । अर्थात् परीक्षा के तौर पर और लोग जैसे जुदा जुदा तरीके से शिक्षा देते हैं वैसे ही गवर्नमेंट को भी करना चाहिए । ऐसा करने से जहां और लोगों के जारी किये हुए शिक्षा के तरीकों की जांच होगी वहां गवर्नमेंट के तरीके की भी हो जायगी और उसके गुण-दोष मालूम हो जायँगे। बहुत ही अच्छा हो यदि गवर्नमेंट अपनी शिक्षा के तरीके को सब से उत्तम करके बतलावे, जिसमें और लोगों को उससे उत्साह और उत्तेजना मिले, और वे भी उसी तरीके को आदर्श मान-कर अपने अपने तरीके में मुनासिब फेरफार करें । यदि किसी समाज की दशा यहां तक बुरी हो—यदि किसी समाज की उन्नति इस दरजे तक पीछे

पड़ी हुई हो—कि शिक्षा की किसी अच्छी रीति को वह निकाल ही न सके, अथवा निकालने की इच्छा ही उसे न हो, तो बात दूसरी है । इस दशा में शिक्षा का प्रबन्ध गवर्नमेंट को करना ही होगा । जब व्यापार और उद्योग धन्धे के बड़े काम करने की यथोचित शक्ति लोगों में नहीं होती तब लाचार होकर गवर्नमेंट को ही ऐसे काम करने पड़ते हैं । उसी तरह, समाज की हीन दशा में गवर्नमेंट स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय खोल कर उनको जारी रक्खे । समाज की सन्तति को बिलकुल ही शिक्षा न मिलना भी बुरा है और एक ही तरह की शिक्षा न मिलना भी बुरा है । परन्तु पहले की अपेक्षा दूसरी बात कम हानिकारक है । इससे जब तक समाज की दशा न सुधरे तब तक थोड़ी हानि ही सही । पर, गवर्नमेण्ट की मदद से शिक्षा देने के लिए यदि देशमें काफी आदमी मिलते हों, और वे उस काम के लिए लायक भी हों, तो सब लोगों की इच्छाके अनुसार जुदा जुदा तरह की वैसी ही अच्छी शिक्षा देने के लिए भी वे जरूर राजी होंगे । अतएव सब लोगों को अपने अपने लड़कों को शिक्षा देनी ही चाहिए, इस तरह का एक कानून बनाकर गवर्नमेण्ट को चाहिए कि वह ऐसे आदमियों को उचित उत्तेजन दे और जो लड़के स्कूल का खर्च खुद न दे सकें उन्हें वह खर्च भी देने की उदारता दिखावे । बस गवर्नमेण्ट का कर्तव्य सिर्फ इतना ही है ।

यह कायदा जारी करने के लिए—इस कानून को अमल में लाने के लिए गवर्नमेण्ट को चाहिए कि वह थोड़ी ही उम्र में सब बच्चों की परीक्षा का प्रबन्ध करे । इस काम के लिए यही साधन सब से अच्छा है । गवर्नमेंट को उम्र की सीमा नियत कर देना चाहिए और देखना चाहिए कि उस उम्र में हरएक बच्चा लिख पढ़ सकता है या नहीं । बच्चे से यहां मतलब लड़का और लड़की दोनों से है । यदि परीक्षा में कोई बच्चा फेल हो जाय अर्थात् वह लिख पढ़ न सके तो, मुनासिब कारण न बतला सकने पर, बाप पर गवर्नमेंट नियत दण्ड करे । इस दण्ड को वह, जरूरत समझे तो, बाप से मेहनत के रूप में ले और बच्चे को उसीके खर्च से स्कूल भिजवावे । यह परीक्षा हर साल ली जाय और परीक्षा के विषय धीरे धीरे बढ़ाये जायँ । ऐसा करना मानों सब लोगों को मजबूर करना होगा कि उन्हें अपने बच्चों को अमुक दरजे तक अमुक प्रकार की शिक्षा देनी ही चाहिए और उस शिक्षा का संस्कार उनके मन पर होना ही चाहिए । इसके सिवा

सब विषयों में ऊंची ऊंची परीक्षायें नियत करना चाहिए । जिनमें शामिल होना लोगों की खुशी पर अवलम्बित रहे । जो इन परीक्षाओं को पास कर ले उनको सरटीफिकटें दी जाँय । गवर्नमेण्ट को मुनासिब है कि इस परीक्षा-प्रबन्ध के द्वारा वह जन-साधारण की राय के प्रतिकूल कोई काम न करे । गवर्नमेण्ट की अनुचित दस्तंदाजी को रोकने के लिए, ऊंचे दरजे तक की परीक्षाओं में, निश्चित शास्त्रों और निश्चित बातों से ही सम्बन्ध रखनेवाले विषय रहें । ऐसा करने से विवाद के लिए जगह न रहेगी—भिन्न मत होने का डर न रहेगा । भाषा और उसके प्रयोग का सिर्फ इतना ही ज्ञान होना चाहिए जितने से परीक्षा के विषयों को समझने और सवालों का जवाब देने में सुभीता हो । धर्म्म, राजनीति या और ऐसे ही वादग्रस्त, अर्थात् झगड़े के, विषयों में परीक्षा लेते समय इस तरह के सवाल न पूछने चाहिए कि कोई विशेष प्रकार का मत ठीक है या नहीं । सवाल इस तरह के होने चाहिए कि किस ग्रन्थकार ने किस आधार पर—किन प्रमाणों के बल पर-अमुक मत का ठीक होना सिद्ध किया है; और उस मत को किस पन्थ या किस सम्प्रदाय ने कुबूल किया है । इस तरह की काररवाई से वादग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में वर्तमान समय के उन्नतिशील जन-समूह की जैसी स्थिति है वैसी ही बनी रहेगी; उससे बुरा न हो सकेगी । अर्थात् इस तरह की परीक्षाओं के कारण उस स्थिति में कोई फरक न पड़ेगा । उसकी अवनति का डर न रहेगा । जो लोग सनातन अर्थात् रूढ़ धर्म्म के अनुयायी होंगे उनको उस धर्म की शिक्षा मिलेगी और जो किसी और धर्म्म के अनुयायी होंगे उनको उस धर्म्म की शिक्षा मिलेगी । अर्थात् जिसका जो धर्म्म होगा उसे उस धर्म्म छोड़ने की शिक्षा न दी जायगी । यदि लड़कों (या लड़कियों) के माँ-बाप को कोई उज्र न हो तो जिस स्कूल में और और विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा दी जाय उसी में धर्म्म-सम्बन्धी शिक्षा भी दी जाय । जिन बातों के विषय में विवाद है, अर्थात् जो विषय वादग्रस्त हैं, उनके सम्बन्ध में जन-समुदाय की राय में दस्तंदाजी करने का यत्न करना गवर्नमेण्ट को मुनासिब नहीं । इस तरह की दस्तंदाजी से बहुत नुकसान होता है । परन्तु किसी भी जानने लायक विषय के सिद्धान्त सुनने और समझने भर का ज्ञान विद्यार्थियों को हो गया है या नहीं, इस बात की परीक्षा लेना, और उसमें पास होने पर सरटीफिकट देना, दस्तंदाजी नहीं कहलाती ।

जो लोग तत्त्वविद्या सीखते हैं उनके लिए लाक * और कांती † (Kant) इन दोनों के सिद्धान्तों को जान कर उनमें पास हो जाना हित ही की बात है, अहित की नहीं। इस विषय में इस बात की बिलकुल परवा न करना चाहिए कि इनमें से किसी के मत से पढ़नेवाले का मत मिलता है या नहीं। विद्यार्थी का मत चाहे इनमें से किसीके मत से मिले, चाहे न मिले, लाभ उसे जरूर होगा और बहुत होगा। मेरा तो मत यह है कि क्रिश्चियन धर्म्म के प्रमाणों या तत्त्वों में यदि किसी नास्तिक की परीक्षा ली जाय तो भी अनुचित नहीं, तो भी इस बात के प्रतिकूल कोई मुनासिब दलील नहीं पेश की जा सकती। पर, हां, इस बात को स्वीकार करने के लिए लाचार नहीं करना चाहिए कि क्रिश्चियन लोगों के धर्म्म-तत्त्वों पर मेरा विश्वास है। मेरी समझ में ऊंचे दरजे की परीक्षायें विद्यार्थी की मरजी पर छोड़ देना चाहिए। यदि उसकी खुशी हो तो वह इस तरह की परीक्षायें दे और यदि न हो तो न दे। जितने रोजगार—जितने उद्योग हैं उनके विषय की शिक्षा देने में गवर्नमेण्ट को दस्तंदाजी न करना चाहिए। अध्यापकी का काम करने की इच्छा रखनेवालों की शिक्षा में भी उसे बाधा न डालनी चाहिए। यदि गवर्नमेण्ट यह नियम कर दे कि इस पेशे के लोगों को अमुक दरजे तक पढ़ना ही चाहिए तो परि-

* लाक नाम का एक महा विद्वान् तत्त्वज्ञ सत्रहवीं सदी में हो गया है। उसका जन्म इंगलैंड में हुआ था। अनुभव के सम्बन्ध में उसने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उसके सारे ग्रन्थ प्रायः तत्त्व-शास्त्र पर हैं। वह बहुत बड़ा दार्शनिक पंडित था। कल्पनाओं का संयोग किसे कहते हैं, मानुषी बुद्धि क्या चीज है, ज्ञान की मर्य्यादा क्या है, भाषा की प्रभुता ज्ञान पर कैसी और कितनी होनी चाहिए, इन्हीं विषयों पर उसने बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे हैं।

† कान्ती जर्मनी का प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता है। उसका जन्म १७२४ में हुआ था और मरण १८०४ में। पहले उसने ज्योतिःशास्त्र, यंत्रशास्त्र और पदार्थ-विद्या पर ग्रन्थ लिखे। इसके बाद उसने अध्यात्मविद्या का अध्ययन किया और उसी विषय के ग्रन्थ लिखे। विचार-शक्ति के ऊपर उसके ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। पहले योरप में तत्त्वशास्त्र के आधार धर्म्मवाक्य थे। पर कांती के ग्रन्थ देखकर लोगों की श्रद्धा वैसे तत्त्वशास्त्र से हट गई। तब से विचारशक्ति के आधार पर बने हुए तत्त्वशास्त्र की महिमा बढ़ी।

णाम बहुत ही भयङ्कर होगा। इस विषय में मेरा और हम्बोल्ट का (जिसका जिक्र पहले आचुका है) मत एक है। मेरी राय यह है कि जो लोग विज्ञान या किसी व्यापार, रोजगार या पेशे की शिक्षा पाकर परीक्षा देना चाहें और परीक्षा में वे पास हो जायँ, उनको गवर्नमेंट खुशी से सरटीफिकेट और पदक दे। परन्तु जिन लोगों ने ऐसी परीक्षा न पास की हो उनको उनका ईप्सित रोजगार करने से रोकना उसे मुनासिब नहीं। यदि सब लोग परीक्षा पास करनेवालों को अधिक पसंद करें, अतएव इससे यदि न पास करनेवालों का नुकसान हो जाय, तो उपाय नहीं। पर परीक्षा पास करनेवालों की जीविका के सुभीते के लिए गवर्नमेंट कोई विशेष नियम न बनावे; सिर्फ उन्हें सरटीफिकेट या पदक देकर वह चुप हो जाय।

स्वतंत्रता के सम्बन्ध में लोगों की कल्पनायें यथास्थान और निर्भ्रम न होने से बहुत हानि होती है। माँ-बाप का कर्तव्य है कि वे अपने बाल-बच्चों को उचित शिक्षा दें; परन्तु स्वतंत्रता का ठीक मतलब समझ में न आने के कारण इस कर्तव्य की गुरुता लोगों के ध्यान में नहीं आती। इसी से शिक्षा के सम्बन्ध में माँ-बाप के लिए किसी तरह का कानूनी बन्धन भी नहीं नियत किया जाता। माँ-बाप के इस कर्तव्य के पोषक बहुत मजबूत प्रमाण दिये जा सकते हैं—यह नहीं कि कभी किसी विशेष कारण से दिये जा सकते हैं। और माँ-बाप पर कानूनी बन्धन डालने की जरूरत के भी बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं। परन्तु स्वतंत्रता का ठीक अर्थ ही लोगों की समझ में नहीं आता। अतएव शिक्षा के विषय में ये पूर्वोक्त दोनों ही बातें नहीं होतीं। यह दशा सिर्फ शिक्षा ही की नहीं है। संसार में मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली महत्त्व की जितनी बड़ी बड़ी बातें हैं उनमें से एक नये जीव को जन्म देना—अर्थात् सन्तान उत्पन्न करना—भी एक है। और सच पूछिये तो यह बात बहुत बड़ी जिम्मेदारी की है। जिस जीव को जन्म देना है उसके पालन, पोषण और शिक्षण आदि का उचित प्रबन्ध करने की शक्ति जिसमें नहीं है उसके लिए इतनी बड़ी जिम्मेदारी लेना मानो उस नये जीव का बहुत बड़ा अपराध करना है। क्योंकि उसका मङ्गल या अमङ्गल इसी जिम्मेदारी पर अवलम्बित रहता है। फिर, जिस देश में आबादी बेहद बढ़ रही है, या बढ़ने के लक्षण दिखा रही है, उस देश में मतलब से अधिक सन्तान पैदा करके, प्रतियोगिता अर्थात् चढ़ा-ऊपरी के

कारण, मजदूरी का निर्ख कम कर देना मानो उन सब लोगों का बहुत बड़ा अपराध करना है जो मेहनत-मजदूरी करके अपना पेट पालते हैं। योरप के किसी किसी देश में यह कायदा है कि जब तक वधू-वर इस बात को सप्रमाण नहीं साबित कर देते कि भावी सन्तति के पालन पोषण के लिए उनके पास उचित साधन है तब तक उन्हें विवाह करने की अनुमति नहीं है। गवर्नमेण्ट के जो कर्तव्य हैं उन्हींमें से यह भी एक है अर्थात् यह भी उन्हींके भीतर है, बाहर नहीं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि इस कायदे को जारी करके—इस कानून को अमल में लाकर—गवर्नमेंट ने अपने कर्तव्यों का अतिक्रमण किया। इस तरह के कायदे समाज की दशा और समाज की राय के अनुसार सुभीते के हों या न हों; तथापि गवर्नमेंण्ट को कोई यह दोष नहीं दे सकता कि उसने लोगों की स्वतंत्रता में अनुचित रीति पर दस्तंदाजी की। यह एक ऐसा कायदा है—यह एक ऐसा नियम है—कि इसके जारी होने से उन बातों का प्रतिबन्ध होता है जिनसे समाज के अहित होने का डर रहता है। अतएव इसमें गवर्नमेण्ट की दस्तंदाजी बहुत मुनासिब है पर, यदि, किसी विशेष कारण से गवर्नमेंट के द्वारा इस तरह का कानून बनाया जाना मुनासिब न समझा जाय तो भी दण्डनीय व्यक्ति को सामाजिक दण्ड जरूर ही मिलना चाहिए—उसकी छी थू जरूर ही होनी चाहिए। परन्तु स्वाधीनता के सम्बन्ध में आज कल लोगों के विचार बड़े ही विलक्षण हो रहे हैं। जो बातें आत्म-सम्बन्धी हैं, अर्थात् जिनका सम्बन्ध दूसरों से बिलकुल ही नहीं है, उनके विषय में यदि किसी की स्वतंत्रता का कोई उल्लंघन करे तो लोग ऐसे उल्लंघन को बरदाश्त भी कर लेते हैं। परन्तु जिन वासनाओं—जिन मनोविकारों—की तृप्ति से, उचित साधन न होने के कारण, भावी सन्तति को अनेक दुःखों और दुर्गुणों में उम्र भर लिप्त रहना पड़ता है, और उससे सम्बन्ध रखनेवाले लोगों को भी सैकड़ों आपदाओं का सामना करना पड़ता है, उनके प्रतिबन्ध की यदि कोई जरा भी कोशिश करता है तो लोग उसे बिलकुल ही नहीं बरदाश्त कर सकते। स्वतंत्रता का कहीं तो इतना आदर और कहीं इतना अनादर! इस तरह का परस्पर विरोध बहुत ही आश्चर्यजनक है। जिन लोगों के विचार इतने परस्परविरोधी हैं उनकी तुलना करने से यह सिद्धान्त निकलता है कि उन्हें दूसरे आदमियों को हानि पहुँचाने का तो अनि-

वार्य्य अधिकार है; पर औरों को हानि न पहुँचाकर खुद सुख से रहने का उन्हें जरा भी अधिकार नहीं।

गवर्नमेण्ट की दस्तंदाजी की हद क्या होनी चाहिए? कहां तक दस्तंदाजी करने का हक गवर्नमेण्ट को है? इस विषय में बहुत सी बातें पूछी जा सकती हैं। इस प्रश्न-समूह को मैंने पीछे के लिए रख छोड़ा है; क्योंकि इन प्रश्नों का यद्यपि इस लेख से बहुत घना सम्बन्ध है, तथापि ये इस निबन्ध के अंशभूत नहीं माने जा सकते। ये ऐसी बातें हैं कि इनके सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट की दस्तंदाजी स्वतंत्रता के सिद्धान्तों के अनुसार अनुचित नहीं ठहराई जा सकती; क्योंकि इन बातों में गवर्नमेण्ट जो दस्तंदाजी करती है वह लोगों के काम-काज का प्रतिबन्ध करने के इरादे से नहीं करती, किन्तु सब आदमियों को मदद देने के इरादे से करती है। अब इस बात का विचार करना है कि सब लोगों के फायदे के लिए यदि गवर्नमेंट कोई काम करना या कराना चाहे तो उसे वैसा करने देना अच्छा है; अथवा सब आदमियों को अलग अलग, या कुछ आदमियों को मिलकर, करने देना अच्छा है?

यदि गवर्नमेंट लोगों के फायदे के लिए कोई काम करना चाहे, और समाज की स्वाधीनता में बाधा डालने का उसका इरादा हो, तो गवर्नमेंट की दस्तंदाजी के विरुद्ध तीन तरह के आक्षेप हो सकते हैं।

पहला आक्षेप यह है कि जिस काम को गवर्नमेंट करना चाहती है वह काम, सम्भव है, गवर्नमेंट की अपेक्षा हर व्यक्ति—हर आदमी—अधिक अच्छी तरह कर सके। साधारण नियम तो यह है कि जिस काम से जिनके हिताहित का सम्बन्ध होता है उस काम के विषय में वही इस बात को अच्छी तरह जान सकते हैं कि कब, कैसे और कौन उसे अच्छी तरह कर सकेगा। इस विषय में वे जितने योग्य होते हैं उतना और कोई नहीं होता। पहले इस तरह के कानून बहुधा बनाये जाते थे कि व्यापारियों को किस तरह व्यापार करना चाहिए और व्यापार की चीजों के बनानेवालों को उन्हें किस तरह बनाना या बेचना चाहिए। पर पूर्वोक्त सिद्धान्त से साबित है कि लोगों की स्वाधीनता में इस तरह की दस्तंदाजी करना सर्वथा अन्याय है। व्यवहारशास्त्र के विद्वानों ने इस विषय का पहले ही से बहुत अधिक विवेचन कर डाला है। और इस लेख के तत्त्वों से इसका विशेष सम्बन्ध

भी नहीं है। अतएव इस विषय में मैं और अधिक लिखने की जरूरत नहीं समझता।

दूसरा आक्षेप इस लेख से अधिक सम्बन्ध रखता है। इस कारण मैं उस पर विचार करता हूं। यद्यपि यह बात बहुत सम्भव है कि किसी विशेष काम को गवर्नमेंट के अधिकारी जितनी उत्तमता से कर सकेंगे उतनी उत्तमता से और लोग, मामूली तौर पर, न कर सकेंगे। परन्तु सब लोगों को मानसिक शिक्षा देने के इरादे से उन्हींसे ऐसे काम कराने की अधिक जरूरत है। क्योंकि यदि गवनर्नमेंट के अधिकारी ही इस तरह के काम करते रहेंगे तो औरों को उन्हें करने का मौका ही न मिलेगा। अतएव उनके मानसिक शिक्षण में बाधा आवेगी। यदि ऐसे काम उनको दिये जायँगे तो उनकी कार्यकारिणी शक्ति प्रबल हो उठेगी; वे उन्हें करना सीख जायँगे और उनके विषय में उनका ज्ञान भी बढ़ जायगा। राजकीय बातों से सम्बन्ध रखनेवाले मुकद्दमों को छोड़ कर और मुकद्दमों में पंचों से सहायता लेना, लोकल बोर्डों और म्यूनिसिपालिटियों को यथासम्भव स्वाधीनता-पूर्वक काम करने देना, और उदारता और उद्योग के बड़े काम करने के इरादे से सब लोगों को कम्पनियां खड़ी करने देना इत्यादि बातें इसी सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं। अर्थात् सब लोगों को मानसिक शिक्षा देने ही के लिए ये बातें की जाती हैं। इन बातों का सम्बन्ध स्वाधीनता से नहीं है, किन्तु सामाजिक सुधार या उन्नति से है। और, यदि, स्वधीनता से सम्बन्ध भी है तो बहुत दूर का है। जातीय शिक्षा का अंश समझ कर इन बातों का विवेचन इस लेख का उद्देश नहीं है; वह किसी और ही मौके पर शोभा देगा। तथापि यहां पर भी इस विषय में मैं अपने विचार, थोड़े में, प्रकट किये देता हूं। मेरी राय यह है कि इस तरह की शिक्षा देना मानो स्वाधीन देश के निवासियों को राजकीय विषयों की शिक्षा का रास्ता बतलाना है। आदमी का स्वभाव है कि वह अपने कुटुम्बवालों के ही स्वार्थ की तरफ अधिक नजर रखता है। अतएव राजकीय शिक्षा से उसकी यह आदत, थोड़ी बहुत, छूट जाती है; सार्वजनिक हित की बातों की तरफ उसका ध्यान खिंच जाता है; और उनकी व्यवस्था करने का उसे सबक सा मिलता है। इतना ही नहीं; किन्तु सार्वजनिक अथवा अर्द्ध-सार्वजनिक कारणों की प्रेरणा से काम करने की उसे आदत पड़ जाती है और जिन बातों को ध्यान

में रखने से लोग परस्पर एक दूसरे से अलग न होकर एक हो जाते हैं वे बातें उसकी समझ में आने लगती हैं। जिस देश के आदमियों में इस तरह के काम करने की आदत और शक्ति नहीं होती उस देश में स्वाधीन सामाजिक संस्था—स्वाधीन राजकीय सत्ता—का चलना असम्भव होता है। और, यदि, वह चलती भी है तो अच्छी तरह और बहुत दिनों तक नहीं चलती। उदाहरण के लिए उन देशों को देखिए जहां स्थानिक राजकीय काम करने का मौका सब लोगों को नहीं मिलता। अतएव होता क्या है कि यदि लोगों को राजकार्यविषयक स्वतंत्रता मिल भी जाती है तो वह बहुत दिन तक नहीं ठहरती। स्वतंत्रता-पूर्वक हर आदमी की बढ़ती होने, और अनेक तरह से अनेक आदमियों के द्वारा एक ही काम के किये जाने, से जो फायदे होते हैं उन का जिक्र इस लेख में आ चुका है। अपने स्थान, गांव, या शहर के राजकीय काम यदि सब लोग खुद करेंगे और कम्पनियां खड़ी करके, बहुत सा रुपया लगाकर, यदि वे बड़े बड़े व्यापार खुद करने लगेंगे, तो जिन फायदों का जिक्र ऊपर हो चुका है वे उन्हे जरूर होंगे। इसीसे बहुत आदमियों का मिल कर बनिज-व्यापार करना और स्थानिक कामों को खुद ही चलाना बहुत जरूरी बात है। गवर्नमेंट के जितने काम होते हैं उतने अकसर एक ही तरह के होते हैं; उनका सांचा—उनका नमूना—सब कहीं अकसर एक ही सा होता है। पर जो काम हर आदमी अलग अलग, या दस पांच आदमी मिलकर कम्पनी के रूप में, करते हैं उनके सांचे एक से नहीं होते। उनका तरीका हमेशा जुदा जुदा होता है। इसी से उनके तज-रुबे भी जुदा जुदा होते हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि उनके तजरुबों की—उनके अनुभवों की—हद ही नहीं होती। ऐसे तजरुबे हमेशा विचि-त्रता से भरे हुए होते हैं। अतएव सब लोगों को फायदा पहुँचाने के लिए गवर्नमेंट को चाहिए कि वह समाज, अर्थात् जन-समूह, की कोठी या अमानत-खाने का काम करे। अर्थात् जुदा जुदा आदमियों के जो जुदा जुदा तजरुबे हों वे उसके पास जमा रहें—उनकी खबर उसे मिलती रहे—और वह उन तजरुबों का सब लोगों में बराबर प्रचार करती रहे। उसका काम है कि हर तजरुबेकार को वह दूसरों के तजरुबों से फायदा पहुँचावे। उसे इस बात का कभी आग्रह न करना चाहिए कि जो रास्ता उसे पसन्द हो उसी पर सब लोग चलें।

तीसरा और सब से प्रबल आक्षेप यह है कि यदि गवर्नमेण्ट सब लोगों के काम-काज में दस्तंदाजी करने लगेगी तो उसकी सत्ता व्यर्थ बढ़ कर, बड़े बड़े अनर्थों का कारण होगी । इसलिए उसकी दस्तंदाजी को रोकने की बहुत बड़ी जरूरत है । जैसे जैसे गवर्नमेंट की सत्ता बढ़ती है, अर्थात् जो काम गवर्नमेंट कर रही है उन कामों की संख्या जैसे जैसे अधिक होती है, वैसे सब लोग अधिकाधिक गवर्नमेंट की आंखों से देखते हैं—वैसे ही वैसे वे उस पर और भी अधिक अवलंबित हो जाते हैं । इस दशा में लोगों की समझ अधिकाधिक यह हो जाती है कि हमको सुख, दुःख, भय और आशा आदि की देनेवाली सिर्फ एक हमारी गवर्नमेंट ही है, और कोई नहीं । वही जो चाहे करे । अतएव जो लोग अधिक महत्त्वाकांक्षी और उद्योगी होते हैं वे गवर्नमेंट के आश्रित बन जाते हैं—वे उसकी अधीनता स्वीकार करके उसकी नौकरी कर लेते हैं । सड़कें, रेल, बैंक, बीमे के दफ्तर, बहुत लोगों के मेल से बनी हुई कम्पनियां, विश्वविद्यालय और सब लोगों के फायदे के लिए स्थापित किये गये धार्मिक समाज यदि गवर्नमेंट के प्रबन्ध से चलने लगें; इसके सिवा, म्युनिसिपालिटी और लोकल बोर्ड जो काम करते हैं वह भी यदि गवर्नमेण्ट ही करने लगे; और इन सब महकमों और दफ्तरों इत्यादि में जो लोग काम करते हैं उनको नियत करना, उनकी तरक्की या तनज्जुली करना और उनको हर महीने तनख्वाह भी देना यदि गवर्नमेंट ही का काम हो जाय; तो अखबारों को चाहे जितनी स्वतंत्रता हो और कानून बनानेवाली कौंसिल में प्रजा के चाहे जितने प्रतिनिधि हों, वह देश सिर्फ नाम ही के लिए स्वतंत्र कहा जा सकेगा । ऐसे देश में राज्य-प्रबन्धरूपी यंत्र जितना अधिक सुव्यवस्थित और कौशल्य-पूर्ण, अर्थात् पेंचदार होगा—उसे चलाने के लिए खूब चतुर अधिकारी ढूंढ़ने की रीति जितनी अधिक निपुणतापूर्ण होगी—उतना ही अधिक अनर्थ होने की सम्भावना भी बढ़ेगी । कुछ दिन से इँगलैंड में इस बात पर विचार हो रहा है कि गवर्नमेण्ट के दीवानी महकमे में जितने आदमियों की जरूरत हो उतने प्रतियोगिता, अर्थात् चढ़ा-ऊपरी, की परीक्षा लेकर चुने जायँ । ऐसा करने से नौकरी के लिए सब से अधिक शिक्षित और बुद्धिमान लोग मिलेंगे । इस सूचना के अनुकूल भी बहुत कुछ चर्चा हुई है और प्रतिकूल भी । अर्थात् किसी किसी के मत में इस तरह की परीक्षा लेकर अधिकारियों के चुनने में

लाभ है और किसी किसी के मत में नहीं है। जो लोग इस सूचना के प्रतिकूल हैं उनकी दलीलों में सबसे अधिक मजबूत दलील यह है कि गवर्नमेंट के नौकरों को अच्छी तनख्वाह नहीं मिलती और उनके पद, अधिकार या जगह का माहात्म्य भी अधिक नहीं होता। इससे अत्यधिक गुणी, विद्वान् और बुद्धिमान लोग प्रतियोगिता की परीक्षा में शामिल न होंगे। किसी कम्पनी में नौकरी कर लेना अथवा खुद ही कोई व्यापार या व्यवसाय करना उनके लिए अधिक लाभदायक होगा। अतएव वे गवर्नमेंट की नौकरी की क्यों परवा करेंगे? जो लोग प्रतियोगिता की परीक्षा के प्रतिकूल हैं उनके मुख्य आक्षेप के उत्तर में यदि अनुकूल पक्षवाले यह दलील पेश करते तो कोई आश्चर्य की बात न थी। परन्तु आश्चर्य की बात इसलिए है कि प्रतिकूल पक्षवाले ऐसा कहते हैं। क्योंकि प्रतिकूल पक्षवालों की राय में चढ़ा-ऊपरी की परीक्षा से जो बात न होगी उसीके होने की अधिक सम्भावना है। जिस कल्पना को काम में लाने से देश की सारी बुद्धिमत्ता, सब कहीं से खिंच कर गवर्नमेंट के अधीन हो सकती हो उसे सुन कर दुःख होना चाहिए। यदि सभी बुद्धिमान आदमी लालच में आकर गवर्नमेंट की सेवा करने लगेंगे तो बात बहुत अनर्थकारक होगी। समाजके जिन कामों में सुव्यवस्था, दूरदर्शीपन, एका और गम्भीर विचारों की जरूरत होती है वे यदि गवर्नमेंट के हाथ में चले गये, और यदि प्रायः सभी तीव्र बुद्धि के आदमी गवर्नमेंट की नौकरी करने लगे तो, दो चार तत्त्वज्ञानियों को छोड़ कर, देश के सारे शिक्षासम्पन्न और विद्वान् आदमियों को, हर बात के लिए, उसी महकमे का मुँह ताकना पड़ेगा। जो कुछ वह कहेगा वही उन्हें करना पड़ेगा, और जो लोग चालाक और महत्त्वाकांक्षी होंगे उनको भी अपनी उन्नति के लिए—अपने स्वार्थ-साधन के लिए—उसीका आश्रय लेना पड़ेगा। इस सर्व-शक्तिसम्पन्न जन-समूह या महकमे में भरती होना, और, होने के बाद धीरे धीरे अपनी तरक्की करना ही सब लोगों की महत्त्वाकांक्षा की चरम सीमा हो जायगी। यदि इस तरह का कोई महकमा सचमुच ही बन जाय—यदि इस तरह की कोई व्यवस्था सचमुच ही हो जाय—तो और लोगों को किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय में तजरुबा हासिल करने का मौका ही न मिलेगा और इस जन-समूह के कार्यकर्ताओं के कामों की आलोचना करने, और प्रतिबन्धपूर्वक उसे एक मुनासिब हद के भीतर रखने, की उनमें शक्ति ही न रह

जायगी। इतना ही नहीं; किन्तु और भी अनर्थ होंगे। जहां ऐसी व्यवस्था होती है वहां किसी अन्याय-सङ्गत काम के सहसा हो जाने या मामूली तौर पर कोई कारण देख पड़ने से यदि राजा या राजसत्ताधारी कोई और व्यक्ति किसी तरह की उन्नति या सुधार भी करना चाहता है तो उसे कामयाबी नहीं होती। हां, यदि, कोई सुधार उस महकमेशाही के फायदे का हो तो बात दूसरी है। रूस के राज्यप्रबन्ध की यही दशा है। उसे याद करके दुःख होता है। जिन लोगों को वहां की राज्य-व्यवस्था की जाँच करने का मौका मिला है उनकी यही राय है। इस महकमेशाही के मुकाबिले में खुद रूस-नरेश, जार, भी कोई चीज नहीं हैं। उस बेचारे की कुछ भी नहीं चलती। अपने अधिकारियों में से—अपने मंत्रियों में से—जिसे वह चाहे उसे साइबेरिया के काले पानी को भेज सकता है। उसमें इतनी शक्ति जरूर है। परन्तु इन लोगों की इच्छा के विरुद्ध, या इनकी मदद के बिना, वह राज्य ही नहीं कर सकता—वह कोई काम ही नहीं कर सकता। जार के अधिकारी इतने प्रबल हैं कि वे यदि चाहें तो, जार की बात पर ध्यान ही न दें; यहां तक कि वे, यदि इच्छा करें तो, उसके हुक्म पर भी हरताल लगा दें। जो देश रूस की अपेक्षा अधिक सुधरे हुए हैं और जहां लोगों के मन में विद्रोह की वासना अधिक रहती है वहां, अधिकारियों की प्रबलता होने से, सब आदमियों की यह इच्छा रहती है कि उनके सारे काम गवर्नमेंट ही कर दे। अथवा, कम से कम, वे इतना जरूर चाहते हैं कि, पूछने पर, अपने सब काम करने के लिए उनको गवर्नमेंट अनुमति ही न दे; किन्तु वह यह भी बतलादे कि वे लोग उन सब कामों को किस तरह करें। अतएव यदि उन पर कभी कोई विपत्ति आती है तो उसके लिए वे अधिकारियों ही को जिम्मेदार समझते हैं। यदि कदाचित् आई हुई विपत्ति उन्हें असह्य हुई तो वे विद्रोह कर बैठते हैं और वर्तमान गवर्नमेंट के प्रतिकूल काम करते हैं। जब बात इस नौबत को पहुँच जाती है तब राजा या सत्ताधारी किसी और व्यक्ति को अपना आसन छोड़ना पड़ता है, उसकी जगह कोई और आदमी—चाहे उसे सब लोगों की तरफ से राज्य करने का अधिकार मिला हो चाहे न मिला हो—जा बैठता है। वह भी महकमेशाही के अधिकारियों पर हुक्म चलाने लगता है और सब बातें प्रायः पूर्ववत् होने लगती हैं। वह अधिकारी-मण्डली—वह महकमेशाही—जैसी की तैसी बनी रहती है, क्योंकि उसका काम करने की योग्यता ही और किसीमें नहीं रह जाती।

पर, अपना काम आप ही करने की आदत जिन लोगों की होती है उनकी स्थिति और ही तरह की होती है; उनमें और ही बातें देख पड़ती हैं। फ्रांस को देखिए। वहां बहुत से आदमी ऐसे हैं जिन्होंने फौज में नौकरी की है। उनमें से कितने ही ऐसे भी हैं जो उहदेदार रहे हैं; अतएव कोई सार्वजनिक दङ्गा, फसाद या विद्रोह होने पर अगुआ बनने, और लड़ाई छिड़ जाने पर उसकी व्यवस्था करने, के लायक कुछ लोग वहां जरूर पाये जाते हैं। जैसे लड़ाई के काम में फ्रांसवाले हमेशा तैयार रहते हैं वैसे ही मुल्की मामलों और उद्योग के कामों में अमेरिकावाले तैयार रहते हैं। यदि अमेरिका की गवर्नमेंट नष्ट हो जाय, और सब लोग बिना गवर्नमेंट के छोड़ दिये जायँ, तो वे लोग तुरन्त ही दूसरी गवर्नमेंट बना लें। उनमें से हर आदमी इस काम को योग्यता से कर सकता है। वे लोग किसी भी मुल्की मामले या सार्वजनिक उद्योग के काम को बुद्धिमानी, सुव्यवस्था और निश्चय से करने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। जिस देश के लोग स्वाधीन हैं—जो देश स्वतंत्र कहा जाता है—वहां आदमियों में इन बातों का होना बहुत जरूरी है। और जिन लोगों में ये गुण होंगे वे अवश्य ही स्वाधीन होंगे; वे कभी पराधीन होकर न रहेंगे। राज्यरूपी घोड़े की लगाम पकड़कर उसे अपने हाथ में रखनेवाले एक या अनेक आदमियों की गुलामी ये लोग कभी पसन्द न करेंगे। राज्यसूत्र को हाथ में रखने ही के कारण ये लोग अधिकारियों की पराधीनता कदापि बर्दाश्त करने के नहीं। ऐसे देश में कोई महकमेशाही या अधिकारी-मण्डली इस तरह के स्वतंत्र-स्वभाववाले आदमियों से कोई काम, उनकी इच्छा के विरुद्ध, नहीं करा सकती है और न कोई काम करने से उन्हें रोक ही सकती है। परन्तु जहां सब काम अधिकारियों ही के द्वारा होते हैं वहां उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे देश में जितने अनुभवशील और काम-काज करने लायक लोग होते हैं उन्हींका समुदाय राज्य की सारी व्यवस्था करता है; वही राज्य चलाता है; वही बाकी के सब आदमियों पर हुकूमत करता है। यह समुदाय जितना अधिक प्रबल होता है; उसकी की हुई व्यवस्था जितनी अधिक उत्तम होती है; समाज के सब वर्गों में से जितने अधिक लायक और बुद्धिमान आदमी नौकरी के लालच से इस समाज में शामिल होते हैं; और उसमें प्रवेश पाने के लिए जिस तरह की शिक्षा दरकार है

उस तरह की शिक्षा को लोग जितना अधिक प्राप्त करते हैं; पराधीनता की उतनी ही अधिक वृद्धि देश में होती है—उतना ही अधिक सब लोग गुलामी के पञ्जे में फँसते हैं। अधिकारी लोग भी इस फाँस से नहीं बचते; उनको भी गुलाम बनना पड़ता है। क्योंकि, जिस तरह, सब साधारण आदमी अधिकारी-मण्डल के दास होकर रहते हैं उसी तरह अधिकारियों को भी अपनी महकमेशाही के कायदे-कानून का दास होना पड़ता है। इस विषय में चीन का उदाहरण ध्यान में रखने लायक है। वहां के बहुत बड़े अधिकारी मन्दारिन कहलाते हैं। ये मन्दारिन और मामूली किसान, दोनों, वहां की राज्य-पद्धति के एक से गुलाम हैं। * जेसूइट लोगों ने जो पन्थ चलाया है उसे उन्होंने अपने फायदे—अपनी उन्नति—के लिए चलाया है। परन्तु इस पन्थ का प्रत्येक आदमी अपने ही बनाये हुए नियमों का सब से बड़ा दास हो गया है।

फिर, इस बात को भी न भूलना चाहिए कि यदि देश भर के बुद्धिमान, चतुर और योग्य आदमी गवर्नमेंट के नौकर हो जायँगे तो एक न एक दिन मानसिक ही नहीं, किन्तु शारीरिक उन्नति का भी ह्रास शुरू हो जायगा। जितने गवर्नमेण्ट के नौकर होते हैं वे किसी न किसी महकमे से जरूर सम्बन्ध रखते हैं। और सारे महकमे अपनी अपनी स्थिति के अनुसार बँधे-हुए नियमों के अनुसार काम करते हैं। इसका फल यह होता है कि अधिकारी और कर्म्मचारी लोग आलसी हो जाते हैं और एक मुद्दत के बने हुए रास्तों से जाने की उन्हें आदत हो जाती है। यदि कदाचित् गवर्नमेण्ट के महकमेशाही के किसी आदमी के सिर में कोई नई बात सूझी तो बाकी के सब लोग, कोल्हू के बैल की सी अपनी पुरानी राह छोड़कर, उस नई बात की तरफ

* क्रिश्चियन लोगों के रोमन कैथलिक पन्थ की यह एक शाखा है। सोलहवें शतक के प्रारंभ में इसे स्पेन के एक आदमी ने निकाला। पहले इस शाखा का बहुत आदर हुआ; पर पीछे से पोप महाराज इससे अप्रसन्न होगये। इस कारण इसकी बेहद अवनति हुई। पर यह शाखा अभी तक जीवित है। सेण्ट झेवियर नामक एक पादरी इस शाखा में बहुत प्रसिद्ध हुआ है। उसके नाम का एक कालेज बंबई में है। इस सम्प्रदायवाले बहुत मिताचारी और अकसर विद्वान् भी होते हैं। वे बहुधा विवाह नहीं करते।

दौड़ पड़ते हैं। पर वे उसे जांचने की तकलीफ नहीं उठाते कि वह ठीक है या नहीं। देखने में भिन्न, पर यथार्थ में, एक ही रास्ते से जानेवाले इन गवर्नमेण्ट के नौकरों को मानसिक और शारीरिक ह्रास से बचाने और उनकी बुद्धि को तेज बनाये रखने, का साधन सिर्फ यह है कि उनके काम काज की खूब अच्छी समालोचना करके उन्हें ठिकाने पर लाने के लिए देशमें महकमेशाही के बाहर स्वतंत्र स्वभाव के कुछ आदमी रहें। अतएव इस बात की बड़ी जरूरत है कि देश में ऐसे भी साधन रहें—ऐसे भी उद्योग, धंधे, कल, कारखाने इत्यादि खुलें—जो गवर्नमेण्ट के मुहताज न हों। इससे क्या होगा कि जो लोग उनसे सम्बन्ध रक्खेंगे उनको बड़े बड़े कामों के गुण-दोष समझने का मौका मिलेगा और इनका तजरुबा भी बढ़ेगा। उन लोगों की बुद्धि में तेजी आजायगी और वे गवर्नमेण्ट के अधिकारियों के काम की खूब अच्छी समालोचना कर सकेंगे। यदि किसी की यह इच्छा हो कि गवर्नमेण्ट के अधिकारी होशियार और लायक हों, नई नई उपयोगी बातों को निकाल सकें, और दूसरों की बतलाई हुई उन्नतिशील युक्तियों को मान भी लें; अथवा यदि कोई यह चाहे कि गवर्नमेण्ट के अधिकारियों और कर्म्मचारियों का महकमा सिर्फ पण्डितमानी या विद्यादाम्भिक आदमियों का समूह न बन जाय; तो उसे चाहिये कि जिन व्यवसायों को—जिन उद्योगों को—करने से मनुष्य-जाति पर हुकूमत करने के योग्य गुण प्राप्त होते हैं उन सब को वह गवर्नमेंण्ट के अधिकार में न जाने दे।

आदमी की स्वतंत्रता और उन्नति को बहुत बड़ी बाधा पहुंचानेवाली अनेक आपदायें हैं—अनेक अनिष्ट हैं—अनेक विघ्न हैं। परन्तु इन आपदाओं का आरम्भ कब होता है, यह एक प्रश्न है। और राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाले जितने विशेष जटिल और मुशकिल प्रश्न हैं उन्हींमें से एक यह भी है। इसी प्रश्न को लोग दूसरी रीति से भी पूछ सकते हैं—अर्थात् अपने सुख के बाधक विघ्नों को दूर करने के लिए समाज, अपने मुखिया मनुष्यों के समुदाय के रूप में, जो गवर्नमेण्ट (अर्थात् राजसभा) नियत करता है उससे होनेवाले हित की अपेक्षा अनहित की मात्रा कब अधिक होने लगती है, इस प्रश्न का उत्तर देना मानो इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करना है कि देश में जितने बुद्धिमान, सुशिक्षित और चतुर आदमी हों उनमें से मतलब से अधिक आदमियों को गवर्नमेण्ट के अधीन न होने देकर, उन सब की

एकीभूत बुद्धि चतुरता और शक्ति से जितना हो सके उतना अधिक फायदा उठाना चाहिए। यह एक ऐसा प्रश्न है कि इसका उत्तर देने में अनेक छोटी छोटी बातों पर विचार करना पड़ता है और उसके अनेक छोटे छोटे भेदोंको भी ध्यान में रखना पड़ता है। अतएव इस सम्बन्ध में कोई सर्व-व्यापक नियम नहीं किया जा सकता। परन्तु मेरी समझ में जिस व्यावहारिक बात का जिक्र मैं करने जाता हूं उसे ध्यान में रखने से—उसका अनुकरण करने से—आये हुए विघ्न और अनिष्ट दूर हो जायँगे। उस के अनुसार काम करने से आपदाओं से रक्षा होगी। उसे आदर्श मान कर सामने रखने से अहित होने का डर न रहेगा और सब काम व्यवस्थित रीति से चला जायगा। वह तत्त्व यह है कि राजसत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला अधिकार, जहां तक हो सके, अधिक आदमियों में बांट देना चाहिए। पर ऐसा करने में इस बात का खयाल रखना चाहिए कि अधिकारियों को अपना कर्तव्य पूरा करने में किसी तरह की बाधा न आवे—अर्थात् अपना अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए उन लोगों के पास जो अधिकार और साधन हों उनमें कमी न होने पावे। एक बात यह और होनी चाहिए कि, जहां तक हो, राज्य-विषयक सारी बातें एक मुख्य अधिकारी के पास पहुँचें और उसके पास से और लोगों को वे प्राप्त हो सकें। उदाहरण के लिए अमेरिका के न्यू इँग्लैण्ड नामक सूबे को देखिए। वहां की म्यूनिसिपालिटी का प्रबन्ध बहुत अच्छा और नमूनेदार है। जहां म्यूनिसिपालिटी होती है वहांवाले अपनी तरफ से मेम्बर चुनते हैं और उनको सब काम, थोड़ा थोड़ा बाँट देते हैं। वह काम मेम्बरों और कर्म्मचारियों ही पर नहीं छोड़ दिया जाता। हर एक महकमें में देखभाल करनेवाला एक दफ्तर अलग होता है। इस दफ्तर का मुख्य अधिकारी सब म्यूनिसिपालिटियों के कायदे नियम और रदबदल इत्यादि बातों से सम्बन्ध रखनेवाले कागजात अपने दफ्तर में रखता है। दूसरे देशों की म्यूनीसिपालिटियों में जानने लायक जितने रद-बदल होते हैं उनकी भी वह खबर रखता है। यही नहीं, किन्तु राजनीति-शास्त्र के मामूली सिद्धांतों से भी वह अपना परिचय बनाये रखता है। देशभर में जितनी म्यूनिसिपालिटियां होती हैं उनके दफ्तरों की जांच करने, और जो कुछ उनमें होता है उसे जानने, का इस अफसर को पूरा अधिकार रहता है। जो बातें सब लोगों के

जानने लायक होती हैं उनको उसे देशभर में फैलाना भी पड़ता है। इस बात की जिम्मेदारी उसके सिर रहती है। हर जगह हर दफ्तर का जो अधिकारी होता है उसे स्थानिक कारणों से, किसी किसी बात में, अनुचित आग्रह हो जाता है; अथवा उसकी राय संकुचित होजाती है। पर सब से बड़े दफ्तर के प्रधान अधिकारी का पद और अधिकारियों के पद से ऊंचा होता है। औरों की अपेक्षा बहुत अधिक बातें भी उसे सुनने को मिलती हैं। अतएव वह किसी विषय में अनुचित आग्रह नहीं करता और न उसकी राय ही संकुचित होती है। इससे उसकी सूचनाओं को लाभदायक और मान्य समझ कर नीचे दरजे के सब अधिकारी खुशी से कुबूल करते हैं। परन्तु ऐसे मुख्य अधिकारी का अधिकार इतना बढ़ा चढ़ा हुआ न होना चाहिए कि उसके बल पर जो काम वह कराना चाहे उसे वह जबरदस्ती करा सके। बलप्रयोग का अधिकार—किसीको लाचार करने का अधिकार—उसे मिलना मुनासिब नहीं। इस विषय में उसको सिर्फ इतना ही अधिकार होना चाहिए कि म्यूनिसिपालिटी के सम्बन्ध में जितने कायदे-कानून बनाये गये हों उनकी तामील वह और अधिकारियों से करा सके। पर जिन बातों के विषय में कोई कायदे नहीं बनाये गये उन्हें करना या न करना उसे अधिकारियोंही की मर्जी पर छोड़ देना चाहिए। उनके लिए वही जिम्मेदार हैं। जिन लोगों ने यथानियम अधिकारियों को चुना है वे खुद ही ऐसे मामलों की देखभाल कर लेंगे। जो जनसमुदाय, या जो कौन्सिल, कानून बनाती है उसे चाहिए कि वह म्यूनिसिपालिटी से सम्बन्ध रखनेवाले कानून भी बनावे और यदि कोई उन्हें अमल में न लावे, या किसी प्रकार उनको भङ्ग करे, उसे वह सजा भी दे। मुख्य अधिकारी का काम यह देखने का है कि सब कर्म्मचारी कानून के अनुसार अपना अपना काम करते हैं या नहीं। यदि वह देखे कि कोई कर्म्मचारी कानून को अमल में नहीं लाता है, या उस के किसी अंश को वह भङ्ग करता है तो अपराध के गौरव-लाघव का विचार करके, उस कर्म्मचारी को सजा दिलाने के इरादे से या तो वह मैजिस्ट्रेट से प्रार्थना करे, या जिन लोगों ने उस कर्म्मचारी को रक्खा हो उनसे, उसे निकाल देने के लिए, वह सिफारिश करे। इस देश में गरीब आदमियों के पालन-पोषण के विषय में एक कानून है। यह कानून मुनासिब तौर पर अमल में लाया जाता है या नहीं—इस बात की देखभाल करने के लिए एक व्यवस्थापक सभा है।

इस सभा को जो अधिकार मिले हैं वे उसी तरह के हैं जिस तरह के अधिकारों का वर्णन यहां पर मैंने किया है। गरीब आदमियों के फण्ड, अर्थात् चन्दे की व्यवस्था करने के लिए जो कर्म्मचारी नियत हैं उनपर अच्छी तरह देखभाल रखना इस सभा का काम है। इस सभा को कुछ अधिकार इससे भी अधिक मिले हैं। परन्तु इसका कारण यह है कि, यहां गरीबों के पालन पोषण के विषय में, कहीं कहीं, अधिक अव्यवस्था हो गई थी और वह खूब मजबूत होगई थी—उसने जड़ पकड़ ली थी। मुफ्तखोर कंगलों की संख्या इतनी बढ़ गई थी कि उनसे किसी एक ही जगह, या शहर, के आदमियों को तकलीफ न होती थी; किन्तु ये कंगले आसपास के गावों तक में पहुँच जाते थे और सब लोगों को तंग करते थे। किसी शहर, कसबे या गांव की म्युनिसिपालिटी को यह अधिकार नहीं है कि अपने कर्म्मचारियों की अव्यवस्था या बदइन्तजामी से वह कंगलों को दूसरे शहर या गांव में फैल जाने दे और उनके द्वारा वहांवालों की भी तकलीफ का वह कारण हो। अतएव इस अनाचार—इस अव्यवस्था—को रोकने, और कंगालखानों के पास-पड़ोस के मजदूर आदमियों की नीति को बिगड़ने से बचाने, के लिए यहां की व्यवस्थापक सभा को कुछ अधिक अधिकार देने की जरूरत पड़ी। विशेष व्यापक कानून बनाने और अपराधियों को दूर तक दमन करने की जो शक्ति इस देश की व्यवस्थापक सभा को मिली है वह सर्वथा न्याय्य है; क्योंकि देशभर के हिताहित से उसका सम्बन्ध है। परन्तु सब लोगों की राय इस बढ़ी हुई शक्ति के अनुकूल नहीं है। इससे यह सभा अपनी इस शक्ति को कम काम में लाती है। परन्तु उसके न्यायसङ्गत होने में कोई सन्देह नहीं है। हां यदि, किसी एक ही आध शहर या गाँव को कंगलों के उपद्रव से बचाने के लिए यह शक्ति दीगई होती तो बात दूसरी थी। मेरी राय में हर महकमे के लिए एक ऐसे दफ्तर की जरूरत है जिस में उस महकमे के सब दफ्तरों की रिपोर्टें पहुँचा करें और जहांसे और लोगों को उस महकमेसे सम्बन्ध रखनेवाली सब बातें मालूम हो जाया करें। गवर्नमेण्ट को चाहिए कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिसमें हर आदमी को अपना काम उद्योग और उत्साहपूर्वक करने की उत्तेजना मिले। कोई बात ऐसी न हो जिस में किसी के उद्योग और उत्साह की वृद्धि में किसी तरह का विघ्न आवे। इस बात का जितना अधिक खयाल गवर्नमेण्ट रक्खे उतना थोड़ा ही समझना चाहिए। यदि जुदा

जुदा हर आदमी के, या अनेक आदमियों के, समुदाय के उद्योग और बल को उत्साह देने के बदले गवर्नमेण्ट खुद ही अपने उद्योग को बढ़ाने लगे; अथवा यदि उन लोगों को सब बातें बतलाने, सलाह देने और उनसे कोई भूल हो जाने पर उसे उनके गले उतार देने के बदले, हथकड़ी और बेड़ी के जोर पर वह उनसे जबरदस्ती काम लेने लगे; अथवा यदि उनको एक तरफ हटा कर अर्थात् उनकी परवा न करके—उनको तुच्छ समझकर—उनका काम गवर्नमेंट खुद ही करने लगे, समझना चाहिए कि उसने अपने अधिकार की सीमा का उल्लंघन किया। अतएव यह निश्चित जानना चाहिए कि उसी समय से अनर्थ का आरम्भ हुआ। किसी देश—किसी राज्य—की कीमत या योग्यता उन लोगों की कीमत या योग्यता पर अवलम्बित रहती है जो उस देश में रहते हैं। अर्थात् प्रजा जितनी ही अधिक योग्य और सुशिक्षित होगी राज्य-व्यवस्था भी उतनी ही उत्तम, दृढ़ और बलवती होगी। अतएव जो गवर्नमेंट प्रजा की मानसिक वृद्धि और यथेष्ट उन्नति की तरफ पूरा ध्यान न देकर प्रजा की छोटी बातों में सिर्फ इस लिए दखल देती है जिसमें वे बातें कुछ अधिक योग्यता से की जायँ, अथवा अनुभव के आधार पर बनाये गये काम-काज करने के नियमों के अनुसार ही लोग उन्हें करें, उसे पीछे से अफसोस होता है। जो गवर्नमेंट प्रजा की मानसिक वृद्धि की तरफ दुर्लक्ष्य करती है और उसे अपना गुलाम समझकर इस लिए दुर्बल कर देती है जिसमें वह गवर्नमेंट की आज्ञा के अनुसार सारे काम—फिर चाहे वे प्रजा के फायदेही के लिए क्यों न हों—चुप चाप किया करे उसे, कुछ दिनों में यह बात अच्छी तरह मालूम हो जायगी कि छोटे आदमियों से—अर्थात् जिन में बहुत थोड़ी बुद्धि है उनसे—बड़े बड़े काम कभी नहीं हो सकते। उसके ध्यान में यह बात भी आजायगी कि जिस राज्यरूपी पेंच को अच्छी तरह चलाने—जिस महकमेशाहीरूपी यंत्र को सफाई से जारी रखने—के लिए उसने प्रजा का इतना नुकसान किया वह यंत्र अब अधिक दिन तक नहीं चल सकता। क्योंकि जब प्रजा की बुद्धि, उद्योगशीलता और शक्ति का सर्वथा ह्रास ही हो जायगा तब उस यंत्र को चलावेगा कौन ? अतएव वह जरूर ही बन्द हो जायगा।

गल्पें ।

+ दियातले अँधेरा -)॥
+ सदाचारी बालक =)
+ श्रमण नारद =)
+ सुखदास ॥=)

काव्य ।

+ बूढ़ेका ब्याह ।=)
+ अंजना-पवनंजय =)॥
+ देवदूत ।=)

जीवन-चरित ।

आत्मोद्धार १)
+ कर्नल सुरेश विश्वास ॥)
+ कोलम्बस ।॥)
काबूर १)
महादजी सिन्धिया ।॥=)

इतिहास ।

आयर्लैण्डका इतिहास १।॥=)
+ जैनसाहित्यका इतिहास ।=)
+ भारतके प्राचीन राजवंश ३)

नीति और सदाचार ।

मितव्ययता ।॥≡)
चरित्रगठन और मनोबल ।)
सफलता और उसकी साधनाके उपाय ।॥)
स्वावलम्बन १॥)
+ अस्तोदय और स्वावलम्बन १=)
आनन्दकी पगडंडियाँ १)
+ जीवननिर्वाह १)
+ अच्छी आदतें डालनेकी शिक्षा =)॥
+ युवाओंको उपदेश ॥-)
+ पिताके उपदेश =)
+ शान्ति-वैभव ।-)
+ बच्चोंके सुधारनेके उपाय ॥)
+ विद्यार्थि-जीवनका उद्देश्य -)

स्त्रियोपयोगी ।

+ ब्याही बहू ।)॥
+ विधवा-कर्तव्य ॥)

राजनीति-विज्ञान ।

स्वाधीनता २)
साम्यवाद २॥)
देश-दर्शन ३)
स्वदेश ॥=)
राजा और प्रजा (जिल्द०) १।=)

चिकित्सा-विज्ञान ।

उपवास-चिकित्सा ।॥)
+ प्राकृतिक-चिकित्सा ।=)
+ योग-चिकित्सा =)
+ सुगम चिकित्सा =)
+ दुग्ध-चिकित्सा =)

प्रकीर्णक ।

चौबेका चिट्ठा ।॥=)
गोबर-गणेश-संहिता ।॥-)
बंकिम-निबन्धावली ।॥=)
+ लन्दनके पत्र ≡)
छाया-दर्शन १।)
शिक्षा ॥-)
+ व्यापार-शिक्षा ॥-)
सरल मनोविज्ञान १॥)

यह मूल्य सादी जिल्दका है । कपड़ेकी जिल्ददार पुस्तकोंका मूल्य ।) ।=) ॥) अधिक है । हमारा पूरा पता—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगांव, **बम्बई ।**